हिंदी साहित्य

हिंदी साहित्य

अर्थात्

हिंदी साहित्य के भिन्न भिन्न कालों का इत्तिवृत्त,
उन कालो की राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक,
साहित्यिक परिस्थिति तथा उनके मुख्य
मुख्य निर्माताओं का वर्णन

लेखक
श्यामसुंदरदास, डी० लिट्०

प्रकाशक
इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग
१९४४
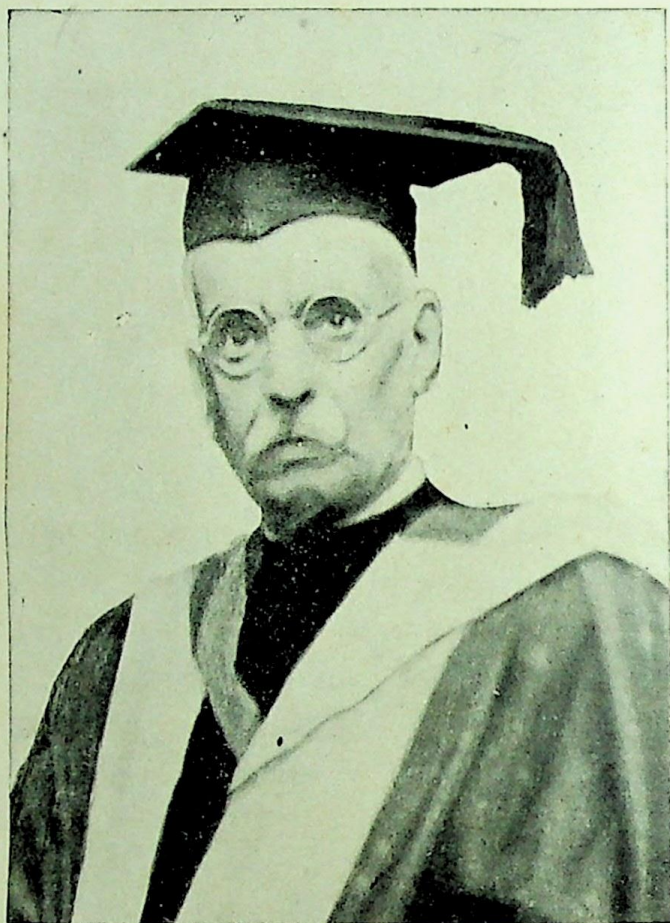
श्यामसुंदरदास, डी० लिट्०

निवेदन

यह हिंदी साहित्य का परिवर्द्धित और परिमार्जित संस्करण है। पहले की दो आवृत्तियों में यह हिंदी भाषा और साहित्य के नाम से प्रकाशित हुआ था। पर अब यह स्वतंत्र रूप में प्रकाशित होता है। पहले की आवृत्तियों से इस संस्करण में अनेक अंतर हैं, यद्यपि मूल आकार पूर्ववत् ही है। इसका उद्देश्य पहले से यह था कि भिन्न भिन्न काल की मूल वृत्तियों का वर्णन किया जाय। जिस काल में जैसी राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक परिस्थिति थी उसके वर्णन के साथ उस काल के मुख्य मुख्य प्रवर्तक कवियों का वर्णन भी रहे। यह अंश ज्यों का त्यों है। कवियों के विषय में जो नए अनुसंधान हुए हैं उनके आधार पर साहित्यिक स्थिति के वर्णन में आवश्यक परिवर्तन किए गए हैं और कवियों की कविता के नमूने भी दिए गए हैं। इस अंश में विशेष परिवर्तन है। भिन्न भिन्न विश्वविद्यालयों में विद्यार्थियों ने एम० ए०, पी-एच० डी० और डी० लिट्० की परीक्षाओं के लिये जो अनेक थीसिस लिखे हैं और जिनके देखने का मुझे अवसर मिला है उनमें से आवश्यक सामग्री मैंने इस संस्करण में सम्मिलित की है। अतएव इन सभी महाशयों का मैं अनुगृहीत हूँ। सब सामग्री के ठीक ठीक उपयोग करने में मेरे प्रिय शिष्य पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव एम०ए० ने जो मेरी सहायता की है उसके लिये मैं उनको अनेक धन्यवाद देता हूँ। उनकी सहायता के बिना इस संस्करण का प्रस्तुत होना कठिन था।

काशी
३०-६-४४

श्यामसुंदरदास

अध्यायों की सूची

पहला अध्याय

दूसरा अध्याय

तीसरा अध्याय

चौथा अध्याय

(पृष्ठ ९९—१६०)

वीरगाथा काल—[हिंदी साहित्य का आरंभ, ग्रंथों का अभाव, ग्रंथों में प्रक्षेप, राजनीतिक स्थिति, सामाजिक स्थिति, स्थिति के अनुरूप साहित्य, राजाश्रय और उसका परिणाम, युद्ध की साहित्यिक प्रगति, प्रबंध काव्य, गीत काव्य, वीसलदेवरासो, आल्हखंड, खुसरो, प्रगति, वीर गाथाओं का द्वितीय उत्थान, भूषण, लाल, आधुनिक समय की वीर कविताएँ ।]

पाँचवाँ अध्याय

(पृष्ठ १६१—१७७)

योग-धारा—[धार्मिक लहर, वज्रयान, योगमार्ग, योग-मार्ग और निर्गुण में भेद, योगधारा, मछंदर और गोरख, जालंधर, कणेरी आदि, चर्पट, बालानाथ, धूँधलीमल, पृथ्वीनाथ ।]

छठा अध्याय

(पृष्ठ १७८—२१०)

भक्तिकाल की ज्ञानाश्रयी शाखा—[भक्ति-प्रवाह, विद्यापति, ज्ञानाश्रयी संत, प्रेममार्गी संत, कृष्णभक्त कवि, रामभक्त कवि, कबीर आदि के आविर्भाव काल की परिस्थिति, सामाजिक उदारता, धार्मिक सिद्धांत, व्यावहारिक सिद्धांत, अलोकोपयोगी प्रवृत्ति, रहस्यवाद, साहित्यिक समीक्षा, कबीर, नानकदेव, दादूदयाल, मलूकदास, सुंदरदास ।]

सातवाँ अध्याय

(पृष्ठ २११—२४०)

प्रेममार्गी भक्ति शाखा—[आविर्भाव काल, सूफियों की परंपरा, सूफियों की भारतीयता, प्रस्तुत में अप्रस्तुत, वस्तुवर्णन और भावव्यंजन, मत और सिद्धांत, रहस्यवाद, छंद और अलंकार, भाषा, कुतबन, मंझन, मलिक मुहम्मद जायसी, उसमान, उपसंहार ।]

आठवाँ अध्याय

(पृष्ठ २४१—२७०)

रामभक्ति शाखा—[रामभक्ति की उत्पत्ति और विकास, रामानंदी संप्रदाय, रामानंद की शिष्यपरंपरा, तुलसीदास की जीवनी का अनुसंधान, उनका जीवनचरित, रामचरितमानस और विनयपत्रिका, मृत्यु, गोस्वामीजी का भारतीय जन-समाज पर प्रभाव, उसके कारण—(१) अध्ययन, (२) उदारता और सारग्राहिता, (३) अनेक ग्रंथ, (४) रामचरित की व्यापकता, (५) आंतरिक अनुभूति, (६) स्वतंत्र उद्भावना, भाषा और काव्य-शैली, उपसंहार, नाभादास, प्राणचंद और हृदयराम, विश्वनाथसिंह और रघुराजसिंह, मैथिलीशरण ।]

नवाँ अध्याय

(पृष्ठ २७१—३०६)

कृष्णभक्ति शाखा—[कृष्णभक्ति की उत्पत्ति और विकास, विद्यापति और मीरा, अष्टछाप और आचार्य वल्लभ, सूरदास, नंददास, परमानंददास, कुंभनदास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास, हितहरिवंश, हरिदास, रसखान, पीछे के कृष्णभक्त, कृष्णभक्ति काल की अन्य रचनाएँ, रहीम, गंग और नरहरि, बीरबल और टोडर, सेनापति ।]

दसवाँ अध्याय

(पृष्ठ ३०७—३५६)

रीति काल—[भक्ति और रीति, रीति काल का आरंभ, रीति काल की भाषा, साहित्यिक समीक्षा, आचार्यत्व, संस्कृत साहित्यशास्त्र की समीक्षा, रस-संप्रदाय, अलंकार-संप्रदाय, रीति-संप्रदाय, वक्रोक्ति-संप्रदाय, ध्वनि-संप्रदाय, हिंदी में रीति, केशवदास, केशवदास के ग्रंथ तथा टीकाकार, केशव की कला, प्रकृति-चित्रण, संस्कृत का प्रभाव, केशव के अलंकार, केशव की भाषा, केशव का आचार्यत्व, त्रिपाठी-बंधु, मतिराम, बिहारी,

ग्यारहवाँ अध्याय

बारहवाँ अध्याय

तेरहवाँ अध्याय

अनुक्रमणिका

———

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश

साहित्य की मूल मनोवृत्तियाँ

मनुष्य मात्र की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपने भावों तथा विचारों को दूसरों पर प्रकट करे और स्वयं बड़ी उत्सुकता से दूसरे के भावों और विचारों को सुने और समझे। वह अपनी कल्पना की सहायता से ईश्वर, जीव तथा जगत् के विविध विषयों के संबंध में कितनी ही बातें सोचता है तथा वाणी के द्वारा उन्हें व्यक्त करने की चेष्टा करता है। वाणी का वरदान उसे चिर काल से प्राप्त है और उसका उपयोग भी वह चिरकाल से करता आ रहा है। प्रेम, दया, करुणा, द्वेष, घृणा तथा क्रोध आदि मानसिक वृत्तियों का अभिव्यंजन तो मानव समाज अत्यंत प्राचीन काल से करता ही है, साथ ही प्रकृति के नाना रूपों से उद्भूत अपने मनोविकारों तथा जीवन की अन्यान्य परिस्थितियों के संबंध में अपने अनुभवों को व्यक्त करने में भी उसे एक प्रकार का संतोष, तृप्ति अथवा आनंद प्राप्त होता है। यह सत्य है कि सब मनुष्यों में न तो अभिव्यंजन की शक्ति एक-सी होती है और न सब मनुष्यों के अनुभवों की मात्रा तथा विचारों की गंभीरता ही एक-सी होती है, परंतु साधारणतः यह प्रवृत्ति प्रत्येक मनुष्य में पाई जाती है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति की प्रेरणा से ज्ञान और आनंद के उस भांडार का सृजन, संचय और संवर्द्धन होता है जिसे हम साहित्य कहते हैं।

साहित्य के मूल में स्थित इन मनोवृत्तियों के अतिरिक्त एक दूसरी प्रवृत्ति भी है जो सभ्य मानव-समाज में सर्वत्र पाई जाती है और जिससे साहित्य में एक अलौकिक चमत्कार तथा मनोहारिता आ जाती है। इसे हम सौंदर्य-प्रियता की भावना कह सकते हैं। सौंदर्य-प्रियता की भावना ही शुद्ध साहित्य को एक ओर तो जटिल और नीरस दार्शनिक तत्त्वों से अलग करती तथा दूसरी ओर उसे मानव मात्र के लिये आकर्षक बना देती है। जैसे सब मनुष्यों में मनोवृत्तियों की मात्रा एक सी नहीं होती वैसे ही सौंदर्य-प्रियता की भावना उनमें समान रूप से विकसित नहीं होती; सभ्यता तथा संस्कृति के अनुसार भिन्न भिन्न मनुष्यों में उसके भिन्न भिन्न स्वरूप हो जाते हैं। परंतु इसका यह आशय नहीं कि हम प्रयत्न करके किसी देश अथवा काल के साहित्य में उपर्युक्त भावना की न्यूनता अथवा अधिकता का पता नहीं लगा सकते या उसके विभिन्न स्वरूपों को समझ नहीं सकते।

भावपक्ष तथा कलापक्ष

इस प्रकार एक ओर तो हम अपने भावों, विचारों, आकांक्षाओं तथा कल्पनाओं का अभिव्यंजन करते हैं और दूसरी ओर अपने सौंदर्यज्ञान के सहारे उन्हें सुंदरतम बनाते तथा उनमें एक अद्भुत आकर्षण का आविर्भाव करते हैं। इन्हीं दो मूल तत्त्वों के आधार पर साहित्य के दो पक्ष हो जाते हैं जिन्हें हम भावपक्ष तथा कलापक्ष कहते हैं। यद्यपि साहित्य के इन दोनों पक्षों में बड़ा घनिष्ठ संबंध है और दोनों के समुचित संयोग और सामंजस्य से ही साहित्य को स्थायित्व मिलता तथा उसका सच्चा स्वरूप उपस्थित होता है, तथापि साधारण विवेचन के लिये ये दोनों पक्ष अलग अलग माने जा सकते हैं और इन पर भिन्न भिन्न दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। साहित्य के विकास के साथ उसके दोनों पक्षों

का विकास भी होता जाता है, पर उनमें समन्वय नहीं बना रहता। तात्पर्य यह कि दोनों पक्षों का समान रूप से विकास होना आवश्यक नहीं है। किसी युग में भावपक्ष की प्रधानता और कलापक्ष की न्यूनता तथा किसी दूसरे युग में इसके विपरीत परिस्थिति हो जाती है। इसलिये साहित्य के इन दोनों अंगों का अलग अलग विवेचन करना केवल आवश्यक ही नहीं, वरन् कभी कभी अनिवार्य भी हो जाता है।

साहित्य के इन दोनों अंगों में से उसके भावात्मक अंग की अपेक्षाकृत प्रधानता मानी जाती है और कलापक्ष को गौण स्थान दिया जाता है। सच तो यह है कि साहित्य में भावपक्ष ही सब कुछ है, कलापक्ष उसका सहायक तथा उत्कर्षवर्धक मात्र है। साथ ही भावपक्ष पर विचार करना भी अपेक्षाकृत जटिल तथा दुरूह है; क्योंकि मनुष्य की मनोवृत्तियाँ जटिल तथा दुरूह हुआ करती हैं, उनमें शृंखला तथा नियम ढूँढ़ निकालना सरल काम नहीं होता। मनुष्य के भाव और विचार तथा उसकी कल्पनाएँ भी बड़ी विचित्र तथा अनोखी हुआ करती हैं। साहित्य मनुष्य के इन्हीं विचित्र और अनोखे भावों, विचारों तथा कल्पनाओं आदि का व्यक्त स्वरूप है, अतः उसमें भी मानव-स्वभाव-सुलभ सभी विशेषताएँ होती हैं। साहित्य में जो विचित्रता तथा अनेकरूपता दिखाई देती है उसके मूल में मानव-स्वभाव की विचित्रता तथा अनेकरूपता है। हम स्वयं देखते हैं कि हमारी प्रवृत्ति सदा एक सी नहीं रहती। कभी तो हम अनेक अनोखी कल्पनाएँ किया करते हैं और कभी बहुत से साधारण विचार हमारे मन में उठते हैं; कभी हम बातचीत करते हैं और कभी कथा-कहानी कहते हैं; कभी हम जीवन के जटिल तथा गंभीर प्रश्नों पर विचार करते हैं और कभी उसके सरल मनोरंजक स्वरूप की व्याख्या करते हैं; कभी हम आत्म-

भावपक्ष

चिंतन में लीन रहते हैं और कभी हमारी दृष्टि समाज अथवा बाह्य जगत् पर आ जमती है। सारांश यह कि हमारी प्रवृत्ति सदा एक-सी नहीं रहती। प्रवृत्तियों की इसी अनेकरूपता के कारण साहित्य में भी अनेकरूपता दिखाई देती है। कविता, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका, निबंध आदि जो साहित्य के विभिन्न अंग हैं और इन मुख्य मुख्य अंगों के भी जो अनेक उपांग हैं, उसका कारण यही है कि मनुष्य की मनोवृत्तियों के भी अनेक अंग और उपांग होते हैं तथा उनकी भी विभिन्न श्रेणियाँ होती हैं। इन अंगों, उपांगों एवं श्रेणियों के होते हुए भी मानव-स्वभाव के मूल में भावात्मक साम्य होता है, अतएव साहित्य में भी अनेकरूपता के होते हुए भी भावना-मूलक समता दिखाई देती है और इसी समता पर लक्ष्य रखते हुए हम साहित्य के इस पक्ष का विवेचन करते हैं।

कलापक्ष

जिस प्रकार मनुष्यों में अपने भावों तथा विचारों को व्यक्त करने की स्वाभाविक इच्छा होती है उसी प्रकार उन भावों तथा विचारों को सुंदरतम शृंखलाबद्ध तथा चमत्कार-पूर्ण बनाने की अभिलाषा भी उनमें होती है। यही अभिलाषा साहित्य-कला के मूल में रहती है और इसी की प्रेरणा से स्थूल, नीरस तथा विशृंखल विचारों को सूक्ष्म, सरस और शृंखलाबद्ध साहित्यिक स्वरूप प्राप्त होता है। भावों के अभिव्यंजन का साधन भाषा है और भाषा के आधार शब्द हैं जो वाक्यों में पिरोए जाने पर अपनी सार्थकता प्रदर्शित करते हैं। अतः शब्दों तथा वाक्यों का निरंतर संस्कार करते रहने एवं उपयुक्त रीति से उनका प्रयोग करने से ही अधिक से अधिक प्रभावोत्पादकता आ सकती है। इसके अतिरिक्त प्रचलित लोकोक्तियों का समुचित प्रयोग तथा भाव-व्यंजन की अनेक आलंकारिक प्रणालियों का उपयोग भी साहित्य-ग्रंथों की एक विशेषता

है। कविता में भावों के उपयुक्त मनोहर छंदों का प्रयोग तो चिरकाल से होता आ रहा है और नित्य नवीन छंदों का निर्माण भी साहित्य के कलापक्ष की पुष्टि करता है। भाषा की गति या प्रवाह, वाक्यों का समीकरण, शब्दों की लाक्षणिक तथा व्यंजनामूलक शक्तियों का अधिकाधिक प्रयोग ही साहित्य के कलापक्ष के विकास की सीढ़ियाँ हैं, इस विषय का विस्तृत विवरण रीति-ग्रंथों में मिलता है। संकुचित अर्थ में इसको साहित्य-शास्त्र कहा गया है।

इस प्रकार साहित्य के भाव और कला पक्षों का विवेचन करके हम उसके तथ्य को समझ सकते हैं और यह जान सकते हैं कि

विश्व-साहित्य

साहित्य मनुष्य मात्र के लिये स्वाभाविक है और अपने इस स्वरूप में वह देश और काल की सीमा से बद्ध नहीं है। साहित्य का आधार है भाव, और भाव सम्पूर्ण मानव जगत् की सामान्य निधि हैं। किसी भी देश, जाति अथवा काल के मनुष्यों के हृदय में प्रेम, उत्साह, करुणा, क्रोध आदि नाना भावों का उदय सदा एक सा ही होता है। उन भावों के व्यक्त करने के प्रकार अर्थात् भाषा, शैली और परिस्थिति की भिन्नता के कारण उनकी अनुभूति के स्वरूप में कोई अंतर नहीं पड़ सकता। अनुभूति की इस व्यापक एकरूपता के आधार पर यदि हम चाहें तो विश्व भर के साहित्य की परस्पर तुलना कर सकते हैं और स्थूल रूप से संसार के प्रसिद्ध प्रसिद्ध कवियों अथवा साहित्य-निर्माताओं की विभिन्न श्रेणियाँ भी निरूपित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम यूनान के प्रसिद्ध कवि होमर की तुलना संस्कृत के आदि-कवि वाल्मीकि से कर सकते हैं और कालिदास तथा शेक्सपियर को उत्कृष्ट नाटककारों की श्रेणी में रख सकते हैं। वर्ण्य विषयों के आधार पर जायसी तथा उमर

खैयाम आदि प्रेमप्रधान कवियों की एक श्रेणी हो सकती है; और देव, बिहारी, मतिराम आदि हिंदी के शृंगारी कवि संस्कृत के अमरुक प्रभृति कवियों की कोटि में रखे जा सकते हैं। भावपक्ष की इस समता के साथ कविता के कलापक्ष की तुलना भी व्यापक दृष्टि से की जा सकती है। उदाहरणार्थ केशवदास जैसे कलाप्रधान कवि की तुलना अँगरेज कवि पोप अथवा ड्राइडेन से की जा सकती है; और कबीर जैसे दार्शनिक किंतु अव्यवस्थित भाषा तथा छंदों का प्रयोग करनेवाले कवि की समता ब्राउनिंग आदि से हो सकती है।

इसमें संदेह नहीं कि संसार के भिन्न भिन्न देशों के कवियों और साहित्य-निर्माताओं की यह तुलनात्मक आलोचना बड़ी ही विशद और उपादेय होती है। इससे यह जाना जा सकता है कि मनुष्य-मात्र में जातीय और स्थानीय विशेषताओं के होते हुए भी एक सार्वजनीन एकता है और सभी श्रेष्ठ कवियों तथा लेखकों की रचनाओं में भावनामूलक साम्य भी है। निश्चय ही वह भावना मनुष्यमात्र के लिये कल्याणकारिणी तथा अत्यंत उदार होती है। उत्कृष्ट कोटि के कवियों की कल्पनाएँ एक दूसरे से बहुत अंशों में मिलती-जुलती होती हैं तथा उनकी काव्य-रचना की प्रणाली भी बहुत कुछ समता लिए होती है। संसार के भिन्न भिन्न राष्ट्रों में सद्भाव उत्पन्न करने में उस तात्त्विक एकता का उद्घाटन तथा प्रदर्शन करना अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है जो उन राष्ट्रों के साहित्य के मूल में है। साथ ही इस तुलनात्मक समीक्षा के द्वारा हम अनेक देशों और समयों के कवियों की व्यक्तिगत विशेषताएँ, उनकी प्रतिभा की दिशा तथा सामयिक स्थिति का भी परिचय प्राप्त कर सकते हैं। उक्त परिचय से हमें अपने समय के साहित्य की त्रुटियों की ओर ध्यान देने और उन्हें यथाशक्ति सुधारने

की चेष्टा करने की भी प्रेरणा हो सकती है। अवश्य ही यह साहित्य का सार्वभौम अध्ययन और आलोचन एक कठिन कार्य है और विशेष सूक्ष्म दृष्टि तथा तत्पर अनुशीलन की आवश्यकता रखता है। साथ ही इस कार्य को करनेवाले व्यक्ति में राष्ट्रीय या जातीय पक्षपात लेशमात्र भी न होना चाहिए; अन्यथा उसका कार्य विफल तथा हानिकारक भी हो सकता है। खेद है कि कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने इस संबंध के जो ग्रंथ लिखे हैं उनमें पाश्चात्य साहित्य को अन्यायपूर्ण प्रधानता दी गई है। इसका प्रधान कारण राष्ट्रीय पक्षपात ही प्रतीत होता है। इस प्रणाली का अनुसरण करने से किसी उच्च उद्देश्य की सिद्धि नहीं हो सकती वरन् अज्ञान तथा कटुता की ही वृद्धि होगी।

जातीय साहित्य

भौगोलिक कारणों से अथवा जलवायु के फल-स्वरूप या अन्य किसी कारण से, प्रत्येक देश अथवा जाति के साहित्य में कुछ न कुछ विशेषता होती है। जब हम यूनानी साहित्य, अँगरेजी साहित्य अथवा भारतीय साहित्य का नाम लेते हैं और उनके संबंध में विचार करते हैं तो उनमें स्पष्ट रीति से कुछ ऐसी विशेषताएँ दिखाई देती हैं जिनके कारण उनके रूप कुछ भिन्न जान पड़ते हैं तथा जिनके फल-स्वरूप उनके स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता भी समझ में आ जाती है। यह संभव है कि कोई विशेष कलाकार किसी विशेष समय और कुछ विशेष परिस्थितियों से प्रभावान्वित होकर विदेशीय या विजातीय कला का अनुकरण करे तथा उनके विचारों की आँख मूँदकर नकल करना आरंभ कर दे, परंतु साहित्य के साधारण विकास में जातीय भावों तथा विचारों की छाप किसी न किसी रूप में अवश्य रहती है; और इसका एक कारण है।

प्रत्येक सभ्य तथा स्वतन्त्र देश का अपना स्वतंत्र साहित्य तथा अपनी स्वतंत्र कला होती है। भारतवर्ष में भी साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं का स्वतंत्र विकास हुआ और उनकी अपनी विशेषताएँ भी हुईं। भारतीय साहित्य तथा कला की विशेषताओं पर साधारण दृष्टि से विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन पर भारतीय आध्यात्मिक तथा लौकिक विचारों की गहरी छाप है। हम लोग प्राचीन काल से आदर्शवादी रहे हैं। क्षणिक और परिवर्तनशील वर्तमान, चाहे वह कितना ही समृद्ध क्यों न हो, हमारा अंतिम लक्ष्य कभी नहीं रहा। उसके भीतर से होकर सदा हमारी दृष्टि भविष्य के पूर्ण आनंदमय अमर जीवन पर ही लगी रही है। यही कारण है कि हमारे साहित्य तथा अन्ये ललित कलाओं में आदर्शवादिता की प्रचुरता देख पड़ती है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि साहित्य और कलाएँ हमारे भावों तथा विचारों का प्रतिबिंब मात्र हैं। सारांश यह कि जहाँ संसार की उन्नत जातियों की कुछ अपनी विशेषताएँ होती हैं, वहाँ उनके साहित्य आदि पर भी उन विशेषताओं का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इन्हीं साहित्यिक विशेषताओं के कारण "जातीय साहित्य" का व्यक्तित्व निर्धारित होता है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या जातिगत विशेषताएँ सदा सर्वदा पुरातन आधारों पर ही स्थित रहती हैं अथवा समय और स्थिति के अनुसार आदर्शों में परिवर्तन के साथ उनमें भी परिवर्तन हो जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि समय, संसर्ग और स्थिति के प्रभाव से जातीय आदर्शों में परिवर्तन हो जाता है, पर उनके पुरातन आधारों का सर्वथा लोप नहीं होता। इन्हीं पुरातन आदर्शों की नींव पर नए आदर्शों की उद्भावना होती

है। जहाँ कारणविशेष से ऐसा नहीं होने पाता वहाँ के नए आदर्शों के स्थायित्व में बहुत कुछ कमी हो जाती है। जातीयता के स्थायित्व के लिये आदर्शों की धारा का अक्षुण्ण रहना आवश्यक है। हाँ, समय समय पर उस धारा की अंगपुष्टि के लिये नए आदर्शरूपी स्रोतों का उसमें मिलना आवश्यक और हितकर होता है। ठीक यही स्थिति साहित्यरूपी सरिता की भी होती है। जिस प्रकार किसी जाति के परंपरागत विचार तथा स्थिर दार्शनिक सिद्धांत सहसा लुप्त नहीं हो सकते उसी प्रकार जातीय साहित्य तथा कलाएँ भी अपनी जातीयता का लोप नहीं कर सकतीं। जातीयता का लोप कलाओं के विकास में बाधाएँ उपस्थित करता है। अतः उसका परित्याग अथवा उसकी अवहेलना किसी अवस्था में उचित नहीं। प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार फैजी रूमीन ने, अभी थोड़े दिन हुए, कहा है—

"भारतीय कला तो अब नष्ट हो गई है। न तो उसको ठीक ठीक समझनेवाले हैं और न उसका यथोचित सम्मान करनेवाले हैं। हमारे कलाकार ऐसी रचनाएँ करते हैं जिनमें मौलिकता होती ही नहीं। इसका कारण यह है कि ये कलाकार सच्चे भारतीय भावों को भूलकर विदेशियों का अनुसरण कर रहे हैं। मेरी सम्मति में ये पश्चिमीय कलाकारों की समता कर ही नहीं सकते—विशेष कर ऐसी अवस्था में जब कि ये उनकी त्यक्त पुरानी शैलियों का उपयोग करते हैं। इसी बीच में वे अपनी स्वतंत्र शैलियों को भूले जा रहे हैं।

"आजकल भारतीय विद्यालयों में जो कला की शिक्षा दी जाती है, वह बहुत भद्दी है, वह अधःपतित तथा निम्न श्रेणी की होती है। हम छात्रवृत्तियाँ देकर भारतीय विद्यार्थियों को कला की शिक्षा के लिये यूरोप भेजने का प्रबंध करते हैं। मेरी सम्मति

में यह हमारी भूल है। मेरे विचार में उन्हें भारतीय कला की शिक्षा दी जानी चाहिए और उन्हें भारतीय शैली से परिचित होना चाहिए। पश्चिमीय कलाकारों की समता करने का प्रयास कभी सफल नहीं हो सकता।"

अस्तु, उस अधिक व्यापक विषय को यहीं छोड़कर हमें अपने मुख्य विषय पर आना चाहिए। हमें हिंदी साहित्य के विकास का इतिहास उपस्थित करना है। हम यह जानते हैं कि हिंदी साहित्य का वंशगत संबंध प्राचीन भारतीय साहित्यों से है; क्योंकि संस्कृत तथा प्राकृत आदि की विकसित परंपरा ही हिंदी कहलाई है। जिस प्रकार पुत्री अपनी माता के रूप की ही नहीं, गुण की भी उत्तराधिकारिणी होती है, उसी प्रकार हिंदी ने भी संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि साहित्यों में अभिव्यंजित आर्य-जाति की स्थायी चित्तवृत्तियों और उसके विचारों की परंपरागत संपत्ति प्राप्त की है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य में जातीय साहित्य कहलाने की पूरी योग्यता है। अतएव हम पहले भारतवर्ष के जातीय साहित्य की मुख्य मुख्य विशेषताओं का विचार करेंगे और तब हिंदी साहित्य के स्वरूप का चित्र उपस्थित करने का उद्योग करेंगे।

हिंदी में जातीय साहित्य की योग्यता

समस्त भारतीय साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता उसके मूल में स्थित समन्वय की भावना है। उसकी यह विशेषता इतनी प्रमुख तथा मार्मिक है कि केवल इसी के बल पर संसार के अन्य साहित्यों के सामने वह अपनी मौलिकता की पताका फहरा सकती है और अपने स्वतंत्र अस्तित्व की सार्थकता प्रमाणित कर सकती है। जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में भारत के ज्ञान, भक्ति तथा कर्म के समन्वय

हिंदी की विशेषताएँ

की प्रसिद्धि है तथा जिस प्रकार वर्ण एवं आश्रम चतुष्टय के निरूपण द्वारा इस देश में सामाजिक समन्वय का सफल प्रयास हुआ है, ठीक उसी प्रकार साहित्य तथा अन्यान्य कलाओं में भी भारतीय प्रवृत्ति समन्वय की ओर रही है। साहित्यिक समन्वय से हमारा तात्पर्य साहित्य में प्रदर्शित सुख-दुःख, उत्थान-पतन, हर्ष-विषाद आदि विरोधी तथा विपरीत भावों के समीकरण तथा एक अलौकिक आनंद में उनके विलीन होने से है। साहित्य के किसी अंग को लेकर देखिए, सर्वत्र यही समन्वय दिखाई देगा। भारतीय नाटकों में सुख और दुःख के प्रबल घात-प्रतिघात दिखाए गए हैं पर सबका अवसान आनंद में ही किया गया है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीयों का ध्येय सदा से जीवन का आदर्श स्वरूप उपस्थित करके उसका उत्कर्ष बढ़ाने और उसे उन्नत बनाने का रहा है। वर्तमान स्थिति से उसका इतना संबंध नहीं है जितना भविष्य की संभाव्य उन्नति से है। हमारे यहाँ युरोपीय ढंग के दुःखांत नाटक इसी लिये नहीं देख पड़ते। यदि आजकल दो-चार ऐसे नाटक देख भी पड़ने लगे हैं तो वे भारतीय आदर्श से दूर और युरोपीय आदर्श के अनुकरण मात्र हैं। कविता के क्षेत्र में ही देखिए। यद्यपि विदेशीय शासन से पीड़ित तथा अनेक क्लेशों से संतप्त देश निराशा की चरम सीमा तक पहुँच चुका था और उसके सभी अवलंबों की इतिश्री हो चुकी थी, पर फिर भी भारतीयता के सच्चे प्रतिनिधि तत्कालीन महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अपने विकार-रहित हृदय से समस्त जाति को आश्वासन देते हैं—

भरे भाग अनुराग लोग कहैं राम अवध चितवन चितई है।
विनती सुनि सानंद हेरि हँसि करुनावारि भूमि भिजई है॥
राम राज भयो काज सगुन सुभ राजाराम जगत विजई है।
समरथ बड़ो सुजान सुसाहब सुकृत-सेन हारत जितई है॥

आनंद की कितनी महान् भावना है। चित्त किसी अननुभूत ऐश्वर्य की कल्पना में मानो नाच उठता है। हिंदी साहित्य के विकास का समस्त युग विदेशीय तथा विजातीय शासन का युग था। इस कारण भारतीय जनता के लिये वह निराशा तथा संताप का युग था, परंतु फिर भी साहित्यिक समन्वय का कभी अनादर नहीं हुआ। आधुनिक युग के हिंदी कवियों में यद्यपि पश्चिमीय आदर्शों की छाप पड़ने लगी है और लक्षणों के देखते हुए इस छाप के अधिकाधिक गहरी हो जाने की संभावना हो रही है परंतु जातीय साहित्य की धारा अक्षुण्ण रखनेवाले कुछ कवि अब भी वर्तमान हैं।

यदि हम थोड़ा सा विचार करें तो उपर्युक्त साहित्यिक समन्वय का रहस्य हमारी समझ में आ सकता है। जब हम थोड़ी देर के लिये साहित्य को छोड़कर भारतीय कलाओं का विश्लेषण करते हैं तब उनमें भी साहित्य की ही भाँति समन्वय की छाप दिखाई पड़ती है। सारनाथ की बुद्ध भगवान् की मूर्ति में ही समन्वय की यह भावना निहित है। बुद्ध की वह मूर्ति उस समय की है जब वे छः महीने की कठिन साधना के उपरांत अस्थिपंजर मात्र ही रहे होंगे; परंतु मूर्ति में कहीं कृशता का पता नहीं, उसके चारों ओर एक स्वर्गीय आभा नृत्य कर रही है।

इस प्रकार साहित्य तथा कलाओं में भी एक प्रकार का आदर्शात्मक साम्य देखकर उसका रहस्य जानने की इच्छा और भी प्रबल हो जाती है। हमारे दर्शन-शास्त्र हमारी इस जिज्ञासा का समाधान कर देते हैं। भारतीय दर्शनों के अनुसार परमात्मा तथा जीवात्मा में कुछ भी अंतर नहीं, दोनों एक ही हैं, दोनों सत्य हैं, चेतन हैं तथा आनंद-स्वरूप हैं। बंधन मायाजन्य है। माया अज्ञान है, भेद उत्पन्न करनेवाली वस्तु है। जीवात्मा मायाजन्य अज्ञान को दूर कर

अपना सच्चा स्वरूप पहचानता है और आनंदमय परमात्मा में लीन हो जाता है। आनंद में विलीन हो जाना ही मानव जीवन का चरम उद्देश्य है। जब हम इस दार्शनिक सिद्धांत का ध्यान रखते हुए उपर्युक्त समन्वय पर विचार करते हैं, तब उसका रहस्य हमारी समझ में आ जाता है तथा उस विषय में और कुछ कहने-सुनने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

भारतीय साहित्य की दूसरी बड़ी विशेषता उसमें धार्मिक भावों की प्रचुरता है। हमारे यहाँ धर्म की बड़ी व्यापक व्याख्या की गई है और जीवन के अनेक क्षेत्रों में उसको स्थान दिया गया है। धर्म में धारण करने की शक्ति है अत: केवल अध्यात्म पक्ष में ही नहीं, लौकिक आचारों-विचारों तथा राजनीति तक में उसका नियंत्रण स्वीकार किया गया है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को ध्यान में रखते हुए अनेक सामान्य तथा विशेष धर्मों का निरूपण किया गया है। वेदों के एकेश्वरवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद तथा पुराणों के अवतारवाद, और बहुदेववाद की प्रतिष्ठा जन-समाज में हुई है और तदनुसार हमारा धार्मिक दृष्टिकोण भी अधिकाधिक विस्तृत तथा व्यापक होता गया है। हमारे साहित्य पर धर्म की इस अतिशयता का प्रभाव दो प्रधान रूपों में पड़ा। आध्यात्मिकता की अधिकता होने के कारण हमारे साहित्य में एक ओर तो पवित्र भावनाओं और जीवन संबंधी गहन तथा गंभीर विचारों की प्रचुरता हुई और दूसरी ओर साधारण लौकिक भावों तथा विचारों का विस्तार नहीं हुआ। प्राचीन वैदिक साहित्य से लेकर हिंदी के वैष्णव साहित्य तक में हम यही बात पाते हैं। सामवेद की मनोहारिणी तथा मृदु-गंभीर ऋचाओं से लेकर सूर तथा मीरा आदि की सरस रचनाओं तक में सर्वत्र परोक्ष भावों की अधिकता तथा लौकिक विचारों की न्यूनता देखने में आती है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति का परिणाम यह हुआ कि साहित्य में उच्च विचार तथा पवित्र भावनाएँ तो प्रचुरता से भरी गईं, परंतु उसमें लौकिक जीवन की अनेकरूपता का प्रदर्शन न हो सका। हमारी कल्पना अध्यात्म-पक्ष में तो निस्सीम तक पहुँच गई परंतु ऐहिक जीवन का चित्र उपस्थित करने में वह कुछ कुंठित सी हो गई। हिंदी की चरम उन्नति का काल भक्तिकाव्य का काल है, जिसमें उसके साहित्य के साथ हमारे जातीय साहित्य के लक्षणों का सामंजस्य स्थापित हो जाता है।

धार्मिकता के भाव से प्रेरित होकर जिस सरस तथा सुंदर साहित्य का सृजन हुआ, वह वास्तव में हमारे गौरव की वस्तु है; परंतु समाज में जिस प्रकार धर्म के नाम पर अनेक ढोंग रचे जाते हैं तथा गुरुडम का प्रचार होने लगता है, उसी प्रकार साहित्य में भी धर्म के नाम पर पर्याप्त अनर्थ होता है। हिंदी साहित्य के क्षेत्र में हम यह अनर्थ दो मुख्य रूपों में देखते हैं। एक तो सांप्रदायिक कविता तथा नीरस उपदेशों के रूप में और दूसरा "कृष्ण" का आधार लेकर की हुई हिंदी के शृंगारी कवियों की कविता के रूप में। हिंदी में सांप्रदायिक कविता का एक युग ही हो गया है और "नीति के दोहों" की तो अब तक भरमार है। अन्य दृष्टियों से नहीं तो कम से कम शुद्ध साहित्यिक समीक्षा की दृष्टि से ही सही, सांप्रदायिक तथा उपदेशात्मक साहित्य का अत्यंत निम्न स्थान है; क्योंकि नीरस पदावली में दिए गए कोरे उपदेशों में कवित्व की मात्रा बहुत थोड़ी होती है। राधाकृष्ण को आलंबन मानकर हमारे शृंगारी कवियों ने अपने कलुषित तथा वासनामय उद्गारों को व्यक्त करने का जो ढंग निकाला वह समाज के लिये हितकर सिद्ध न हुआ। यद्यपि आदर्श की कल्पना करनेवाले कुछ साहित्य-समीक्षक इस शृंगारिक कविता में भी उच्च आदर्शों की उद्भावना

कर लेते हैं, पर फिर भी हम वस्तुस्थिति की किसी प्रकार अव-हेलना नहीं कर सकते। यह ठीक है कि सब प्रकार की शृंगारिक कविता ऐसी नहीं है कि उसमें शुद्ध प्रेम का अभाव तथा कलुषित वासनाओं का ही अस्तित्व हो, पर यह स्पष्ट है कि पवित्र भक्ति का उच्च आदर्श, समय पाकर, लौकिक शरीरजन्य तथा वासना-मूलक प्रेम में परिणत हो गया था। बात यह है कि भक्ति और शृंगार दोनों का मूल भाव रति ही है, और भगवद्विषयक रति तथा दांपत्य रति में प्रधान भेद केवल आलंबनगत है। माधुर्य भाव की भक्ति भक्त और भगवान् के बीच दांपत्य संबंध की ही भावना को लेकर चलती है, अतः राधाकृष्ण आदि दिव्य आलंबनों पर से ध्यान हटते ही उसमें और शृंगार में कोई अंतर नहीं दिखाई देता। दोनों के आलंबनगत इस सूक्ष्म भेद पर दृष्टि न रखने के कारण ही भक्तों में जहाँ शृंगार का वर्णन केवल भगवत्प्रेम की व्यंजना के लिये रूपकमात्र था वहाँ पीछे के शृंगारी कवियों में कृष्ण और राधा सामान्य लौकिक नायक और नायिका के पर्याय हो गए।

यद्यपि भारतीय साहित्य की कितनी ही अन्य जातिगत विशेष-ताएँ हैं, परंतु हम उसकी दो प्रधान विशेषताओं के उपर्युक्त विवे-

साहित्य की देशगत विशेषताएँ

चन से ही संतोष करके, उसकी दो एक देश-गत विशेषताओं का वर्णन करके यह प्रसंग समाप्त करेंगे। प्रत्येक देश के जलवायु अथवा भौगोलिक स्थिति का प्रभाव उस देश के साहित्य पर अवश्य पड़ता है और यह प्रभाव बहुत कुछ स्थायी भी होता है। संसार के सब देश एक ही प्रकार के नहीं होते। जल-वायु तथा गर्मी सर्दी के साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनके प्राकृ-तिक दृश्यों तथा उर्वरता आदि में भी अंतर होता है। यदि पृथ्वी

पर अरब तथा सहारा जैसी दीर्घकाय मरुभूमियाँ हैं तो साइबीरिया तथा रूस के विस्तृत मैदान भी हैं। यदि यहाँ इँगलैंड तथा आयरलैंड जैसे जलावृत द्वीप हैं तो चीन जैसा विस्तृत भूखंड भी है। इन विभिन्न भौगोलिक स्थितियों का उन देशों के साहित्यों से संबंध होता है, इसी को हम साहित्य की देशगत विशेषता कहते हैं।

हिंदी की देशगत विशेषताएँ

भारत की सस्यश्यामला भूमि में जो निसर्गसिद्ध सुषमा है, उससे भारतीय कवियों का चिरकाल से अनुराग रहा है। यों तो प्रकृति की साधारण वस्तुएँ भी मनुष्यमात्र के लिये आकर्षक होती हैं, परंतु उसकी सुंदरतम विभूतियों में मानव-वृत्तियाँ विशेष प्रकार से रमती हैं। अरब के कवि मरुस्थल में बहते हुए किसी साधारण से झरने अथवा ताड़ के लंबे लंबे पेड़ों में ही सौंदर्य का अनुभव कर लेते हैं तथा ऊँटों की चाल में ही सुंदरता की कल्पना कर लेते हैं; परंतु जिन्होंने भारत की हिमाच्छादित शैल-माला पर संध्या की सुनहली किरणों की सुषमा देखी है, अथवा जिन्हें घनी अमराइयों की छाया में कल कल ध्वनि से बहती निर्झरिणी तथा उसकी समीपवर्तिनी लताओं की वसंतश्री देखने का अवसर मिला है, साथ ही जो यहाँ के विशालकाय हाथियों की मतवाली चाल देख चुके हैं उन्हें अरब की उपर्युक्त वस्तुओं में सौंदर्य तो क्या, हाँ उलटे नीरसता, शुष्कता और भद्दापन ही मिलेगा। भारतीय कवियों को प्रकृति की सुरम्य गोद में क्रीड़ा करने का सौभाग्य प्राप्त है; वे हरे भरे उपवनों में तथा सुंदर जलाशयों के तटों पर विचरण करते एवं प्रकृति के नाना मनोहारी रूपों से परिचित होते हैं। यही कारण है कि भारतीय कवि प्रकृति के संश्लिष्ट तथा सजीव चित्र जितनी मार्मिकता, उत्तमता तथा अधिकता से अंकित कर सकते हैं एवं उपमा-उत्प्रेक्षाओं के

लिये जैसी सुंदर वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं, वैसा रूखे-सूखे देशों के निवासी कवि नहीं कर सकते। यह भारतभूमि की ही विशेषता है कि यहाँ के कवियों का प्रकृति-वर्णन तथा तत्संभव सौंदर्यज्ञान उच्च कोटि का होता है।

प्रकृति के रम्य रूपों से तल्लीनता की जो अनुभूति होती है, उसका उपयोग कविगण कभी कभी रहस्यमयी भावनाओं के संचार में भी करते हैं। यह अखंड भूमंडल तथा असंख्य ग्रह-उपग्रह, रवि-शशि अथवा जल-वायु, अग्नि, आकाश कितने रहस्यमय तथा अज्ञेय हैं। इनकी सृष्टि, संचालन आदि के संबंध में दार्शनिकों अथवा वैज्ञानिकों ने जिन तत्त्वों का निरूपण किया है वे ज्ञानगम्य अथवा बुद्धिगम्य होने के कारण शुष्क तथा नीरस हैं। काव्यजगत् में इतनी शुष्कता तथा नीरसता से काम नहीं चल सकता, अतः कविगण बुद्धिवाद के चक्कर में न पड़कर व्यक्त प्रकृति के नाना रूपों में एक अव्यक्त किंतु सजीव सत्ता का साक्षात्कार करते तथा उससे भावमग्न होते हैं। इसे हम प्रकृतिसंबंधी रहस्यवाद कह सकते हैं, और व्यापक रहस्यवाद का एक अंग मान सकते हैं। प्रकृति के विविध रूपों में विविध भावनाओं के उद्रेक की क्षमता होती है; परंतु रहस्यवादी कवियों को अधिकतर उसके मधुर स्वरूप से प्रयोजन होता है, क्योंकि भावावेश के लिये प्रकृति के मनोहर रूपों की जितनी उपयोगिता होती है, उतनी दूसरे रूपों की नहीं होती। यद्यपि इस देश की उत्तरकालीन विचारधारा के कारण हिंदी में बहुत थोड़े रहस्यवादी कवि हुए हैं परंतु कुछ प्रेम-प्रधान कवियों ने भारतीय मनोरम दृश्यों की सहायता से अपनी रहस्यमयी उक्तियों को अत्यधिक सरस तथा हृदयग्राही बना दिया है। यह भी हमारे साहित्य की एक देशगत विशेषता है।

ये जातिगत तथा देशगत विशेषताएँ तो हमारे साहित्य के भावपक्ष की हैं। इनके अतिरिक्त उसके कलापक्ष में भी कुछ स्थायी जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिंब अवश्य दिखाई देता है। कलापक्ष से हमारा अभिप्राय केवल शब्दसंघटन अथवा छंदो-रचना तथा विविध आलंकारिक प्रयोगों से ही नहीं है, प्रत्युत उसमें भावों को व्यक्त करने की शैली भी सम्मिलित है। यद्यपि प्रत्येक कविता के मूल में कवि का व्यक्तित्व अंतर-निहित रहता है और आवश्यकता पड़ने पर उस कविता के विश्लेषण द्वारा हम कवि के आदर्शों तथा उसके व्यक्तित्व से परिचित हो सकते हैं, परंतु साधारणतः हम यह देखते हैं कि कुछ कवियों में उत्तम पुरुष एकवचन के प्रयोग की प्रवृत्ति अधिक होती है तथा कुछ कवि अन्य पुरुष में अपने भाव प्रकट करते हैं। अँगरेजी में इसी विभिन्नता के आधार पर कविता के व्यक्तिगत (Subjective) तथा वस्तुगत (Objective) नामक विभेद हुए हैं परंतु ये विभेद वास्तव में कविता के नहीं हैं, उसकी शैली के हैं। दोनों प्रकार की कविताओं में कवि के आदर्शों का अभिव्यंजन होता है, केवल इस अभिव्यंजन के ढंग में अंतर रहता है। एक में वे आदर्श, आत्मकथन अथवा आत्म-निवेदन के रूप में व्यक्त किए जाते हैं तथा दूसरे में उन्हें व्यंजित करने के लिये वर्णनात्मक प्रणाली का आधार ग्रहण किया जाता है। भारतीय कवियों में दूसरी (वर्णनात्मक) शैली की अधिकता तथा पहली की न्यूनता पाई जाती है। यही कारण है कि यहाँ वर्णनात्मक काव्य अधिक हैं तथा कुछ भक्त कवियों की रचनाओं के अतिरिक्त उस प्रकार की कविता का अभाव है, जिसे गीति काव्य कहते हैं और जो विशेषकर पदों के रूप में लिखी जाती है*।

हिंदी के कलापक्ष की विशेषताएँ

---

* आजकल हिंदी में अँगरेजी के ढंग की Lyric कविताएँ भी

साहित्य के कलापक्ष की अन्य महत्त्व-पूर्ण जातीय विशेषताओं से परिचित होने के लिये हमें उसके शब्द-समुदाय पर ध्यान देना पड़ेगा, साथ ही भारतीय संगीतशास्त्र की कुछ साधारण बातें भी जान लेनी होंगी। वाक्यरचना के विविध भेदों, शब्दगत तथा अर्थगत अलंकारों और अक्षर मात्रिक अथवा लघु गुरु मात्रिक आदि छंदसमुदायों का विवेचन भी उपयोगी हो सकता है। परंतु एक तो ये विषय इतने विस्तृत हैं कि इन पर यहाँ विचार करना संभव नहीं और दूसरे इनका संबंध साहित्य के इतिहास से उतना पृथक् नहीं है जितना व्याकरण, अलंकार और पिंगल से है। तीसरी बात यह भी है कि इनमें जातीय विशेषताओं की कोई स्पष्ट छाप भी नहीं देख पड़ती, क्योंकि ये सब बातें थोड़े बहुत अंतर से प्रत्येक देश के साहित्य में पाई जाती हैं।

हिंदी का शब्द-समूह

यद्यपि हमारे शब्द-समुदाय के संबंध में यह बात अनेक बार कही जा चुकी है कि यह अत्यधिक काव्योपयोगी है, परंतु साथ ही यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि इसमें क्रियाओं के सूक्ष्म विभेदों तथा अनेक वस्तुओं के आकार-प्रकार तथा रूपरंग-संबंधी छोटे छोटे अंतरों को व्यंजित करने की क्षमता अपेक्षाकृत कम है। सूर्य, चंद्रमा, वायु, मेघ तथा कमल आदि कवि-हृदयों को स्पर्श करनेवाली वस्तुओं के अनेक पर्यायवाची शब्द हैं, जिससे उनके समयोचित उपयोग में बड़ी सुगमता होती है और जिससे काव्य में विशेष चमत्कार आ जाता है। परंतु हरीतिमा के अनेक भेदों अथवा पक्षियों के उड़ने के अनेक स्वरूपों के व्यंजक शब्द हिंदी में उतने नहीं मिलते। खड़ी बोली में तो क्रियापदों का अभाव इतना खटकता है कि हम प्रचलित व्याकरण के कुछ नियमों को शिथिल

लिखी जाने लगी हैं परंतु ऐसी रचनाओं का अभी प्रारंभ ही हुआ है।

कर नवीन क्रियाएँ गढ़ लेने तक का विचार करने लगे हैं और "सरसाना", "बिकसाना" आदि ब्रजभाषा के रूपों को भी खड़ी बोली में लेने लगे हैं। हिंदी में भावों के अनुरूप भाषा लिखने का तो पर्याप्त सुभीता है, परंतु प्रत्येक शब्द में भावानुरूपता ढूँढ़ना मेरे विचार में भाषा-शास्त्र के नियमों के प्रतिकूल होगा। संस्कृत के स्त्रीलिंग "देवता" को हिंदी में पुल्लिंग बनाकर शब्द की भावात्मकता की रक्षा अवश्य हुई है; पर यह तो केवल एक उदाहरण है। इसके विपरीत संस्कृत के "कर्म" तथा "कार्य" को हिंदी में "काम" या "काज" बनाकर कर्म की स्वाभाविकता, कठोरता तथा कार्य की सच्ची गुरुता भुला दी गई है। कभी कभी तो हम अपने स्वभाव-वैषम्य के कारण शब्दों की सार्थकता का व्यर्थ विरोध करते हैं। प्रातःकालीन सुषमा की सच्ची द्योतकता "उषा" शब्द में है। हमारे प्राचीन ऋषियों ने उस सुषमा पर मुग्ध होकर उसे देवीत्व तक प्रदान किया था और वह "सरस्वती" के समकक्ष समझी गई थी। उषा के उपरांत जब सुषुप्त संसार जागकर कर्मक्षेत्र में प्रवेश करता है और जब समस्त स्थावर-जंगम पदार्थ चैतन्य तथा कर्मण्य हो उठते हैं, उस समय के द्योतक 'प्रभात' शब्द की कल्पना स्त्रीलिंग में करना हमारी अपनी दुर्बलता कहलाएगी, "प्रभात" के पुरुषत्व में उससे कुछ भी अंतर न पड़ेगा। हमारे यह सब कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि हिंदी का शब्द-कोश बहुत कुछ काव्योपयोगी है, तथापि उसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं। कभी कभी उसकी त्रुटियाँ बहुत कुछ बढ़ा-चढ़ाकर कही जाती हैं और भाषा के विकासक्रम की अवहेलना कर उसकी जाँच अपने वैयक्तिक विचारों के आधार पर होती है। यदि ऐसा न हुआ करे तो हिंदी के शब्दों में भावानुरूपता की योग्यता संतोषजनक परिमाण में प्रतिष्ठित हो सकती है।

हिंदी में भारतीय संगीत

भारतीय संगीत की सबसे प्रधान विशेषता यह है कि उसमें स्वरों तथा लय का सामंजस्य स्थापित किया गया है। यूरोपीय संगीत में लय पर अधिक ध्यान दिया गया है और स्वरों के सामंजस्य या राग की बहुत कुछ अवहेलना की गई है। इस देश में अत्यंत प्राचीन काल से संगीत की उन्नति होती आई है और अनेक संगीतशास्त्रीय ग्रंथों का निर्माण भी होता आया है। यहाँ जैसे काव्य से धर्म, अर्थ और काम के साथ मोक्षफल की भी प्राप्ति मानी गई है उसी प्रकार संगीत से भी। इस दृष्टि से संगीत के 'मार्ग' और 'देशी' नामक दो भेद किए हैं और 'मार्ग' को विमुक्तिप्रद तथा 'देशी' को लोकानुरंजक बतलाया गया है। यहाँ का प्राचीन संगीत यद्यपि अपने शुद्ध रूप में अब तक मिलता है, परंतु विदेशीय प्रभावों तथा अनेक देशभेदों के फल-स्वरूप उसकी 'देशी' नामक शाखा का भी निरंतर विकास होता रहा। (देशे देशे तु संगीतं देशीयं तद्विधीयते) हिंदी साहित्य के विकास-काल में "देशी" संगीत प्रचलित हो चुका था, अतः उसमें 'देशी' संगीत का बहुत कुछ पुट पाया जाता है। इसके अतिरिक्त रागों और रागिनियों के अनेक भेदों का ठीक ठीक अभिव्यंजन करने की क्षमता जितनी हिंदी ने दिखलाई, साथ ही जितने सुचारु रूप से संगीत के अन्य अवयवों का विकास उसमें हुआ है, उतना अन्य किसी प्रांतीय भाषा में नहीं हुआ।

हिंदी की दो अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ

हमारे साहित्य पर उपर्युक्त जातिगत तथा देशगत प्रवृत्तियों का प्रभाव बहुत कुछ स्थायी है। इनके अतिरिक्त दो-एक अन्य प्रासंगिक बातें हैं जिनका हिंदी साहित्य के विकास से घनिष्ठ संबंध रहा है तथा जिनकी छाप हिंदी साहित्य पर स्थायी नहीं तो चिरकालिक अवश्य है। पहली बात यह है कि हिंदी

साहित्य के प्रारंभिक युग के पहले ही संस्कृत साहित्य उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचकर अधःपतित होने लगा था। जीवित साहित्यों में नवीन-नवीन रचना-प्रणालियों के आविर्भाव तथा अन्य अभिनव उद्भावनाओं की जो प्रकृति होती है, उसका संस्कृत में अभाव हो चला था। अनेक रीति ग्रंथों का निर्माण हो जाने के कारण साहित्य में गतिशीलता रह ही नहीं गई थी। नियमों का साम्राज्य उसमें विराज रहा था, उनका उल्लंघन करना तत्कालीन साहित्यकारों के लिये असंभव सा था। वे नियम भी ऐसे वैसे न थे, वे बहुत ही कठोर तथा कहीं कहीं बहुत ही अस्वाभाविक थे। इन्हीं के फेर में पड़कर साहित्य की स्वाभाविक प्रगति रुक सी गई थी और तत्कालीन संस्कृत में जीवन की गति तथा उल्लास नाम मात्र को भी नहीं रह गया था। संस्कृत कविता अलंकारों से लदी हुई जीवन-हीन कामिनी की भाँति निष्प्रभ तथा निस्सार हो चुकी थी। हिंदी के स्वतंत्र विकास में संस्कृत के इस स्वरूप ने बड़ी बड़ी रुकावटें डालीं। एक तो इसके परिणाम-स्वरूप हिंदी काव्य का क्षेत्र बहुत कुछ परिमित हो गया, और दूसरे हिंदी भाषा भी स्वाभाविक रूप से विकसित न होकर बहुत दिनों तक अव्यवस्थित बनी रही। यदि हिंदी के भक्त कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से उपर्युक्त दुष्परिणामों का निवारण करने की सफल चेष्टा न की होती तो हिंदी की आज कैसी स्थिति होती, यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। खेद है कि भक्त कवियों की परंपरा के समाप्त होते ही हिंदी के कवि फिर संस्कृत साहित्य के पिछले स्वरूप से प्रभावान्वित होकर उसका अनुसरण करने लगे, जिसके फल-स्वरूप भाषा में तो सरलता तथा प्रौढ़ता आ गई, परंतु भावों की नवीनता तथा मौलिकता बहुत कुछ जाती रही।

ध्यान देने की दूसरी बात यह है कि हिंदी साहित्य का संपूर्ण युग अशांति, निराशा तथा पराधीनता का युग रहा है। हिंदी के प्रारंभिक काल में देश स्वतंत्र अवश्य था परंतु उस समय तक उसकी स्वतंत्रता में बाधाएँ पड़ने लग गई थीं और उसके सम्मुख आत्मरक्षा का कठिन प्रश्न उपस्थित हो चुका था। देश के लिये वह हलचल तथा अशांति का युग था। उसके उपरांत वह युग भी आया जिसमें देश की स्वतंत्रता नष्ट हो गई और उसके अधिकांश भाग में विदेशीय तथा विजातीय शासन की प्रतिष्ठा हो गई। तब से अब तक थोड़े बहुत अंतर से वैसी ही परिस्थिति बनी है। हमारे संपूर्ण साहित्य में करुणा की जो एक हलकी सी अंतर्धारा व्याप्त मिलती है वह इसी के परिणाम-स्वरूप है। पुरानी हिंदी के समस्त साहित्य में नाटकों, उपन्यासों तथा अन्य मनोरंजक साहित्यांगों का जो अभाव दिखाई देता है, वह भी बहुत कुछ इसी कारण से है। केवल कविता में ही जनता की स्थायी भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई और वही उनका इतिहास हुआ। सामाजिक मनोरंजन के एक प्रमुख साधन नाटक-रचना का विधान भी न किया जा सका। देश की परतंत्रता सर्वतोमुखी साहित्यिक उन्नति में बाधक ही सिद्ध हुई।

प्रगतिशील साहित्य

अब तक जो कुछ कहा गया है उससे हिंदी साहित्य का स्वरूप समझने में थोड़ी बहुत सहायता मिल सकती है; अथवा अधिक नहीं तो उसकी कुछ स्थायी विशेषताओं का ही ज्ञान हो सकता है, परंतु केवल कुछ विशेषताओं के प्रदर्शन से, साहित्य की आंशिक झलक दिखा देने से ही, साहित्य का इतिहास पूरा नहीं हो सकता। उपर्युक्त बातें तो केवल एक सीमा तक उसके उद्देश की पूर्ति करती हैं। किसी साहित्य के इतिहास का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त करने के लिये केवल

उस साहित्य की जातिगत या देशगत प्रवृत्तियों को ही जानना आवश्यक नहीं होता, वरन् विभिन्न कालों में उसकी कैसी अवस्था रही, देश के सामाजिक, धार्मिक तथा कला-कौशल संबंधी आंदोलनों के उस पर कैसे कैसे प्रभाव पड़े, किन किन व्यक्तियों की प्रतिभा नें उसकी कितनी और कैसी उन्नति की, ऐसी अनेक बातों का जानना भी अनिवार्य होता है। ऊपर के विवेचन में साहित्य के जिस अंग पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गई है, वह प्राय: उसका स्थिर अंग है, परंतु उसका प्रगतिशील अंग भी होता है और यह प्रगतिशील अंग ही विशेष महत्त्वपूर्ण होता है। समय परिवर्तनशील है और समय के साथ देश तथा जाति की स्थिति भी बदलती रहती है। जनता के इसी स्थिति-परिवर्तन के साथ उसकी चित्तवृत्तियाँ भी और की और हो जाती हैं; साथ ही साहित्य भी अपना स्वरूप बदलता चलता है। हिंदी साहित्य की भी बहुत कुछ ऐसी ही अवस्था रही है। देश के महत्त्वपूर्ण सामाजिक, राजनीतिक, सांप्रदायिक आदि आंदोलनों से उसके स्वरूप में बड़े बड़े परिवर्तन उपस्थित हुए हैं और कभी कभी तो उसकी अवस्था बिलकुल और की और हो गई है।

यदि हम विगत साढ़े नौ सौ वर्षों की हिंदी साहित्य की प्रगति का सिंहावलोकन करें तो कालक्रमानुसार उसके अनेक विभाग दिखाई देंगे। उसके प्रारंभिक काल में वीर गाथाओं तथा अन्य प्रकार की वीरोल्लासिनी कविताओं की प्रधानता दिखाई देती है। यद्यपि उस काल की कविता में शृंगार अथवा प्रेम की भी झलक पाई जाती है, तथापि वे वीरता की पुष्टि के लिये आए हैं, स्वतंत्र रूप में नहीं। जब जब वीरों को वीरता अथवा साहस का प्रदर्शन करना होता था, तब तब कविगण शृंगार की किसी मूर्तिमती रमणी की

हिंदी साहित्य का कालविभाग

भी आयोजना कर लेते थे और उसके स्वयंवर आदि की कल्पना द्वारा अपनी वीरगाथाओं में अधिक रोचकता का समावेश करने का प्रयत्न करते थे। यही उस काल की मुख्य विशेषता थी। इसके उपरांत हिंदी साहित्य अपने भक्तियुग में प्रवेश करता है और उसमें वैष्णव तथा सूफी काव्य की प्रचुरता देख पड़ती है। रामभक्त तथा कृष्णभक्त कवियों का यह युग हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग समझा जाता है। इसमें हिंदी कविता भावों और भाषा दोनों की दृष्टि से उन्नति की चरम सीमा तक पहुँच गई। हिंदी कविता की इस अभूतपूर्व उन्नति के विधायक कबीर, जायसी, तुलसी तथा सूर आदि महाकवि हो गए हैं जिनकी यशोगाथा हिंदी साहित्य के इतिहास में अमर हो गई है। इस युग के समाप्त होने पर हिंदी में शृंगारी कविता की अधिकता हुई और रीति-ग्रंथों की परंपरा चली। हमारे साहित्य पर मुगल-साम्राज्य की तत्कालीन सुख-समृद्धि तथा तत्संभव विलासिता की प्रत्यक्ष छाप दिखाई देती है। कला-कौशल की अभिवृद्धि के साथ साथ हिंदी कविता में भी कलापक्ष की प्रधानता हो गई और फारसी-साहित्य तथा संस्कृत-साहित्य के पिछले स्वरूप के परिणाम में हिंदी में मुक्तक काव्य की अतिशयता देख पड़ने लगी। यद्यपि इस युग में शुद्ध प्रेम का चित्रण करनेवाले रसखान, घनानंद तथा ठाकुर आदि कवि भी हुए और साथ ही भूषण आदि वीर कवियों का भी यही युग था, तथापि इसके प्रतिनिधि कवि देव, बिहारी तथा पद्माकर आदि ही कहलाएँगे। इनकी परंपरा बहुत दिनों तक चलती रही। अंत में भारतेंदु हरिश्चंद्र के साहित्याकाश में उदित होते ही हिंदी में एक नवीन प्रकाश फैला। यद्यपि इसकी सर्व-प्रधान विशेषता गद्य-साहित्य का विकास मानी जा सकती है पर यह नवीन प्रकाश सर्वतोमुखी था। इस युग के साहित्य में पश्चिमीय प्रणालियों तथा

आदर्शों की बहुत कुछ छाप पड़ी है और हिंदी एक नवीन रूप में ढल गई सी जान पड़ती है। हिंदी ही क्यों, अन्य भारतीय भाषाएँ भी बहुत कुछ पाश्चात्य भावों के योग से प्रगतिशील हो रही हैं। इसे हम नवीन विकास का युग मान सकते हैं। अतएव हम हिंदी साहित्य का कालविभाग संक्षेप में इस प्रकार कर सकते हैं—

आदि युग (वीरगाथा का युग—संवत् १०५० से १४०० तक)
पूर्व मध्य युग (भक्ति का युग—संवत् १४०० से १७०० तक)
उत्तर मध्ययुग (रीति-ग्रंथों का युग—संवत् १७०० से १९०० तक)
आधुनिक युग (नवीन विकास का युग—संवत् १९०० से अब तक)

उपर्युक्त कालविभाग प्रत्येक काल की मुख्य विशेषताओं को ही ध्यान में रखकर किया गया है। इस संबंध में यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि उक्त विशेषताओं का निर्धारण अभी तक की ऐतिहासिक और साहित्यिक खोजों पर ही अवलंबित है। उदाहरणार्थ, इतिहास ही बतलाता है कि हिंदी का आदि युग देश में युद्ध और अशांति का युग था, और साहित्यिक खोज हमारे सामने वीरगाथाओं के रूप में उस युग का साहित्यिक विवरण प्रस्तुत करती है। परंतु साहित्यिक खोज का कार्य अभी तक बहुत कुछ अधूरे और एकदेशीय रूप में हुआ है और सभी प्रांतों में पूरी और व्यवस्थित खोज होने पर संभव है हमारे निर्णयों पर नया प्रकाश पड़े। इधर ज्यों ज्यों खोजें होती जा रही हैं, यह विश्वास दृढ़ होता जा रहा है कि अपभ्रंश के बाद किंचिद्देशभेद से हिंदी प्रायः संपूर्ण राष्ट्र की साहित्य और व्यवहार की भाषा ही रही थी और उसमें केवल राजाश्रित वीरगाथाकार कवि या भाट ही रचना नहीं करते थे, जैन मुनियों और नाथपंथी साधुओं द्वारा भी उसकी पर्याप्त अभि-

कालविभाग की त्रुटियाँ

वृद्धि हो रही थी। जब युद्धलिप्त राज्यों के कवि वीरगीतों का गान कर रहे थे, उस समय भी ये भ्रमणशील साधुगण सामान्य जनता को धर्म और साधना का उपदेश देकर उन्हें भवबाधा से मुक्त करने का उपाय कर रहे थे। इसी प्रकार मध्ययुग में जब भक्त कविगण लोक में अपनी अमृतमयी वाणी की धारा बहा रहे थे उस समय भी राजस्थान में चारणों की वीर गर्जना बंद नहीं हुई थी। रीतिकाल में भूषण और लाल जैसे वीर कवियों का प्रादुर्भाव हुआ और संतों और भक्तों की परंपरा भी बंद नहीं हुई। इस प्रकार हिंदी साहित्य के प्रत्येक युग में दूसरे प्रकार की भी रचनाएँ केवल मध्यदेश या राजपूताने में ही नहीं, वरन् उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में केरल तक और पश्चिम में गुजरात से पूर्व में आसाम तक होती रहीं। पर यह अवश्य है कि किसी एक युग में एक प्रकार की प्रवृत्ति की प्रधानता हो जाती थी और अन्य प्रवृत्तियों की धारा क्षीणतर हो जाती थी। अतः हिंदी साहित्य के कालविभाग तथा प्रत्येक काल की विशेषताओं के प्रदर्शन से हमारा यह आशय कदापि नहीं है कि एक काल के समाप्त होते ही काव्य-धारा दूसरे दिन से ही दूसरी दिशा में बहने लगी और न यही अभिप्राय है कि उन विभिन्न कालों में अन्य प्रकार की रचनाएँ हुई ही नहीं। ऐसा समझना तो मानों साहित्य को गणित-शास्त्र की श्रेणी में मान लेना होगा; और साथ ही कवियों के उस व्यक्तित्व का अपमान करना होगा जो देश तथा काल के परे है। साहित्य पर काल का प्रभाव पड़ता अवश्य है, परंतु विभिन्न कालों का परिवर्तन बहुधा आकस्मिक हुआ करता है। राजनीतिक तथा सामाजिक स्थितियाँ धीरे धीरे बदलती हैं, एक ही दिन में वे परिवर्तित नहीं हो जातीं। इसी प्रकार काव्यधारा भी धीरे धीरे अपना पुराना स्वरूप बदलती तथा नवीन रूप धारण करती है, वह कभी

एक दम से नया मार्ग नहीं ग्रहण करती। दूसरी बात यह है कि साहित्य कोई यांत्रिक क्रिया नहीं है कि सामाजिक आदि स्थितियों के बदलते ही तुरंत बदल जाय। कभी कभी तो साहित्य ही आगे बढ़कर समाज का नियंत्रण करता है और उसे नए मार्ग पर लाता है। साथ ही यह भी सत्य है कि किसी किसी काल में सामाजिक अथवा राजनीतिक आदि स्थितियों के सुधर जाने पर भी साहित्य पिछड़ा ही रहता है और बड़ी कठिनता से समाज के साहचर्य में आता है, उसके अनुकूल होता है। कहने का तात्पर्य यही है कि यद्यपि साहित्य का समाज की विभिन्न स्थितियों से बड़ा घनिष्ठ संबंध होता है परंतु वह संबंध ऐसा यांत्रिक तथा कठोर नहीं होता कि साहित्य स्थितियों की अवहेलना न कर सके और स्वतंत्र रीति से उसका विकास न हो सके।

साहित्य के इतिहास में कालविभाग कर लेने से उसकी विभिन्न कालों की स्थिति समझने में सुगमता तो अवश्य होती है, परंतु साथ ही यह बात न भूल जानी चाहिए कि साहित्य एक वैयक्तिक कला है; और प्रत्येक बड़े साहित्यकार की अपनी वैयक्तिक विशेषताएँ होती हैं। यद्यपि ये विशेषताएँ देश और काल से बहुत कुछ निरूपित होती हैं, तथापि इनमें साहित्यकार के व्यक्तित्व की भी छाप होती है। प्रतिभाशाली तथा विचक्षण कवि अथवा लेखक कभी कभी स्वतंत्र रीति से वाणी के विलास में प्रवृत्त होते हैं और समाज की साधारण स्थितियों का उन पर प्रायः कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। अधिकतर यही देखा जाता है कि जो कवि जितना ही अधिक स्वतंत्र तथा मौलिक विचारवाला होता है वह समाज की लकीर पर चलना उतना ही अधिक अस्वीकार करता है और उतना ही अधिक वह साहित्य के साधारण प्रवाह से दूर पहुँच जाता है। हिंदी के प्रमुख वीर कविताकार "भूषण" ने देश भर

में विस्तृत रूप में व्याप्त शृंगार-परंपरा के युग में जिस स्वतंत्र पथ का अवलंबन किया उससे हमारे इस कथन का प्रत्यक्ष रीति से समर्थन होता है। ऐसे अन्य उदाहरण भी उपस्थित किए जा सकते हैं परंतु ऐसा करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। साहित्य-कला की यही विशेषता देखकर साहित्य के कुछ इतिहासलेखक उसका कालविभाग न करके उसके मुख्य मुख्य कवियों तथा लेखकों को ही कालनायक मान लेते तथा उन्हीं के संबंध में अपने विचार प्रकट करते हैं।

त्रुटियों का प्रतिकार

परंतु मेरे विचार से मध्यम पथ का ग्रहण श्रेयस्कर होगा। यह पथ ग्रहण करने से एक ओर तो हम साहित्य पर काल की अनेक स्थितियों का प्रभाव दिखला सकेंगे और दूसरी ओर साहित्यकारों की वैयक्तिक विशेषताओं का प्रदर्शन भी कर सकेंगे। वास्तव में साहित्य के इतिहास का सच्चा ज्ञान तभी हो सकता है जब विभिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक आदि स्थितियों से उसके संबंध का निरूपण होता जाय; साथ ही उसकी वे विशेषताएँ भी स्पष्ट होती जायँ जो प्रतिभाशाली तथा विचक्षण कवियों और लेखकों से उसे प्राप्त होती हैं। इस पुस्तक में इसी शैली के अनुकरण का प्रयत्न किया जायगा।

———

दूसरा अध्याय

भिन्न भिन्न परिस्थितियाँ

हम पहले अध्याय में यह कह चुके हैं कि देश और काल से साहित्य का अविच्छिन्न संबंध है, और प्रत्येक देश के विभिन्न कालों की सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक आदि स्थितियों का प्रभाव उस देश के साहित्य पर पड़ता है। जिस प्रकार साहित्य-कला में देशगत और कालगत भेद होते हैं, उसी प्रकार अन्य ललित कलाएँ भी देश और काल के अनुसार अपना रूप बदला करती हैं। साहित्य का विकास ठीक ठीक तभी हृदयंगम हो सकता है जब अन्य ललित कलाओं के विकास का इतिहास भी जान लिया जाय और उनके विकास का स्वरूप समझने का प्रयास किया जाय। अतः हिंदी साहित्य के विकास का इतिहास लिखने से पहले उत्तर भारत की उन राजनीतिक और सामाजिक आदि प्रगतियों का जान लेना भी आवश्यक है जिनसे प्रभावान्वित होकर हिंदी साहित्य पल्लवित और पुष्पित हुआ है, और जो उसके विकास में सहायक हुई हैं। इसी प्रकार वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला आदि विभिन्न ललित कलाओं की प्रगति भी समझ लेनी चाहिए, क्योंकि साहित्यकला भी इन्हीं में से है और उनमें सबसे ऊँचे स्थान की अधिकारिणी है। अतएव इस अध्याय में हम उत्तर भारत की राजनीतिक सामाजिक सांप्रदायिक तथा धार्मिक आदि अवस्थाओं का और अगले अध्याय में उस काल की ललित कलाओं का संक्षेप में दिग्दर्शन करावेंगे। हिंदी

साहित्य के विकास से ठीक ठीक परिचित होने के लिये उपर्युक्त दोनों बातों का जान लेना बहुत आवश्यक है।

पूर्वाभास

उत्तर भारत में हर्षवर्द्धन अंतिम हिंदू सम्राट् हुआ जिसने अपने प्रभाव, बल और शौर्य से समस्त उत्तरापथ में अपना एकाधिपत्य स्थापित किया और जो अपनी धर्मबुद्धि तथा शासननीति के कारण प्रजा को सुख-समृद्धि-पूर्ण करके देश के महान् शासकों की श्रेणी में प्रतिष्ठित हुआ। उसके शासनकाल में भारत ने वह शांति और सुव्यवस्था पाई थी जो उसे विशाल मौर्य तथा गुप्त साम्राज्यों में ही मिली थी। उस काल के चीनी यात्री हुएन्सांग के वर्णनों में तत्कालीन सामाजिक स्थिति का जो दिव्य चित्र दिखाई पड़ता है, उसकी समता इस देश के इतिहास में कठिनता से मिल सकती है। धार्मिक अवस्था भी बहुत ही संतोषजनक थी। यद्यपि बौद्ध धर्म अपनी चरम उन्नति के उपरांत शिथिल पड़ता जा रहा था और वैदिक ब्राह्मण धर्म की फिर से प्रतिष्ठा होने लगी थी; पर यह कार्य बड़ी ही शांति के साथ, विप्लव-विद्रोह-रहित रूप में हो रहा था। हर्षवर्द्धन स्वयं धर्मप्राण नृपति था; पर उसमें वह धार्मिक कट्टरपन नाम को भी नहीं था जिससे क्रांति और हिंसा को प्रश्रय मिला करता है। तर्क और बुद्धि की महत्ता से अपने अपने धर्म का प्रचार करने का अधिकार सबको था; और राज्य की ओर से भी समय समय पर ऐसी धार्मिक सभाएँ हुआ करती थीं, पर उनमें पक्षपात या विद्वेष का भाव नहीं रहता था। इस प्रकार की धार्मिक उदारता हर्षवर्द्धन की उन्नति का मुख्य कारण था। प्रजा भी उसकी उदार नीति और सुचारु शासन से प्रसन्न होकर राजभक्त बनी थी। सारांश यह कि क्या राजनीतिक और क्या धार्मिक सभी दृष्टियों से हर्षवर्द्धन का शासनकाल देश के लिये

बहुत ही कल्याणकर हुआ और उसमें भारत के बल-वैभव की भी विशेष वृद्धि हुई।

आदि काल

हर्षवर्द्धन की मृत्यु विक्रम संवत् ७०४ में हुई। उसके पीछे का भारतवर्ष का इतिहास आपस के लड़ाई-झगड़ों का इतिहास है।

सांस्कृतिक स्थिति

हर्ष की मृत्यु के साथ ही हिंदुओं के अंतिम साम्राज्य का अंत हो गया और देश खंड खंड होकर विभिन्न अधिपतियों के हाथों में चला गया। हर्ष के साम्राज्य के भिन्न भिन्न अंशों पर अनेक खंड-राज्य स्थापित हुए जो आधिपत्य के लिये आपस में लड़ते रहे। इनमें मुख्य तोमर, राठौर, चौहान, चालुक्य और चंदेल थे। इनकी राजधानियाँ दिल्ली, कन्नौज, अजमेर, धार और कालिंजर में थीं। हमारे हिंदी साहित्य का इतिहास उस समय से आरंभ होता है जब ये राज्य स्थापित हो चुके थे।

यद्यपि मुसलमानों का भारतवर्ष में पहले पहल आगमन खलीफा उमर के समय में संवत् ६९३ में हुआ था और इसके अनंतर सिंध पर निरंतर उनके आक्रमण होते रहे थे, पर ये आक्रमण लूट-पाट के उद्देश से होते थे, राज्य स्थापन की कामना से नहीं होते थे। पीछे से ये लोग यहाँ बसने और जीते हुए प्रदेश पर अपना शासनाधिकार जमाने के अभिलाषी हुए। कुछ राजवंश मुलतान, मनसूरा आदि में स्थापित हुए और सैयदों ने सिंधु-तटों के प्रदेश पर अपना अधिकार जमाया। इस प्रदेश पर मुसलमानों के इन आक्रमणों का कोई स्थायी प्रभाव नहीं पड़ा। उन्होंने अपने शासन के जो कुछ चिह्न छोड़े, वे बड़ी बड़ी इमारतों के भग्नावशेष मात्र हैं, जो आक्रमणकारियों की क्रूरता और अत्याचार के स्मारक स्वरूप अब तक वर्तमान हैं। उन मुसलमानों का

भारतीयों की संस्कृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा, पर यहाँ की संस्कृति के प्रभाव से वे अछूते नहीं रह सके। इस संबंध में डाक्टर ईश्वरीप्रसाद अपने मध्य-कालीन भारत के इतिहास में लिखते हैं—

"यह निस्संकोच होकर स्वीकार करना पड़ेगा कि सिंध पर अरबों की विजय इस्लाम के इतिहास में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण राजनीतिक घटना नहीं है, परंतु इस विजय का मुसलमानों की संस्कृति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। जब अरबवासी भारतवर्ष में आए तब वे इस देश की उच्च सभ्यता देखकर चकित हो गए। हिंदुओं के उच्च दार्शनिक सिद्धांत तथा उनकी बुद्धि की तीव्रता और पांडित्य आदि देखकर उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। मुसलमानों का सर्वश्रेष्ट धार्मिक सिद्धांत एक ईश्वर की कल्पना है, पर यह तो हिंदू महात्माओं और दार्शनिकों को बहुत पहले से मालूम था। उच्च कलाओं में हिंदू बहुत बढ़े चढ़े थे। भारतीय संगीतज्ञ, वास्तुकलाकार तथा चित्रकार भी अरबों की दृष्टि में उतने ही आदरणीय थे जितने भारतीय दर्शनशास्त्री और पंडित थे। राज्यशासन-नीति आदि व्यावहारिक विषयों में अरबों ने हिंदुओं से बहुत कुछ सीखा। वे उच्च पदों पर ब्राह्मणों को ही नियुक्त करते थे। इसका कारण यही था कि वे ज्ञान में, अनुभव में और कार्य-कुशलता में अधिक दक्ष थे। अरब संस्कृति के अनेक अव-यव, जिन्हें युरोप ने प्रचुरता से ग्रहण किया था, भारत से ही प्राप्त हुए थे। उस समय भारतवर्ष बुद्धि के ऊँचे धरातल पर स्थित था और अनेक यवन विद्वान् भारत के बौद्ध तथा ब्राह्मण पंडितों से दर्शन, ज्योतिष, गणित, आयुर्वेद तथा रसायन आदि विद्याएँ सीखते थे। बगदाद के तत्कालीन दरबार में भारतीय पंडितों का सम्मान होता था और खलीफा मंसूर (संवत् ८१०-३१) के समय में

३

कुछ अरब विद्वान् भारत से ब्रह्म-गुप्त-रचित ब्रह्मसिद्धांत और खंड-खाद्यक नामक ग्रंथ ले गए थे। इन्हीं पुस्तकों से पहले पहल अरबों ने ज्योतिष शास्त्र के प्राथमिक सिद्धांतों को समझा था। खलीफा हारूँ (सं० ८४३-८६५) के वजीरों से, जो बरमकवंशीय थे, हिंदुओं की विद्या को बड़ा प्रोत्साहन मिला। यद्यपि बरमक-परिवार ने इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था, फिर भी वे उसमें विशेष अनुरक्त नहीं थे। हिंदू धर्म की ओर प्रवृत्ति होने के कारण उन्होंने अरब के अनेक विद्वानों को आयुर्वेद, ज्योतिष, कृषि तथा अन्य विद्याओं की शिक्षा प्राप्त करने के लिये भारत में भेजा था। परंतु यह अवश्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि मुसलमानों ने भारत से प्राप्त ज्ञान को लौकिक आवरण देकर युरोप के सामने एक नवीन रूप में रखा। युरोपीय विचारों के लिये यह उपयुक्त भी सिद्ध हुआ। हैवेल साहब के इस विचार का समर्थन करने को अनेक प्रमाण हैं कि इस्लाम की किशोरावस्था में उसे भारत ने ही शिक्षा दी थी, यूनान ने नहीं। भारत ने ही उसके दर्शन-तत्त्व निरूपित किए थे और प्रेम-विशिष्ट धार्मिक आदर्शों को स्थिर किया था। भारत की ही प्रेरणा से मुसलमानों के साहित्य, कला और शिल्प आदि को सुचारु स्वरूप मिले थे।"

परंतु संस्कृति की दृष्टि से हिंदुओं पर विजय न पा सकने पर भी धीरे धीरे मुसलमानों का आतंक बढ़ता गया और उनके आक्रमण बहुत कुछ दृढ़ और नियमित हो गए। हिंदू बिलकुल निर्बल नहीं थे, उनकी सेनाएँ बलवती थीं, पर दार्शनिक वाद-विवाद और अहिंसा आदि पर विश्वास करनेवाली जाति बहुत दिनों तक अपनी रक्षा नहीं कर सकी। यद्यपि उस समय हिंदुओं में वर्णभेद के कारण आजकल का सा जातीय कट्टरपन नहीं आ सका था, परंतु संघटित होकर यवन-शक्ति का विरोध करने में हिंदुओं की

समस्त शक्ति एकत्र नहीं हो सकी। ब्राह्मणों में शैव, शाक्त आदि विभेद भी हो चले थे और क्षत्रियों में तो आपस की छीना-झपटी लगी ही थी। इस प्रकार जातीय शक्ति विशृंखल होकर पराधीनता की बेड़ी पहनने को तैयार हो गई थी।

इसी समय गजनी के सुलतान महमूद के प्रसिद्ध आक्रमण प्रारंभ हुए। देश का अनंत धन-जन छीना गया। मंदिर तोड़े गए, कला के सुंदरतम निदर्शन नष्ट कर दिए गए। फिर भी राजपूत राजाओं की नींद न खुली, उनका आपस का विद्वेष बना ही रहा। अंत में गजनी साम्राज्य के उखड़ जाने पर गोर प्रदेश के अधिपति ने यवन-शक्ति का नवीन संघटन किया तब मुसलमानों की नीति में बिलकुल परिवर्तन हो गया। इसके पहले उनके आक्रमणों का मुख्य उद्देश लूट-मारकर काफिरों को तंग करना और इस देश की अतुल धन संपत्ति को विदेश ले जाना तथा यहाँ के निवासियों को गुलाम बनाना था, पर अब वे भारत पर राजनीतिक आधिपत्य जमाने का प्रयत्न करने लगे। मुहम्मद गोरी ने पहले तो पंजाब प्रदेश का एक विस्तृत भूभाग हस्तगत किया और फिर उत्तर भारत के प्रसिद्ध राजपूत राज्यों पर चढ़ाई करने का आयोजन किया। हिंदू शक्ति दिल्ली के प्रसिद्ध चौहान अधिपति पृथ्वीराज की अध्यक्षता में एक बार जागी और गोरी को अनेक बार हारकर भागना और कैद होना पड़ा, पर बंधुभाव-समन्वित यवन सेना के सामने हिंदू बहुत समय तक नहीं ठहर सके। पारस्परिक झगड़ों में ही उनका बहुत कुछ ह्रास हो गया था। फलतः मुहम्मद गोरी ने संवत् १२४९ में प्रसिद्ध तराई की लड़ाई में हिंदुओं को पराजित कर दिया। यवन घुड़सवारों का वह पराक्रम हिंदुओं को हताश करने में सहायक हुआ। इसके उपरांत क्रमशः कन्नौज आदि के विस्तृत हिंदू-

राजनीतिक अवस्था

राज्य भी मुसलमानों से पादाक्रांत हुए और थोड़े समय में ही पंजाब से लेकर बंगाल तक यवन झंडा फहराने लगा। कन्नौज के तत्कालीन नरेश जयचंद ने मुहम्मद गोरी से मिलकर पृथ्वीराज को हराने का षड्यंत्र रचा था, अतः इतिहास में उसका नाम राष्ट्र के साथ विश्वासघात करनेवालों की श्रेणी में लिखा गया है। पर वास्तव में सारी जाति को ही भारत का स्वातंत्र्य खोने का अपराधी मानना उचित होगा। जयचंद की प्रवृत्ति उस समय के समस्त खंडाधिपतियों की प्रवृत्ति हो रही थी, नहीं तो एक जयचंद के विश्वासघात से समस्त देश का पराजित होना कभी संभव नहीं था।

यद्यपि देश ने अपनी स्वतंत्रता खोकर उन समस्त संकटों का सामना किया जो एक परतंत्र देश को करने पड़ते हैं, पर मुसलमानों के शासन से कुछ लाभ भी हुए। यह ठीक है कि हिंदू आत्मसम्मान खो बैठे, उनके गौरव का ह्रास हो गया और विजातीय तथा विधर्मी शासन के प्रतिष्ठित होने के कारण यहाँ की धार्मिक तथा सामाजिक व्यवस्था को बड़ा धक्का लगा, परंतु जो जाति क्षुद्र स्वार्थों के वशीभूत होकर अपनी राष्ट्रीयता का अनुभव नहीं कर सकती उसे ऐसा ही फल मिलता है। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। मुसलमानों के राज्य स्थापन के उपरांत उनकी भाषा और उनके धर्म का प्रचार भी हुआ, और कुछ निरंकुश शासकों ने तलवार के बल से धर्म का प्रचार किया और यहाँ की समाजनीति को उलट-पुलट डालने में पाशविक बल की सहायता ली। समाजनीति के सुव्यवस्थित संचालन के लिये जिस अनुकूल राजशक्ति तथा अन्य वातावरण की आवश्यकता होती है वह हिंदुओं को बहुत कम प्राप्त हुई, फलतः उनके सामाजिक बंधन बहुत कुछ शिथिल और अनियमित हो गए। परंतु साथ ही हमको यह भी स्वीकार करना

पड़ेगा कि यवन शासन के स्थापित हो जाने पर एक सीमा तक उस सुख और समृद्धि का काल आया जो विशाल साम्राज्यों में ही प्राप्त हो सकता है, टूटे फूटे और संघर्षपूर्ण खंड राज्यों में नहीं मिल सकता। इसके अतिरिक्त नवीन यवनशक्ति में जो सजीवता और उत्साह था, उससे यहाँ के वायुमंडल को एक अभिनव चेतना मिली और अनेक क्षेत्रों में नवीन प्रगति का आरंभ हुआ। मुसलिम कला के संयोग से भारतीय कला एक नए साँचे में ढली और मुसलमानों की बाहरी "तहज़ीब" (शिष्टता) का भी हम पर बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। साहित्य के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए। अरबी भाषा का एक अच्छा साहित्य था, जिसे यहाँ के निवासियों ने थोड़ा बहुत ग्रहण किया। आज हम साधारण बोल-चाल में जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, उसमें मुसलमानों की अरबी और फारसी भाषाओं के शब्दों का भी कम मेल नहीं रहता।

सामाजिक अवस्था

जिस समय राजनीतिक क्षेत्र में मुसलमानों का प्रभाव बढ़ रहा था और उनके आक्रमण तथा राज्य-स्थापन के कार्य शीघ्रता से चल रहे थे, उस समय भारत की धार्मिक परिस्थिति तथा सामाजिक अवस्था में भी परिवर्तन हो रहा था। हम पहले ही कह चुके हैं कि हर्षवर्द्धन के समय से ही बौद्ध धर्म का ह्रास होने लगा था। उस ह्रास के कई कारण बतलाए जाते हैं; परंतु उसकी अवनति का प्रधान कारण बुद्ध के उपदेशों का लोक-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित न हो सकना ही था। वे उपदेश केवल वैयक्तिक साधना के उपयुक्त थे और उन्हें समाज ग्रहण नहीं कर सका। बौद्ध धर्म जिन उच्च आदर्शों पर अधिष्ठित है, उनका पालन साधारण जनता न कर सकी। तत्कालीन संघों में अनाचार बढ़ने लगा और स्थविर भी विलासी और धनलोलुप हो गए। यह बुद्ध के उपदेशों के सर्वथा विपरीत था। बुद्ध ने

जिस सरल और त्यागपूर्ण जीवन का आदर्श स्थापित किया था, वह उनके अनुयायियों में प्रतिष्ठित न हो सका। उसी अवसर पर क्षत्रिय नृपतियों की उग्र मनोवृत्तियों के सामने बौद्ध अहिंसावाद ठहर न सका और उसके अनुयायी कम होने लगे। ऐसी परिस्थिति में महात्मा शंकर का आविर्भाव हुआ, जिनकी तीव्र विवेचन-शक्ति और अद्‌भुत ज्ञान का सहारा पाकर हिंदू-धर्म नव जीवन प्राप्त करके जाग उठा। शंकर स्वामी के प्रसिद्ध दिग्विजय के फल-स्वरूप बौद्ध धर्म का समस्त उत्तर भारत से उन्मूलन हो गया और उसे बिहार के कुछ विहारों में ही शरण लेनी पड़ी। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के मध्य में जब मुसलमानों का आक्रमण बिहार पर हुआ तब रहे सहे बौद्ध भी लुप्त हो गए और इस प्रकार इस देश में उस धर्म का अस्तित्व ही प्रायः मिट सा गया जो किसी समय देशव्यापी हो रहा था। वैदिक हिंदू धर्म की पुनःप्रतिष्ठा हो जाने पर शैव, शाक्त, वैष्णव आदि अनेक प्राचीन संप्रदाय भी फिर से प्रतिष्ठित हुए जिनमें पारस्परिक स्पर्द्धा रहती थी। तत्कालीन राजपूतों की मनोवृत्ति की सहायता से शैव तथा शाक्त संप्रदायों की ही विशेष अभिवृद्धि हुई थी। मिटते हुए बौद्ध धर्म ने भी शैव धर्म से प्रभावित होकर नाथ पंथ के रूप में अपने को केवल जीवित ही नहीं रखा, अपना प्रभाव भी व्यापक रूप में बढ़ाया।

तत्कालीन समाज में क्षत्रियों का प्राबल्य था, ब्राह्मण पूज्य अवश्य समझे जाते थे, पर उनको श्रेष्ठता कम हो चली थी। वह राजपूतों का उत्थान काल था। राजपूत सरल प्रकृति के परंतु शक्तिसंपन्न और वीर योद्धा थे। उनकी उदारता भी कम प्रसिद्ध न थी। वे अपनी स्त्रियों का विशेष सम्मान करते थे और उनकी रमणियाँ भी अपने पूज्य पतियों के लिये प्राणों तक का मोह नहीं करती थीं। जौहर की प्रथा तब तक प्रचलित थी जिससे तत्कालीन

राजपूत वीरांगनाओं के पतिपरायण होने का उज्ज्वल परिचय मिलता है। परंतु राजपूतों में बहुत से अवगुण भी थे जिनके कारण उनकी शक्ति क्षीण हो गई। वे प्रायः छोटी छोटी बातों में परस्पर लड़ पड़ते थे। वैयक्तिक स्पर्द्धा से अंधे होकर जाति और राष्ट्र के लाभों को वे विस्मृत कर देते थे, संघटित होकर विपत्तियों का सामना करने के लिये प्रवृत्त न होते थे। यह ठीक है कि वीसलदेव, पृथ्वीराज, हम्मीरदेव तथा राणा साँगा जैसे वीर राजपूत भी हुए जिन्हें देश के गौरव का विशेष ध्यान था, पर अधिकांश राजपूत राजाओं में राष्ट्रीय चेतना का अभाव था। प्रजा भी तत्कालीन राजनीतिक उलट-फेर में पड़कर अपना ध्येय निरूपित न कर सकी। फलतः उसमें भी कलह और विद्वेष का विष व्याप्त हो गया। जातीय पतन का यह बहुत ही भीषण काल था।

उस समय के प्रसिद्ध मुसलमान इतिहासलेखक अलबैरूनी के अनुसार भारतवर्ष में काश्मीर, दिल्ली, सिंध, मालवा तथा कन्नौज आदि प्रसिद्ध राज्य स्थापित थे। समाज में गोत्र, प्रवर आदि के अनुसार जाति पाँति के झगड़े बढ़ रहे थे। चार वर्णों के स्थान पर अनेक उपजातियाँ हो गई थीं जो परस्पर खान पान और विवाह आदि का संबंध नहीं रखती थीं। बाल-विवाह की प्रथा थी, पर विधवा-विवाह का निषेध था। ब्राह्मण मद्यप नहीं थे। अंत्यज आठ प्रकार के होते थे जिनमें पारस्परिक विवाहसंबंध होता था। उच्च वर्ण इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते थे, पर इस्लाम धर्म के साथ साथ समानता के सिद्धांत का प्रचार हुआ और अंत्यजों के प्रति उच्च वर्णों के व्यवहार में भी परिवर्त्तन हुए।

यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि यद्यपि इतिहासकार प्रायः यही मानते हैं कि इस्लाम धर्म के साथ साथ हिंदुओं में समानता के सिद्धांत का प्रचार हुआ, परंतु इस्लाम और ईसाई धर्म के भी

जन्म के सैकड़ों वर्ष पूर्व उपनिषदों ने सर्वभूत में एक ही आत्मा का दर्शन करने की शिक्षा दी थी और श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्वपच और श्वान तक में समभाव रखने का उपदेश दिया गया है। बुद्ध ने ईसा के ५०० वर्ष पूर्व मानवमात्र की जो समानता घोषित की थी उसका बौद्ध धर्म में बराबर आदर होता रहा। नाथ पंथ, निर्गुन संतमत तथा वैष्णव धर्म में उसी प्राचीन परंपरा का विकास है, उन्हें समानता का सिद्धांत इस्लाम ने पहले पहल नहीं सिखाया था। हाँ, यह अवश्य मानना चाहिए कि हिंदुओं के व्यवहार में उस समय इसका यथोचित पालन नहीं हो रहा था और हिंदू धर्म के नवजागर्तिकाल में इसके प्रचार को इस्लामी भ्रातृभाव के प्रत्यक्ष उदाहरण से उत्तेजना अवश्य मिली होगी।

पूर्व मध्य काल

मुहम्मद गोरी के उपरान्त दिल्ली का शासनाधिकार क्रमशः गुलाम, खिलजी तथा तुगलक राजघरानों के हाथ में रहा। यद्यपि इन राजवंशों ने कई सौ वर्षों तक भारत के विस्तृत भूभाग पर शासन किया; पर इस समय कोई सुव्यवस्थित शासननीति आविर्भूत न हो सकी। विभिन्न अधिपति अपनी अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार राज्य करते थे और प्रजा को उनकी नीति स्वीकार करनी पड़ती थी। उस काल में यद्यपि मुसलमानों के पैर इस देश में अच्छी तरह जम गए थे और उन्हें यहाँ से निकाल बाहर करने की शक्ति हिंदुओं में नहीं रह गई थी, फिर भी हिंदुओं ने उस समय तक विदेशीय शासन को एकदम अंगीकार नहीं कर लिया था। मुसलमान शासक भी अब तक किसी बड़े साम्राज्य के स्थापन का कार्य नहीं कर सके थे और राजपूत राजाओं से कर लेकर ही वे संतोष कर लेते थे।

राजनीतिक अवस्था

इस काल में यद्यपि अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक और फीरोज शाह जैसे बड़े नृपति भी हुए, पर ये उस केंद्रीय शासन की प्रतिष्ठा करने में समर्थ नहीं हुए जिसका सम्यक् आविर्भाव मुगल काल में हुआ। अनेक मुसलमान राजवंश बहुत कुछ स्वतंत्र होकर जौनपुर आदि में स्थापित हुए जो दिल्ली के मुख्य शासन से प्राय: असंपर्कित थे। इब्न बतूता नामक तत्कालीन इतिहासलेखक के अनुसार यह मानना पड़ता है कि इस काल के शासकों में देश की हितचिंता भी अवश्य थी और औषधालयों, यात्रागृहों आदि की स्थापना करके वे प्रजा का पर्याप्त हित साधन भी करते थे; परंतु उनकी अनियमित शासननीति के कारण देश में वह शांति और समृद्धि नहीं आ सकी थी जो पीछे से अकबर आदि के शासन-काल में आई। मुसलमानों के शासन का यह आदि काल था; अत: इसमें विशेष प्रौढ़ता और स्थिरता की आशा नहीं की जा सकती थी।

इन मुसलमान शासकों के समय में विलासिता की वृद्धि हुई और मुसलमान तथा हिंदू दोनों ही नैतिक दृष्टि से अध:पतित होने लगे। मदिरा का प्रचार व्यापक रूप में हो रहा था और बड़ी बड़ी बुराइयाँ शीघ्रता से फैल रही थीं। यद्यपि बलबन तथा अलाउद्दीन आदि कुछ शासकों ने सुधार की चेष्टा की थी, परंतु वैभव की वृद्धि के कारण एक ओर तो मुसलमानों को उस ओर ध्यान देने का अवसर ही नहीं मिला और दूसरी ओर उस वृद्धि के साथ ही धार्मिक शिथिलता भी आई तथा समाज में अनेक प्रकार के अंध-विश्वास घुस गए। अज्ञान का साम्राज्य था। हिंदू तो पराधीन होकर पहले ही गौरवहीन हो गए थे, अब विलास में फँसकर उन्हें पूरी पूरी आत्मविस्मृति हो गई। शास्त्रज्ञ पंडित तो मुसलमानों के संसर्ग में बहुत कम

सामाजिक अवस्था

आए और उन्हें 'म्लेच्छ' कहकर बराबर अपनी उच्चता की ही घोषणा करते रहे, पर साधारण जनता विलासमग्न रहती हुई भी बहुत दिनों तक आत्मप्रवंचना न कर सकी। हिंदुओं को विजेता यवन नीची निगाह से देखते और उनका तिरस्कार करते थे। उन्हें धार्मिक स्वतंत्रता मिली थी, पर जज़िया जैसे कर देने पर। उच्च सरकारी पदों पर वे बहुत कम लिए जाते थे। धार्मिक विषयों का निर्णय मुसलमान काजी करते थे, जिससे हिंदुओं के साथ न्याय होने की बहुत कम आशा रहती थी। हिंदुओं का जान माल सब अनिश्चित अवस्था में था, उनके साथ यवन शासकों की बहुत कम सहानुभूति थी। ऐसी परिस्थिति में हिंदू कब तक आत्मवंचना करते और विलास की नींद में सोते रहते? परंतु वे कर ही क्या सकते थे। जीवन में उन्हें सहारा ही किसका था? वे शक्तिहीन और असंघटित थे। इस समय कोई ऐसा व्यक्ति नहीं था जो उनका उन्नयन करने में समर्थ होता। यदि उन्हें कुछ आशा रह गई थी तो वह केवल लोकपालक, असुरविनाशक, भक्तभयहारी ईश्वर की अमोघ शक्ति की थी।

मध्यकालीन धार्मिक उत्थान

एक ओर जब साधारण हिंदू जनता की यह अवस्था हो रही थी तो दूसरी ओर मुसलमानों का एकेश्वरवाद और परस्पर भ्रातृभाव तथा धर्म परिवर्तन से मिलनेवाली भौतिक सुविधाएँ उनके लिये आकर्षण का कारण बन रही थीं। सूफी संत भी देश में फैलकर अपने प्रेम भाव से समाज के निम्नस्तर के लोगों के हृदयों में घर कर रहे थे। ऐसे समय में भाग्यवश हिंदू धर्म के आचार्यों की कृपा से प्राचीन भागवत धर्म का फिर से उदय हुआ और वह धार्मिक आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिसे इतिहास में वैष्णव आंदोलन कहा गया है। भगवान् के लोक-पालक रूप की विष्णु के रूप में प्रतिष्ठा करके

उनकी भक्ति का मार्ग समस्त देश में प्रशस्त कर दिया गया। हिंदुओं को उस समय जिस निराशा और निरुत्साह ने घेर लिया था, उसकी प्रतिक्रिया प्रारंभ हो गई। नवीन धार्मिक चेतना से अनुप्राणित होकर हिंदू जाति एक बार फिर से सचेत हो उठी। यह ठीक है कि इस आंदोलन का बाह्य स्वरूप बहुत कुछ बदलता रहा, और विष्णु, राम, कृष्ण आदि विभिन्न उपास्य देवों की प्रतिष्ठा भी हुई; पर हम यह नहीं भूल सकते कि इस विभिन्नता में भी आंतरिक एकता है और वह एकता भगवान् की लोकरंजनी और लोकरक्षिणी सगुण शक्ति की आराधना के रूप में दिखाई देती है। इस देश में मुसलमानों के बस जाने के कारण जो स्थिति उत्पन्न हो गई थी यद्यपि उसका प्रभाव भी इस आंदोलन पर पड़ा, पर निस्संकोच भाव से इतना कहा जा सकता है कि अपने शुद्ध स्वरूप में, यह हिंदुओं के शास्त्रानुकूल था और सगुणोपासना के उस सिद्धांत पर अवलंबित था जिसका आविर्भाव इस देश में मुसलमानों के आने से बहुत पहले हो चुका था। इस नवीन धार्मिक आंदोलन का अन्य क्षेत्रों पर जो प्रभाव पड़ा, वह तो पड़ा ही, साहित्यक्षेत्र भी उसके शुभ परिणाम-स्वरूप अनंत उर्वर हो उठा और अनेक प्रतिभाशाली कवियों की वाणी से असंख्य जनता अपूर्व शांति और आशा से लहलहा उठी। यहाँ पर हम इस आंदोलन का संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक समझते हैं क्योंकि इसका हिंदी साहित्य के विकास से बहुत घनिष्ठ संबंध है।

हम पहले कह चुके हैं कि शंकर स्वामी ने बौद्ध धर्म को दबाकर भारतीय जन समाज में वैदिक धर्म की पुनःप्रतिष्ठा की थी। महात्मा शंकर ने श्रुतियों को ही प्रमाण मानकर अद्वैतवाद का प्रचार किया था और ब्रह्म सत्य तथा जगत् मिथ्या का सिद्धान्त प्रतिपादित और प्रतिष्ठित किया था। "ब्रह्म से विभिन्न कोई सत्ता

नहीं है, जीव भी ब्रह्म ही है और जगत् भी ब्रह्म ही है। माया ब्रह्म की ही शक्ति है जिसके कारण ब्रह्म और जीव का अभेद प्रतीत नहीं होता।" संक्षेप में शंकर का यही सिद्धांत है। व्यापक ब्रह्म की कल्पना से महात्मा शंकर ने पुन: उस आध्यात्मिक उदारता को समाज में प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की जो इस देश की बड़ी पुरानी विशेषता थी किंतु जो समय के फेर से सांप्रदायिक संकीर्णता और मतमतांतरों की विविधता के अंधकार में लुप्त हो रही थी। इससे हिंदू जाति को एकता के सूत्र में ग्रथित होने तथा आत्म-शक्ति का संचय करने की प्रेरणा प्राप्त हुई। तुलसीदास आदि महात्माओं तथा कबीर आदि संतों ने समान रूप से इसका आधार ग्रहण कर अपनी काव्य-भूमि का निर्माण किया। सांसारिक तथा व्यावहारिक आदर्शों में इस मत के परिणाम-स्वरूप एक स्वच्छंद प्राकृतिक प्रवृत्ति का प्रकाश फैला क्योंकि इस मत ने अनेक बौद्धिक और कृत्रिम रूढ़िगत बंधनों को नष्ट कर दिया। इस संन्यास-मत के फल-स्वरूप उच्च कोटि के दार्शनिक कवियों और महात्माओं का आविर्भाव हुआ जिससे हिंदी साहित्य की अपूर्व उन्नति हुई। एक प्रकार से महात्मा शंकर की ही प्रबल आध्यात्मिक प्रेरणा से मध्यकालीन धार्मिक आंदोलन की प्राणप्रतिष्ठा हुई जिसका अमित प्रभाव हिंदी साहित्य पर पड़ा। शांकर मत का मायावाद, कुछ विद्वानों के विचार से, जनता में निराशा फैलाने तथा भाग्य को प्रधानता प्राप्त कराने में सहायक हुआ। परंतु इस विषय में हमारा बहुत कुछ मतभेद है।

शांकर अद्वैतवाद अपनी उपर्युक्त विशेषताओं के होते हुए भी भक्ति या उपासना का सुदृढ़ आलंबन न उपस्थित कर सका। उसके लिये अधिक व्यक्तिगत तथा विशिष्ट सत्ता की आवश्यकता थी। हिंदू तो लोक-व्यवहार में सहायता पहुँचानेवाले, दुःखों का निवारण

करनेवाले ऐसे भगवान् का सहारा चाहते थे जो उनकी रक्षा कर सकता और जिसके चरणों पर वे कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए नत हो सकते, अर्थात् उन्हें ईश्वर की उस सगुण सत्ता की आवश्यकता थी जो लोकरंजन और लोकपालन करती है। इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति करते हुए स्वामी रामानुजाचार्य ने अपने प्रसिद्ध विशिष्टाद्वैत सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इस मत का प्रचार दक्षिण में बहुत अधिक और उत्तर में भी कम नहीं हुआ। इसमें निर्गुण ब्रह्म के बदले सगुण ईश्वर की कल्पना की गई थी और शुष्क ज्ञान के स्थान पर सरस भक्ति का स्रोत बहाया गया था।

अद्वैत का निर्गुण ब्रह्म जब विशिष्टाद्वैत में चित् अचित् विशिष्ट बनाया गया, तब उसमें असीम शील तथा सौंदर्य की कल्पना हो सकी और वह भक्तों की उपासना का आलंबन बन सका। रामानुज ने शंकर के मायावाद का विरोध किया और भक्ति के प्रवाह में माया की शक्ति बहुत कुछ क्षीण पड़ गई। यद्यपि रामानुज को भक्ति के इस मार्गनिरूपण में दक्षिण के कुछ संतों से बहुत सहायता मिली थी, पर वाद-विवाद के लिये उन्हें श्रुतियों का प्रमाण तथा गीता आदि के उद्धरणों का आश्रय लेना पड़ा। गीता में कृष्ण भगवान् के अनेक वाक्य "मामेकं शरणं व्रज", "अहम् त्वाम् सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः" आदि हैं जिनसे भक्ति का प्रतिपादन और समर्थन करने में रामानुजजी को सहायता मिली थी। यह सब होते हुए भी हमें यह न भूल जाना चाहिए कि सिद्धांत रूप से अद्वैतवाद और विशिष्टाद्वैत में विरोध नहीं है। दोनों ही एक ब्रह्म पर विश्वास रखते हैं और दोनों ही श्रुतियों को प्रमाण मानकर चलते हैं। विशिष्टाद्वैत में लगा हुआ अद्वैत शब्द ही दोनों की तात्त्विक एकता का सबसे बड़ा प्रमाण है। गोस्वामी तुलसीदास ने "ज्ञानहिं भक्तिहिं नहिं कछु भेदा" कहकर मानों उस

भ्रम का निवारण सा कर दिया है जो तत्त्व को न समझनेवाले हृदयों में उत्पन्न हुआ करता है।

भक्ति का यह मार्ग क्रमशः प्रशस्त हो चला और निंबार्काचार्य, मध्वाचार्य तथा रामानंद आदि महात्माओं की वाणी से इसमें तत्कालीन हिंदू जनता की आस्था बढ़ती गई। निंबार्काचार्य का सिद्धांत वही था जो रामानुज का था, पर रामानुज के विष्णु और लक्ष्मी के स्थान पर इसमें कृष्ण और गोपी का सन्निवेश हुआ। प्रेम को व्यक्त आलंबन मिल जाने के कारण जनता इस ओर विशेष आकृष्ट हुई। मध्वाचार्य का द्वैत सिद्धांत भी लगभग इसी समय प्रतिष्ठित हुआ, जिसके कारण शुष्क मायावाद को धक्का लगा और मोक्षप्राप्ति के लिये "हरि" रूप में विष्णु की प्रतिष्ठा हुई।

यद्यपि भक्ति के इस प्रवाह में लीन होकर हिंदू जनता अपनी लौकिक परिस्थिति को बहुत कुछ भूल गई, उसकी निराशा का बहुत कुछ परिहार हुआ, पर यह स्वीकार करना पड़ता है कि अभी तक भगवान् की लोकरक्षिणी सत्ता की प्रतिष्ठा नहीं हो सकी थी, केवल उसके लोकरंजक स्वरूप का साक्षात्कार हो सका था। रामानुज के "विष्णु" यद्यपि सगुण थे, पर वे भी लोकव्यवहार से तटस्थ थे। निंबार्काचार्य के गोपी-कृष्ण अवश्य जनता के बीच खेले कूदे थे, पर खेल कूद से जो मनोरंजन होता है, उससे संसार के जटिल जीवन में थोड़ी ही सहायता मिल सकती है। जो भगवान् दुष्टों का नाश कर सकें और साधुओं से सहानुभूति दिखा सकें, जो संसार में आकर संसार की परिस्थितियों में सफलतापूर्वक सहयोग कर सकें और स्वयं सफल हो सकें वही भगवान् उस समय हिंदू जाति के लिये कल्याणकर हो सकते थे। इसके अतिरिक्त एक बात और थी। रामानुज आदि आचार्यों ने अपने

भक्ति-निरूपण में संस्कृत भाषा का ही सहारा लिया था। संस्कृत उस समय की साधारण बोल-चाल की भाषा तो थी ही नहीं, अज्ञान के कारण जनता उस समय उसे और भी समझ नहीं सकती थी। आचार्यों की शिक्षा जनता के कानों तक कठिनता से पहुँच सकती थी; और यदि किसी प्रकार पहुँचती भी थी तो अपरिचित भाषा में होने के कारण उसके साथ हार्दिक सामंजस्य नहीं हो सकता था। तीसरी बात यह थी कि इन आचार्यों की भक्ति द्विजातियों तक ही सीमित थी, शूद्र या अंत्यज उसके अधिकारी नहीं थे। घट घट में व्यापक भगवान् को भी इन आचार्यों ने अस्पृश्य जातियों से अलग रखने का उपक्रम किया था। भक्तिमार्ग में इस प्रकार का भेद कदापि न होना चाहिए था, परंतु आचार्यों को तत्कालीन समाज-व्यवस्था से एकदम छूट निकलने का अवसर नहीं मिला। वे भक्ति को लोकव्यापक न कर सके, यद्यपि तात्त्विक दृष्टि से जीव मात्र को भक्ति का अधिकारी मानते थे। इन परिस्थितियों के कारण भक्ति का व्यापक प्रसार होने में बाधा उपस्थित हो रही थी। स्वामी रामानंद के प्रभाव से ये बाधाएँ दूर हुईं और लोक में लोकरक्षक "राम" की प्रतिष्ठा हुई।

रामानंद की धार्मिक उदारता के परिणाम-स्वरूप भक्ति को जो व्यापक स्वरूप मिला, उसके साथ ही "सीताराम" की लोकमंगलकारिणी मूर्ति की उपासना ने मिलकर मणि-कांचन संयोग उपस्थित कर दिया। इस नवीन भक्तिमार्ग का प्रशस्त पथ पाकर तत्कालीन संकीर्णता बहुत कुछ दूर हुई। हिंदी साहित्य को एक अभूतपूर्व विकास का अवसर मिला और रामभक्त कवियों की एक परंपरा ही चल पड़ी। इस परंपरा का विवरण हम आगे चलकर देंगे। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि हिंदी साहित्य के सर्वश्रेष्ठ महाकवि तुलसीदास और भक्तवर नाभादास जैसे महात्माओं ने

रामभक्ति की शरण ली और साहित्य को भक्ति के प्रवाह से आप्लावित तथा जनता को राम के मंगलमय स्वरूप से दृढ़ और मुग्ध बना दिया।

वैष्णवधर्म के तत्कालीन विकास में महाप्रभु चैतन्य तथा वल्लभाचार्य का नाम विशेष रीति से उल्लेखनीय है। चैतन्य का उपदेशक्षेत्र बंगभूमि था और उनका प्रभाव भी बंगाल में ही अधिक पड़ा। चैतन्य की भक्ति प्रेम और मोदमयी है। कर्म की जटिलता से वह दूर ही रही।

वल्लभाचार्य तैलंग ब्राह्मण थे। उनका जन्म सं० १५२९* में हुआ है। विद्याध्ययन और शास्त्रान्वेषण के उपरांत वे मथुरा, वृंदावन आदि कृष्णतीर्थों में घूमे और अंत में काशी में आकर उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं। उनकी उपासना कृष्ण की उपासना है और वह भी माधुर्य भाव की। सिद्धांत में वे शुद्धाद्वैतवादी हैं। ब्रह्म और जीव एक ही है और जड़ जगत् भी उससे भिन्न नहीं है। माया के कारण जो विभेद जान पड़ता है, उसका निराकरण भक्ति द्वारा ही हो सकता है। वल्लभाचार्य ने व्रत उपवास आदि कष्टसाध्य कर्म्मों का निषेध किया और पवित्र प्रेम भाव से उपासना करने की विधि बतलाई। यद्यपि प्रारंभ में इनके पुत्र विट्ठलनाथ के प्रयत्न से प्रसिद्ध अष्टछाप के भक्त कवियों की स्थापना हुई, पर वल्लभाचार्य की उपासनापद्धति से शृंगारी कवियों को भी नवीन प्रेरणा मिली और हिंदी साहित्य में शृंगारपरंपरा चल पड़ी। वल्लभाचार्य के मतावलंबी भी गुजरात और राजपूताने के धनी व्यापारी आदि हुए जिन्हें आध्यात्मिक प्रेम की उतनी आवश्यकता न थी जितनी लौकिक विलास की। इस प्रकार हम देखते हैं कि वल्लभाचार्य की उपासनापद्धति के परिणाम-

* कुछ लोग १५३५ भी मानते हैं।

स्वरूप विलास की ओर अधिक प्रवृत्ति हुई जिसको मुगल सम्राटों की तत्कालीन सुख-समृद्धि ने सहायता देकर दूना चौगुना कर दिया। उच्चातिउच्च धार्मिक सिद्धांतों का कैसा दुरुपयोग हो सकता है, इसका अच्छा परिचय वल्लभाचार्य की उपासनाविधि के दुरुपयोग से मिल सकता है।

ऊपर जिन भक्ति-पद्धतियों का विवरण दिया गया है, वे सब भारतीय पद्धतियाँ हैं। पर साथ ही हम यह नहीं कह सकते कि उस समय तक इस देश में आकर बसे हुए मुसलमानों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा था। यद्यपि मुसलमान शास्त्राधिकारी लोग हिंदुओं से प्रायः द्वेष ही करते रहे, परंतु साधारण जनता में पारस्परिक सहानुभूति के चिह्न दिखाई देने लगे थे। हिंदू मुसलमानों में परस्पर भावों और विचारों का आदान प्रदान प्रारंभ हो गया था। हिंदू धर्मग्रंथों में यद्यपि मानवमात्र क्या कीट-पतंग तक में एक ही आत्मा का दर्शन करने और समभाव रखने का उपदेश दिया गया था, परंतु हिंदू उसे भूल गए थे। बौद्ध धर्म के परास्त होने के बाद हिंदू धर्म के नव जागरण काल में जब उसके बड़े बड़े आचार्यों ने नए सिरे से धर्म का मर्म खोलकर सामने रखा तो उपासना में अंत्यजों को भी स्थान मिला। इस उदारता में एक ओर जहाँ अंतिम विदा लेते हुए बौद्ध धर्म की आत्मा बोल रही थी, वहाँ दूसरी ओर नव प्रतिष्ठित इसलाम के एकेश्वरवाद और उदार भ्रातृभाव का भी हिंदुओं पर प्रभाव पड़ा। अनेक देवी देवताओं की ओर से बहुत कुछ ध्यान हटा। साथ ही भक्तिमार्ग के पूर्व आचार्यों की अनुदारता के कारण अस्पृश्य जातियों को जो परमेश्वर की आराधना से वंचित किया गया, उसका प्रतिफल जो कुछ होना चाहिए था, वही हुआ। रामानंद के प्रभाव से साधुओं और संतों का एक नया ही दल देश में दिखाई पड़ा जिनकी वाणी में

सरलता और भावों में उदारता की अत्यधिक मात्रा थी। इन्होंने अंत्यज जातियों में अपूर्व आशा और उत्साह की तरंगें लहराईं। हिंदू और मुसलमान दोनों ही उनके उपदेशों से प्रभावान्वित हुए, क्योंकि उनके उपदेश मनुष्य-प्रकृति की करुण और निष्कपट वृत्तियों पर अवलंबित थे। साथ ही उपासना के लिये इन संतों ने निर्गुण ब्रह्म का आधार लिया था जिसके कारण जातीय, सांस्कृतिक अथवा धार्मिक संघर्ष या मतभेद की संभावना भी बहुत कम रह गई थी। इन संतों ने योग आदि की क्रियाओं का भी अपने संप्रदाय में प्रचार किया परंतु सामान्य जनता ने इनकी सरल शिक्षा और उदारवृत्ति को ही अधिक अंशों में ग्रहण किया। उत्तर भारत में इसका आरंभ रामानंदजी के शिष्य कबीरदास से हुआ और उनका संप्रदाय इतना बढ़ा कि उसका क्रम अब तक चला चलता है। इस संप्रदाय ने देशभाषा को अपने उपदेशों के प्रचार का माध्यम बनाया, और इस कारण उन्हें बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त हुई। इसके अतिरिक्त भारतीय अद्वैतवाद और सूफी प्रेम-वाद के सम्मिश्रण से हिंदी में जायसी, कुतबन आदि रहस्यवादी कवियों की परंपरा चली।

उत्तर मध्य काल

जिस समय उपासना के बहुत से संप्रदाय बन रहे थे और हिंदुओं तथा मुसलमानों का पारस्परिक हेल-मेल बढ़ रहा था, उस समय मुगलों का सुख-समृद्धिपूर्ण साम्राज्य था। परंतु थोड़े समय के बाद अवस्था में परिवर्तन हुआ। संवत् १७१६ में औरंगजेब मुगल-साम्राज्य का उत्तरा-धिकारी हुआ। उसने राज्याधिकार पाते ही नृशंस तथा धर्मांध शासक की नीति घोषित कर दी। अकबर आदि की उदार नीति का

राजनीतिक अवस्था

अन्त हो गया। जजिया कर फिर से जारी किया गया। तीर्थस्थानों में अनेक सुंदर मंदिर तोड़कर मस्जिदें बनने लगीं। साम्राज्य के दृढ़ स्तंभ राजपूतों का अविश्वास और अनादर होने लगा, परिणाम-स्वरूप देश में अशांति व्याप्त हो गई और नई हल-चल आरंभ हो गई। सबसे पहले महाराष्ट्र शक्ति का उदय हुआ। औरंगजेब को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। संवत् १७६४ में उसकी मृत्यु के उपरांत तो देहली का केंद्रीय शासन और भी डाँवाँडोल हो गया। पंजाब में सिक्ख शक्ति का आतंक छा गया। राजपूतों ने मुगलों का साथ देना छोड़ दिया। रुहेलखंड में रुहेलों का स्वतंत्र राज्य स्थापित हुआ। अवध और बंगाल के सूबेदारों ने देहली का आधिपत्य अस्वीकृत कर नवाब की उपाधि धारण की और कर देना बंद किया। आगरे के निकट के जाट भी स्वतंत्र हो गए। मराठों के पैर तो पहले ही जम चुके थे; अब वे आत्मविस्तार करने में लगे। इसी बीच में प्रसिद्ध आक्रमणकारी नादिरशाह ने आकर दिल्ली को रक्तरंजित कर दिया और वहाँ का मयूरासन लेकर सारे देश में आतंक फैलाता हुआ वह लौट गया। इस अवसर से लाभ उठाकर मराठे लाहौर तक बढ़ गए और समस्त उत्तरापथ उनके अधिकार में हो गया। देश में एक बार फिर से हिंदू राज्य की प्रतिष्ठा होने लगी और इस आशा से हिंदुओं में एक जागति सी दिखाई पड़ने लगी।

परंतु भारत के भाल में विधि के लिखे अंक कुछ दूसरे ही थे। विलायत से सात समुद्र पार कर अँगरेज जाति भारत में व्यापार करने आई। पहले दक्षिण में उसका व्यापार हो रहा था, पर अशांति के उस युग में उसे अधिकार-प्राप्ति की भी इच्छा हुई। भारतीय युद्धपद्धति से उनकी युद्धपद्धति बहुत अधिक उन्नत थी और उनमें नवीन उत्साह की तरंगें भी उद्वेलित हो रही

थीं। पहले दक्षिण में ही उन्होंने व्यापार छोड़ तलवार ग्रहण की थी। बंगाल में सिराजुद्दौला की निर्बलता से उन्होंने पूरा पूरा लाभ उठाया। सं० १८१४ में पलासी के प्रसिद्ध युद्ध में सिराजुद्दौला को हराकर क्लाइव ने भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाली। सं० १८२१ में बक्सर के युद्ध में बंगाल और अवध के नवाबों तथा मुगल सम्राट् शाहआलम की सम्मिलित वाहिनी को परास्त कर विजयी अँगरेजों ने उत्तर भारत के एक विशाल खंड पर अपना स्वत्व जमाना चाहा; पर मराठों के प्रयत्न से शाहआलम फिर से दिल्ली के सिंहासन पर आसीन हुआ। मराठों की चौथ इस समय प्रायः भारतव्यापी हो रही थी। इधर हेस्टिंग्स ने बंगाल में अँगरेजी शासन दृढ़ किया और अवध को अपने पंजे में किया। महादजी के हटने से मराठों की शक्ति कम होने लगी। लार्ड वेलेजली के समय में मराठे उत्तर भारत में शक्तिहीन हो गए। पर इतने में ही सिख शक्ति वीर रणजीतसिंह के नेतृत्व में संघटित होकर मैदान में आई। काश्मीर और पेशावर तक के प्रांत सिखों के थे। परंतु रणजीतसिंह की मृत्यु (१८९६) के उपरांत सिख साम्राज्य भी स्थिर न रह सका। संवत् १९०५ के सिख-युद्ध में अँगरेजों की विजय हुई और सिख सम्राज्य का अंत हो गया। इस प्रकार ब्रह्मपुत्र और सिंध नदियों के बीच का विशाल उत्तर भारत अँगरेजों का हो गया।

राजनीतिक उथल-पुथल के इस युग में जनता की अवस्था कितनी भयानक थी, इतिहासकार इसके संबंध में चुप नहीं हैं।

सामाजिक अवस्था

बंगाल की दोहरी शासनप्रणाली (Double government) के कारण जो दुर्दशा थी, वह तो थी ही, मराठों के उत्पात और अँगरेजों की व्यापारिक नीति से उसकी और भी शोचनीय स्थिति हो गई। नए बंदोबस्त से जमीं-

दारों को धक्का लगा और किसानों पर कड़ाई से कर लेने की प्रथा चल निकली। इस तरह व्यापार और कृषि के चौपट हो जाने से जनता की आर्थिक दुरवस्था भीषण हो गई और बेकारी के कारण ठगी का आश्रय लिया जाने लगा। गाँवों के प्राचीन संघटन में भी बाधा डाली गई और पंचायतों की जगह ऐसी अदालतों का प्रचार हुआ जिनकी दंडविधि से कोई परिचित ही न था। अँगरेज जजों को भारतीय रीति-नीति का पता न था और दूसरी ओर हिंदुस्तानियों को अपने नए शासकों के कानूनों का ज्ञान न था। इसका फल यह हुआ कि वकीलों की एक नई श्रेणी निकल पड़ी। कार्नवालिस के समय से हिंदुस्तानियों को बड़ी सरकारी नौकरियाँ न दी जाने लगीं क्योंकि उसका विश्वास था कि हिंदुस्तानी झूठे और घूसखोर होते हैं। संवत् १८९० से यह नीति कुछ कुछ बदली। शासन और न्याय का काम बहुत बढ़ जाने के कारण हिंदुस्तानियों की सहायता लेना अनिवार्य हो गया। तभी से देश के शासन का कुछ अंश यहाँ के निवासियों को भी दिया जाने लगा।

धार्मिक अवस्था

हिंदुओं और मुसलमानों को एक बनाने के लिये सिख धर्म का प्रादुर्भाव हुआ था परंतु मुसलमान शासकों की संकीर्ण नीति के कारण मुसलमान सिखों के घोर विरोधी बन बैठे। अँगरेजों के साथ साथ ईसाई मत का भी प्रचार हुआ। यद्यपि प्रकट रीति से सरकार की ओर से भारतीयों के धार्मिक विचारों पर आघात नहीं किए गए, पर विजेता की शक्ति का प्रभाव विजितों पर कैसे न पड़ता। वेलेजली के समय में सात देशी भाषाओं में बाइबिल का अनुवाद निकाला गया। सं० १८७० में लाइसेंस लेकर प्रचारकार्य के लिये पादरियों को आने की अनुमति मिल गई। उसी समय कलकत्ते में एक बिशप और चार पादरी नियुक्त हुए। पादरियों ने पुस्तकें प्रकाशित करके तथा

उपदेशों आदि के द्वारा प्रचार-कार्य करके और साथ ही प्रलोभन भी देकर ईसाई मत को फैलाने की चेष्टा की। लार्ड बेंटिंक ने सतीप्रथा बंद कर दी। धीरे धीरे अँगरेजी शिक्षा का प्रचार होने लगा। बेंटिंक ने अँगरेजी का प्रचार सरकारी नीति का एक अंग बना दिया। मेकाले ने कहा कि अँगरेजी शिक्षा के प्रचार से देश में एक भी मूर्तिपूजक बाकी न रह जायगा। संस्कृत और फारसी का निरादर किया जाने लगा। उर्दू अदालती भाषा बन गई और हिंदी को राजाश्रय न मिल सका। अँगरेजी के साथ साथ इस देश में पाश्चात्य भावों का भी प्रवेश हुआ। जनता पर अँगरेजों की रहन-सहन और आचार-विचार का भी बहुत कुछ प्रभाव पड़ा। नए आवेश में देश की बहुत सी अच्छी बातें भी बुरी और असभ्यतापूर्ण मानी जाने लगीं। इस प्रकार देश पर अँगरेजों की मानसिक विजय भी चलती रही जिसने राजनीतिक विजय को खूब दृढ़ बना दिया।

उत्तर काल

राजनीतिक स्थिति

देशी राज्यों के प्रति अँगरेजों की नीति और ईसाई मत के प्रचार का फल यह हुआ कि सं० १९१४ में भारतीयों की ओर से प्रबल विद्रोह की आग धधक उठी। परंतु संघटन के अभाव और शक्ति की विशृंखलता के कारण विद्रोह सफल न हो सका। परिणाम-स्वरूप सं० १९१५ से भारत ब्रिटिश साम्राज्य में मिला लिया गया और कंपनी का राज्य उठ गया। उत्तरी और दक्षिणी भारत का भेद मिट गया और सारे देश में एक प्रकार की शासननीति काम में लाई जाने लगी। महारानी विक्टोरिया की प्रसिद्ध घोषणा से सरकारी नौकरियों में

जाति-भेद उठा देने, धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा करने और देशी नरेशों के अधिकार बनाए रखने का वचन दिया गया। अँगरेजी शिक्षा के लिये यूनीवर्सिटियाँ स्थापित की गई जिनसे राजनीतिक भावों की जागर्ति हुई और थोड़ा बहुत शिक्षा-प्रचार भी हुआ, पर अधिकतर अँगरेजी रीति-नीति की स्थापना को ही सहायता मिली।

सामाजिक अव्यवस्था के उस युग में बंगाल के प्रसिद्ध राजा राममोहन राय ने जो कार्य किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। अविद्यांधकार में डूबे हुए देश को ज्ञानालोक प्रदान करने का बहुत बड़ा श्रेय उनको है। उनके कुछ समय उपरांत स्वामी दयानंद के आविर्भाव से उत्तर भारत में एक नवीन जातीय चेतना का अभ्युदय हुआ और ईसाइयों तथा मुसलमानों के धर्मप्रचार को बहुत कुछ धक्का पहुँचा। उस समय साधारण हिंदू जनता का यही विश्वास हो रहा था कि हमारी रीति-नीति, हमारी सभ्यता और संस्कृति तथा हमारा धर्म, सब मुसलमानों और ईसाइयों के सामने तुच्छ हैं। स्वामी दयानंद ने इस भ्रांत धारणा का समूल विनाश कर दिया और हिंदू जनता को अपने अमर भांडार उन वेदों की ओर आकर्षित किया जो संसार के उच्चतम ज्ञान के निदर्शन हैं और इस देश के अतीत गौरव के अमिट स्मृति-चिह्न हैं। स्वामी दयानंद के उद्योग से हिंदी भाषा का प्रचार थोड़ा-बहुत बढ़ा और संस्कृत साहित्य के पुनरवलोकन तथा अनुशीलन की प्रवृत्ति भी बढ़ी।

सामाजिक अवस्था

समाचारपत्रों के प्रचार से राजनीतिक सामाजिक आदि आंदोलनों से जनता परिचित होने लगी और उसका इधर मनोयोग भी हुआ। इसी समय भारत की राजनीतिक आवश्यकताएँ प्रकट करने के लिये नेशनल कांग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) की स्थापना हुई, जिसमें तत्कालीन बड़े बड़े लोगों ने सहयोग दिया। लार्ड रिपन के

समय से ही स्थानीय शासन में भारतीयों को सम्मिलित किया जाने लगा था। केंद्रीय तथा प्रांतीय व्यवस्थापिका सभाओं में हिंदुस्तानी सदस्य चुने जाने लगे। रेल, तार, डाक आदि से भी सुविधाएँ बढ़ीं और समस्त भारत में एक राष्ट्रीयता का भाव उदय हुआ। संवत् १९६२ में बंगविच्छेद के प्रश्न पर यह भाव स्पष्ट देख पड़ा था। राजनीतिक आंदोलन की उन्नति देखकर लार्ड मार्ले को कुछ सुधारों की व्यवस्था करनी पड़ी। परन्तु उतने सुधार से उन्नतिशील राजनीतिक दल को संतोष नहीं हुआ। सं० १९७१ में महायुद्ध के प्रारंभ हो जाने पर समस्या और भी जटिल हो गई, परंतु तत्कालीन अँगरेज राजनीतिज्ञों ने बड़ी बड़ी आशाएँ दिलाकर भारत की सहानुभूति प्राप्त की और भारत ने धन-जन से महायुद्ध में अँगरेजों की पूरी सहायता की। परंतु युद्ध समाप्त हो जाने पर भारत की आशाएँ पूरी नहीं हुईं वरन् पंजाब के प्रसिद्ध हत्याकांड जैसे अत्याचार हुए और पाशविक शक्ति की सहायता से भारतीयों की आकांक्षाओं का दमन किया गया। फलतः तीव्र प्रतिकार का आरंभ हुआ। इस प्रतिकार को महात्मा गांधी के प्रसिद्ध असहयोग आंदोलन ने अहिंसात्मक बना रखा, परंतु बीच ही में कुछ हिंसात्मक घटनाओं के कारण उन्हें अकस्मात् अपना आंदोलन बंद करना पड़ा। फिर भी देश की राजनीतिक स्थिति सुधारने का राष्ट्रीय महासभा का प्रयत्न बराबर होता रहा। संवत् १९७६ के मॉरले-मिंटो सुधार की अवधि समाप्त होने पर नए सुधार उपस्थित करने के उद्देश से जाँच के लिये जब सं० १९८५ में साइमन कमीशन भारत आया तो उसका व्यापक विरोध हुआ। सं० १९८७ में राष्ट्रीय महासभा ने भारत की पूर्ण स्वाधीनता का प्रस्ताव स्वीकार किया। महात्मा गांधी के नेतृत्व में फिर सत्याग्रह संग्राम छिड़ा जो गांधी-इरविन पैक्ट के

अनुसार सरकार द्वारा कुछ माँगों के स्वीकार किए जाने पर बंद हुआ। भारतीय समस्या की ओर ब्रिटिश सरकार ने विशेष ध्यान दिया और लंदन की गोल मेज सभा में महात्मा गांधी तथा अन्य भारतीय प्रतिनिधि आमंत्रित किए गए। किंतु इसका कोई विशेष फल नहीं हुआ। और अंत में सं० १९९२ में नया इंडिया ऐक्ट पार्लियामेंट ने पास कर दिया। इसमें विशेषाधिकार तथा संरक्षणों के साथ भारतीयों को प्रांतीय शासन का अधिकार दिया गया। इसके अनुसार राष्ट्रीय महासभा के प्रतिनिधियों ने भी ८ प्रांतों पर बहुमत से शासन किया, पर अधिकार संबंधी मतभेद के कारण यह अवस्था कुछ ही दिनों तक रह सकी। उधर यूरप में वर्तमान सर्वग्राही विश्वयुद्ध का सूत्रपात हो गया। राष्ट्रीय महासभा ने, जब तक देश को उत्तरदायी शासनाधिकार न मिल जाय, इस युद्ध से भारत को पृथक् रखने का निश्चय किया। सं० १९९७ में जब उसके नेता गण बंदी कर लिए गए तो देश में भीषण असंतोष का प्रदर्शन हुआ और उसने ध्वंसात्मक रूप पकड़ा। पर सरकार ने दृढ़ता और सफलता के साथ उसे दबा दिया। तब से युद्ध के कारण देश पर जो नई विपत्तियाँ आ पड़ी हैं उनकी भयंकरता के कारण देश की राजनीतिक चेतना को हाथ पैर हिलाने का अवकाश ही नहीं है।

राजनीतिक क्षेत्र की उथल-पुथल ने जो चकाचौंध सी उत्पन्न कर दी है, उसके कारण हम राष्ट्र के अन्य उद्योगों को कम देख पाते हैं, पर हमको यह स्मरण रखना चाहिए कि राजनीति तो राष्ट्र की सर्वतोमुखी उन्नति का एक अंग मात्र है, वही सब कुछ नहीं है। राष्ट्र की चेतना अकेली राजनीति की ओर झुककर बहुत शुभ परिणाम नहीं उपस्थित कर सकती। उसका विकास प्रत्येक क्षेत्र में होना चाहिए। हमको

सर्वतोमुखी प्रगति

यह देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है कि आधुनिक भारतीय मनोवृत्ति यद्यपि राजनीति की ओर विशेष उन्मुख है, पर अन्य दिशाओं में भी प्रशंसनीय और संतोषप्रद उद्योग हो रहे हैं। साथ ही राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में राष्ट्र की चेतना को जो स्फूर्ति मिली है उससे हमारा साहित्य अछूता नहीं रहा। हमारा विशेष संबंध साहित्य से है और हम यह स्वीकार करते हुए बड़े प्रसन्न हो रहे हैं कि इस समय हिंदी साहित्य के अनेक अंगों की बड़ी सुंदर पुष्टि हो रही है। हिंदी को राष्ट्रीय भाषा कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ है, और महात्मा गांधी तथा अन्य बड़े बड़े नेताओं के प्रयत्न से इसका देशव्यापी प्रचार हो रहा है। इसमें संदेह नहीं कि अनेक दिशाओं से हिंदी भाषा और साहित्य की उन्नति में बाधा डालने के बहुमुखी प्रयत्न कम नहीं हुए, परंतु यह बड़े संतोष की बात है कि वे सफल नहीं हुए और न वे, जैसा कि हमारा विश्वास है, कभी सफल हो सकते हैं। इसके विपरीत उनसे हिंदी के सेवकों को और उत्साह और सजगता से अपनी भाषा और साहित्य की उन्नति करने की स्फूर्ति मिली है। यदि हिंदी साहित्य के सभी अंगों का विकास इसी प्रकार होता रहा और यदि इसकी व्यापकता और सौष्ठव को मानकर देश ने इसको राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया, तो वह दिन दूर नहीं है जब हिंदी भाषा का साहित्य भी इस देश में व्यापक होकर राष्ट्र के प्रगतिशील भावों और विचारों का अभिव्यंजन कर सकेगा और संसार के अन्य श्रेष्ठ और बड़े साहित्यों के समकक्ष होकर मानव समाज के लिये कल्याणकर और आदरणीय सिद्ध होगा।

——

तीसरा अध्याय

ललित कलाओं की स्थिति

साहित्य के इतिहास की इस साधारण आकार की पुस्तक में वास्तुकला, चित्रकला तथा संगीतकला आदि की स्थिति का परिचय देना उचित है या नहीं, अथवा उपयोगी है या नहीं इन बातों में मतभेद हो सकता है। हिंदी साहित्य के जो इतिहास-ग्रंथ इस समय तक निकले हैं, उनमें इन ललित कलाओं का विवरण नहीं दिया गया है। अँगरेजी की साहित्यिक इतिहास की पुस्तकों में भी इस ओर कम ध्यान दिया गया है। संभव है कि उसकी आवश्यकता भी न समझी गई हो। परंतु हमारी सम्मति में साहित्यिक इतिहास की पुस्तकों में उपर्युक्त ललित कलाओं की समसामयिक प्रगति का प्रदर्शन उचित ही नहीं, उपयोगी भी है। साहित्य स्वयं एक ललित कला है; अत: अन्य ललित कलाओं के साथ उसका घनिष्ठ संबंध प्रत्यक्ष है। साथ ही राष्ट्र के विकास के इतिहास में कलाओं के समन्वित विकास का भी इतिहास विशेष रोचक होता है। हम तो विविध कलाओं की कल्पना एक परिवार के रूप में ही करते हैं, यद्यपि उस परिवार के विभिन्न व्यक्तियों की अलग अलग विशेषताएँ होती हैं। जब दो राष्ट्रों तथा दो विभिन्न संस्कृतियों का संघर्ष होता है, तब तो ललित कलाओं की स्थिति में बड़े ही मार्मिक परिवर्तन होते हैं, जिनका ठीक ठीक स्वरूप हम तभी समझ सकते हैं जब उनका एकत्र विचार करें। इसके अतिरिक्त सबसे मुख्य

ललित कलाओं का स्थान

बात यह है कि सभी कलाओं की उत्पत्ति मानव-मस्तिष्क से होती है; अतः जब हम किसी विशेष देश के किसी विशेष काल की जनता की चित्त-वृत्तियों का पता लगाना चाहेंगे, तब हमें उस देश तथा उस काल के साहित्य का ही अनुसंधान न करना पड़ेगा अपितु अन्य कलाओं की भी खोज करनी पड़ेगी। केवल साहित्य के इतिहास से जनता की चित्त-वृत्ति का जो अन्वेषण किया जाता है, वह एकांगी ही नहीं, भ्रामक भी हो सकता है।

साहित्य और कलाओं का सम्मिलित अध्ययन करने में एक बड़ी बाधा उन आलंकारिकों और साहित्यिक आचार्यों के द्वारा उपस्थित की जाती है जिनके मत से रस या अलौकिक आनंद का अनुभव साहित्य के ही क्षेत्र में होता है और ललित कलाएँ तो केवल सजधज और बाह्य सौंदर्य से चित्त को आकर्षित करती हैं। उनका कथन है कि साहित्य ही भावसृष्टि है, कलाएँ तो केवल कारीगरी या चमत्कार का प्रदर्शन करती हैं। संभव है कलाओं की हीनता की यह व्याख्या उस समय के लिये उपयुक्त हो जब वे वास्तविक जीवन-सौंदर्य की धारा से अलग होकर रूढ़ि-बद्ध और अभ्यास-साध्य ही बन गई हों परंतु वह सर्वदा के लिये उपयुक्त नहीं हो सकती। और ऐसे समय तो साहित्य के इतिहास में भी आए हैं जब वह भाव-प्रधान न रहकर केवल आलंकारिक या चमत्कार-युक्त वाणी-विलास ही बन गया है किंतु इस कारण साहित्य का वास्तविक और उच्च लक्ष्य, भाव या रस का उद्रेक, नष्ट नहीं होता। यही बात कलाओं के संबंध में भी कही जा सकती है। काव्यकार जिन भावनाओं से प्रेरित होकर शब्दों द्वारा अपनी अभिव्यक्ति करता है, चित्रकार या मूर्तिकार शब्दों का आश्रय न लेकर कूची, कागज, करनी, प्रस्तर-खंड आदि अन्य उपकरणों से उन्हीं भावों को प्रकट

करता है। दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, केवल शैली या साधनों का भेद है।

उत्पन्न होते ही मनुष्य अपने चारों ओर प्रकृति का जो प्रसार देखता है, दार्शनिक उसे ब्रह्म की व्यक्त कला बतलाते हैं। ब्रह्म की यह कला शाश्वत है। इस शाश्वत कला पर मनुष्य चिर काल से मुग्ध होता तथा इसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता चला आता है। प्रकृति के नाना रूपों के साथ मानव हृदय के नाना भावों का समन्वय आज से नहीं, सृष्टि के आदि से होता आ रहा है। दार्शनिक कहते हैं कि ब्रह्म की यह अभिव्यक्ति उसकी कल्पना का परिणाम है, परंतु मनुष्यहृदय ब्रह्म की इस अभिव्यक्ति में विश्व-हृदय की भी झलक देखता है। इस प्रकार ब्रह्म की व्यक्त कला अनंत अभिव्यक्ति तथा अनंत विकास के रूप में समझी जाती है, जिसके मूल में ब्रह्म की अनत कल्पना तथा उसका अनंत हृदय समाया हुआ है। मनुष्य का दृश्य-जगत् से अविच्छिन्न संबंध है। वह चिर काल से प्रकृति के अनंत सौंदर्य पर मुग्ध होता आया है। प्रकृति के नाना रूप मनुष्य के नाना भावों को जागरित तथा उत्तेजित करते आए हैं।

सभ्य मानव समाज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अभिव्यक्ति तथा विकास का प्रार्थी है। इसकी उसे स्वाभाविक प्रेरणा होती है। इस प्रेरणा को कार्यरूप में परिणत करने में सृष्टि के नाना उपकरण उसके सहायक होते हैं। उसकी कल्पना तथा उसके हृदय पर जगत् के नाना रूप जो प्रभाव डालते हैं, वह उन्हें अनेक रूपों में अभिव्यंजित करता है। कभी मूर्ति बनाकर, कभी चित्र खींचकर, कभी कुछ गाकर तथा कभी कविता रचकर वह अपनी मनोगत भावनाओं तथा विचारों को व्यक्त करता है। इस प्रकार उन

ललित कलाओं की सृष्टि होती है, जिनका इस अध्याय में संक्षिप्त विवरण दिया जायगा।

यद्यपि हमारे देश में प्राचीन काल से ही कलाओं की विशेष उन्नति होती आई है, पर संभवत: एक पारिभाषिक शब्द के रूप में "कला" का विवेचन यहाँ नहीं किया गया। हम उपनिषदों की अकल कला की बात नहीं कहते। साधारणत: कला और शिल्प आदि शब्द समवाची समझे जाते थे और अनेक मतों के अनुसार कलाओं की संख्या भी विभिन्न थी। सामान्य रूप से ग्रंथों में चौसठ कलाओं का उल्लेख मिलता है। इनमें कुछ उपयोगी तथा कुछ ललित कलाएँ भी सम्मिलित हैं, यद्यपि उपयोगी और ललित कलाओं का यह वर्गीकरण पाश्चात्य है। इस देश में अधिकतर स्त्रियों की कला तथा पुरुषों की कला आदि के स्थूल विभेद ही माने जाते थे। "साहित्य-संगीत-कला विहीन:" वाले प्रसिद्ध पद्य में साहित्य तथा संगीत कला नहीं माने गए, मानो कला इनसे कुछ विभिन्न हो। आधुनिक विवेचन के अनुसार साहित्य तथा संगीत प्रसिद्ध ललित कलाएँ हैं। आगे के पृष्ठों में हम जिन ललित कलाओं का विवरण देना चाहते हैं, पाश्चात्य विश्लेषण के अनुसार उनका नामकरण वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीत-कला हो सकता है। इन्हीं के साथ साहित्यकला की भी गणना कर लेने से ललित कलाओं की पाँच शाखाएँ हो जाती हैं। हिंदी साहित्य के विकास का इतिहास उपस्थित करना तो इस पुस्तक का प्रतिपाद्य है ही, साथ ही तत्कालीन ललित कलाओं की प्रगति का विवरण भी प्रसंगवश इसमें दिया गया है। परंतु प्रगति के विवरण के पहले इनके स्वरूप से परिचित होना भी आवश्यक है।

कलाओं का वर्गीकरण

ललित कलाओं का स्वरूप

ललित कला के अंतर्गत वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला, संगीतकला और काव्यकला—ये पाँच कलाभेद हैं। इन ललित कलाओं से मनुष्य के अलौकिक आनंद की सिद्धि होती है। ललित कलाएँ दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती हैं। एक ऐसी हैं जो मानसिक तृप्ति का साधन चक्षुरिंद्रिय के सन्निकर्ष से करती हैं और दूसरी श्रवणेंद्रिय के सन्निकर्ष से। वास्तु (नगर मंदिर आदि का निर्माण), मूर्ति (तक्षणकला) और चित्रकलाएँ तो दर्शन से तृप्ति का विधान करनेवाली हैं और संगीत तथा काव्य श्रवण से। यह ठीक है कि रूपकाभिनय अर्थात् दृश्य काव्य आँखों का ही विषय है; पर यहाँ हमारा आशय केवल उसके साहित्यिक अंग से ही है। वास्तु, मूर्ति तथा चित्रकलाओं में मूर्त आधार प्रत्यक्ष रहता है, परंतु संगीत में उसका स्वरूप नाद के रूप में ही व्यक्त होता है; और काव्यकला में तो मूर्त आधार प्रायः होता ही नहीं। जिस कला में मूर्त आधार जितना ही कम होगा, वह उतनी ही उच्च कोटि की समझी जायगी। इसी भाव के अनुसार हम काव्यकला को सबसे ऊँचा स्थान देते हैं; क्योंकि उसमें मूर्त आधार का एक प्रकार से पूर्ण अभाव रहता है। कुछ विद्वानों का मत है कि संगीतकला का स्थान सबसे ऊँचा है, क्योंकि काव्य में तो शब्दों का आधार भी है पर संगीत में केवल नाद है। यह विषय विवादग्रस्त है। हमारे प्रयोजन के लिये तो यह मान लेना आवश्यक है कि संगीत और काव्य दोनों उच्चतम कलाएँ हैं और दोनों का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सबंध है। उसी के अनुसार हम वास्तुकला को सबसे नीचा स्थान देते हैं, क्योंकि मूर्त आधार की विशेषता के बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। सच पूछिए तो इस आधार के सुचारु रूप से सजाने में ही वास्तु-

कला को ललित कला की पदवी प्राप्त होती है। इसके अनंतर दूसरा स्थान मूर्तिकला का है। इसका भी आधार मूर्त ही होता है, परंतु मूर्तिकार किसी प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को ऐसा रूप दे देता है जो भूत वर्ग में उस आधार से सर्वथा भिन्न होता है। वह उस प्रस्तर-खंड या धातु-खंड को निर्जीव से संजीव बनाने का उपक्रम करता है और उसके प्रयास से उसकी रचना में बहुत कुछ सजीवता की अभिव्यक्ति हो जाती है। मूर्तिकला के अनंतर तीसरा स्थान चित्रकला का है। उसका भी आधार मूर्त ही होता है। प्रत्येक मूर्त अर्थात् साकार पदार्थ में लंबाई, चौड़ाई और मोटाई होती है। वास्तुकार और मूर्तिकार को अपना कौशल दिखाने के लिये मूर्त आधार के पूर्वोक्त तीनों गुणों का आश्रय लेना पड़ता है, परंतु चित्रकार को अपने चित्रपट के लिये लंबाई और चौड़ाई का ही आधार लेना पड़ता है, मोटाई तो उसके आधार में नाममात्र को ही होती है, और वह भी एकाकार; चित्रकार उसे घटा बढ़ा नहीं सकता। तात्पर्य यह कि ज्यों ज्यों हम ललित कलाओं में उत्तरोत्तर उत्तमता की ओर बढ़ते हैं, त्यों त्यों मूर्त आधार का परित्याग होता जाता है। चित्रकार अपने चित्रपट पर किसी मूर्त पदार्थ का वह प्रतिबिंब अंकित कर देता है, जिसमें बिंब के समान ही रूप रंग आदि देख पड़ते हैं।

अब संगीत के विषय में विचार कीजिए। नाद अर्थात् स्वरों का आरोह या अवरोह (उतार चढ़ाव) ही संगीत का आधार होता है। उसे सुचारु रूप से व्यवस्थित करने से भिन्न रसों और भावों का आविर्भाव होता है। अंतिम अर्थात् सर्वोच्च स्थान काव्यकला का है। उसमें मूर्त आधार की आवश्यकता ही नहीं होती। उसका प्रदुर्भाव शब्दसमूहों या वाक्यों से होता है जो मनुष्य के मानसिक भावों के द्योतक होते हैं। काव्य में जब केवल अर्थ की

रमणीयता रहती है, तब तो मूर्त आधार का अस्तित्व नहीं रहता, पर शब्द की रमणीयता आने से संगीत के सदृश ही नाद-सौंदर्य के रूप में मूर्त आधार की उत्पत्ति हो जाती है। भारतीय काव्यकला में पाश्चात्य काव्यकला की अपेक्षा नादरूप मूर्त आधार की योजना अधिक रहती है और इसी आधार पर शब्दों की रमणीयता को काव्य का एक प्रधान और कहीं कहीं मुख्य अंग माना गया है, पर अर्थ की रमणीयता के समान यह काव्य का अनिवार्य अंग नहीं है। अर्थ की रमणीयता काव्यकला का प्रधान गुण और नाद की रमणीयता उसका गौण गुण है।

हम जिस समय से ललित कलाओं का विवरण प्रारंभ करते हैं, वह भारतीय इतिहास का विशेष महत्त्वपूर्ण युग था। मुसलमानों

मुसलमान और ललित कलाएँ

के आक्रमण तो पहले ही प्रारंभ हो चुके थे, अब वे राज्य स्थापना करने तथा यहाँ आकर बसने के प्रयास में थे। अब उनमें लुटेरों की सी उतनी बर्बरता तथा उच्छृंखलता नहीं रह गई थी, वरन् वे अधिकाधिक सभ्य तथा संयत होते जा रहे थे। उनके सभ्य तथा संयत होने का यह अभिप्राय नहीं है कि भारत में आने के पहले वे नितांत बर्बर तथा असभ्य थे, अथवा उनकी धार्मिक तथा संस्कृतिजन्य अवस्था अविकसित और पतित थी, वरन् हमारे कहने का आशय यह है कि धार्मिक उन्माद और क्रूरता आदि के कारण उनमें एक प्रकार की कर्कशता आ गई थी जो असभ्यता की सूचक है। यह कर्कशता प्रारंभ के मुसलिम आक्रमणों की विशेषता थी। केवल भारतवर्ष में ही नहीं, अन्य प्रदेशों में भी मुसलमानों का प्रवेश उन देशों की विविध कलाओं तथा सभ्यता के निदर्शनों का नाशक ही हुआ, उन्नायक नहीं। यह हम तत्कालीन नवोत्थित मुसलिम शक्ति की बात कह रहे हैं। थोड़े समय के उपरांत जब

उन्माद का प्रथम प्रवाह कुछ धीमा पड़ गया, और मुसलमानों ने तलवार के साथ साथ कुछ मनुष्यत्व भी धारण कर लिया, तब कलाओं के क्षेत्र में भी प्रचुर उन्नति हुई।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि भारत में आए हुए मुसलमान निरे असभ्य और जंगली न थे और उनका धार्मिक तथा सांस्कृतिक विकास भी संतोषप्रद था। विविध कलाओं की उनकी निजी शैली थी जो भारतीय शैली से सर्वथा भिन्न थी। उनके भारत में आने पर दोनों शैलियों का सम्मिश्रण होने लगा, जो स्वाभाविक ही था। प्रत्येक कला पर इस सम्मिश्रण की छाप स्पष्ट देख पड़ती है, परंतु साथ ही दोनों का स्वतंत्र विकास भी अनुल्लेख्य नहीं है। नीचे हम वास्तुकला की तत्कालीन अवस्था का संक्षेप में उल्लेख करेंगे।

वास्तुकला के इतिहास में मुसलमानों तथा हिंदुओं की शैलियों का सम्मिश्रण बहुत ही रोचक तथा चमत्कारपूर्ण है। विजयी मुसलमानों ने जिस प्रकार हिंदू तथा जैन मंदिरों को तोड़कर मस्जिदें बनवाईं वह एक दृष्टि से उनकी नृशंसता का परिचायक है, और दूसरी दृष्टि से उनकी कलामर्मज्ञता का द्योतक है। इस देश में आकर इस देश की समृद्ध तक्षणकला से प्रभावित न होना विदेशियों के लिये असंभव था। उन्हें अनिवार्य रीति से यहाँ के शिल्पसाधनों तथा शैलियों का प्रयोग करना पड़ा। उनके कारीगर सब अरब और फारस से तो आए नहीं थे; वे अधिकतर इसी देश के होते थे। अतः जब उनके भवन-निर्माण का कार्य प्रारंभ हुआ, तब उसमें हिंदू-भवन-निर्माण-विधि की स्पष्ट झलक देख पड़ी। कलाविदों का कथन है कि सभी भारतीय आदर्शों तथा शैलियों का प्रवेश, किसी न किसी रूप में, तत्कालीन मुसलिम इमारतों में

मुसलमानी तथा हिंदू वास्तुकला का तारतम्य

हुआ। परंतु उन पर इस देश का ऋण केवल बाह्य आदर्शों तथा शैलियों तक ही परिमित न रहा। भारतीय स्थापत्य की सबसे बड़ी दो विशेषताओं—शक्ति तथा सौंदर्य—की छाप भी उनमें पूरी पूरी देखी गई। मुसलिम स्थापत्य की ये विशेषताएँ भारत में ही उपलब्ध होती हैं, अन्य देशों में नहीं। जेरुसलम और दमिश्क आदि के यवन स्थापत्य में पच्चीकारी का जो सौष्ठव है, फारस के चीनी के खपड़ों में जो चमक दमक है, अथवा स्पेन की मस्जिदों में जो कल्पनात्मक विशेषता है, संभव है इस देश की मुसलिम इमारतों में वह न हो; परंतु शक्ति तथा सौंदर्य का ऐसा मणिकांचन-संयोग भारत को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिल सकता।

मुसलिम तथा हिंदू तक्षणकला का साधारण विभेद मस्जिदों तथा मंदिरों की निर्माणशैली से ही प्रत्यक्ष हो जाता है। हिंदुओं के मंदिर का मध्य भाग, जहाँ मूर्ति रहती है, विशेष विस्तृत नहीं होता। उसमें एक प्रकार की अद्भुत प्रभविष्णुता तथा अनुभावकता रहती है, जो उसकी परिमिति के ही फल-स्वरूप होती है। इसके विपरीत मुसलमानों का उपासनागृह चारों ओर से खुला और अधिक फैला हुआ रहता है जिनसे उसमें भव्यता का समावेश होता है। हिंदुओं ने सीधे स्तंभों का प्रयोग किया था, परंतु मुसलिम मस्जिदों में प्रायः मिहराबदार खंभे देते थे। मंदिर के शीर्ष पर कलश बनते हैं, मस्जिदों में गुंबद होते हैं। परंतु इन साधारण विभेदों के अतिरिक्त उनकी एक दूसरी विभिन्नता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हिंदू मंदिरों में मूर्तियाँ होती हैं, मुसलिम मस्जिदों में नहीं होतीं। हिंदुओं ने ब्रह्म की व्यक्त सत्ता पर जोर देकर सगुणोपासना का जो मार्ग प्रशस्त किया था, उसमें मूर्तियों के लिये स्थान था। हिंदू अपने इष्टदेवों की सुंदर मूर्तियाँ बनाकर उनकी वेषभूषा का विधान भी करते थे। उनकी यह कला अद्वितीय है।

परंतु मुसलमानों ने मूर्तियों तथा चित्रों का घोर निषेध कर रखा था। उनकी मस्जिदें मूर्तियों के न होने से उजाड़ सी जान पड़ती हैं। हिंदुओं के मंदिरों में मूर्तियों के कारण मानों सजीवता आ जाती है। साथ ही मस्जिदों के विस्तार में अनंतता की कुछ छाया झलकती है।

इन विभेदों के साथ ही मंदिर तथा मस्जिद में बहुत सी समानताएँ भी होती हैं। हमारा तो विचार है कि समानताओं के कारण दोनों शैलियों के सम्मिश्रण में सुगमता ही नहीं हुई होगी प्रत्युत उसको उत्तेजना भी मिली होगी। मंदिरों तथा मस्जिदों में समान रूप से आँगन होते हैं, जो खंभों आदि से परिवृत रहते हैं। ये आँगन पूरे एशिया महाप्रदेश की विशेषता हैं। इसके अतिरिक्त हिंदू तथा मुसलिम वास्तुकला में सजावट अथवा शृंगार की ओर सामान्य प्रवृत्ति होती है। वेष-भूषा के बिना दोनों का काम नहीं चलता। हाँ, इतना अवश्य है कि हिंदू वास्तुकारों में शृंगार की प्रेरणा स्वाभाविक होती है, उन्हें यह परंपरागत रीति से प्राप्त हुई है, और मुसलमान वास्तुकारों ने इसे दूसरों से ग्रहण किया था। भारत में आने पर मुसलमानों का बनाव-सिंगार की ओर विशेष झुकाव हुआ।

हिंदू स्थापत्य की एक ही शैली समस्त देश में व्याप्त नहीं थी। उत्तरी भारत में ही उसकी कई शाखाएँ थीं। इतने विस्तृत देश में शैली-भेद का होना स्वाभाविक है भी। जिस प्रकार यहाँ अनेक भाषाएँ प्रचलित थीं, जिस प्रकार यहाँ अनेक धार्मिक संप्रदाय चल रहे थे, जिस प्रकार यहाँ अनेक विदेशियों ने आकर प्रभाव डाले थे तथा जिस प्रकार यहाँ के विभिन्न प्रदेशों की जलवायु और भौगोलिक स्थिति आदि भिन्न भिन्न हैं, उसी के अनुरूप यहाँ के स्थापत्य में भी अनेक प्रांतीय विभेद हुए। परंतु इन विभेदों के होते हुए

भी जिस प्रकार समस्त देश में एक ही ढंग की संस्कृति तथा एक ही ढंग की सभ्यता का विकास हुआ था उसी प्रकार यहाँ के स्थापत्य में सामूहिक एकता भी व्यंजित हुई थी। विजयी मुसलमान जब क्रम क्रम से उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों में फैल गए, तब उन्होंने उन प्रदेशों में प्रचलित स्थापत्य का अपने ढंग पर उपयोग किया। जिन स्थानों में मंदिर ढहाकर मस्जिदों की रचना हुई, वहाँ तो उन स्थानों की वास्तुकला का आधार ग्रहण ही किया गया, पर जिन स्थानों में स्वतंत्र रूप से इमारतें बनवाई गईं, वहाँ भी अधिकतर प्रांतीय शैलियों का ही आश्रय लिया गया। यहाँ कुछ उदाहरण दे देना आवश्यक होगा।

दिल्ली प्रारंभ से ही मुसलमानों का केंद्र रही थी। यहाँ वे सबसे अधिक प्रभावशाली भी थे, और यहीं उन्हें अपनी संस्कृति की रक्षा तथा विकास का सबसे अधिक अवसर भी मिला था। परंतु दिल्ली की प्रसिद्ध मुसलिम इमारतों में भी भारतीय स्थापत्य की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। प्रारंभ में तो मुसलमान विजेताओं ने स्थानीय मंदिरों को तोड़कर मस्जिदों की स्थापना की थी, अतः उस काल की इमारतों में भारतीय शैली प्रत्यक्ष ही है, परंतु दिल्ली की उत्तरकालीन इमारतों से भी इस देश की स्थापत्य संबंधिनी विशेषताएँ लुप्त नहीं हो सकीं। यद्यपि दिल्ली के कुछ शासक अरब की संस्कृति को भारत में अक्षुण्ण रखना चाहते थे, और वे धार्मिक कट्टरपन के उच्चतम प्रतिनिधि थे, फिर भी उनके निर्मित भवनों तथा मस्जिदों आदि में शुद्ध मुसलिम स्थापत्य नहीं मिलता। दिल्ली को छोड़कर अन्य स्थानों में मुसलमानों को न तो ऐसे साधन ही प्राप्त थे और न उनकी ऐसी प्रवृत्ति ही थी कि वे इस देश में रहकर यहाँ के स्थापत्य की अवहेलना कर सकें और अरब की कारीगरी का निर्वाह कर सकें। जौनपुर तथा दक्षिण की मुस-

लिम इमारतों में भारतीय प्रभाव अत्यधिक स्पष्ट है। बंगाल की मस्जिदें ईंट की बनी हुई हैं जो भारत की ही वस्तु है। उनका सजाव-शृंगार भी बंगाली है। अलाउद्दीन खिलजी के समय से ही गुजरात पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था और वहाँ अहमदाबाद की मस्जिदों आदि में मुसलिम शैली का मिश्रित रूप, अजमेर के ढाई दिन के झोपड़े के समान, स्पष्ट देख पड़ता है। इसी प्रकार काश्मीर में भी भवननिर्माण के लिये भारतीय शैली ही ग्रहण की गई। पूर्व परंपरा के अनुसार मुसलिम काल में भी वहाँ लकड़ी पर कारीगरी की गई, जो अपने ढंग की अनुपम है।

हिंदी साहित्य का उद्भव चंद बरदाई के कुछ पहले ही, विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग के लगभग, हुआ था। वह हिंदी का वीर गाथा-काल था जो तेरहवीं शताब्दी तक चलता रहा और वीर हम्मीर के पतन के उपरांत समाप्त हुआ। उसके उपरांत हिंदी साहित्य का भक्तिकाल प्रारंभ हुआ जिसके उन्नायक कबीर, जायसी, सूर, तुलसी आदि हुए, जिनकी वाणी में अभूतपूर्व पवित्रता तथा सरसता का सन्निवेश हुआ। यदि इस काल को हम पूर्व मध्य काल कहें तो उत्तर मध्य काल में हिंदी साहित्य के शृंगारी कवियों की उत्पत्ति हुई जिनकी मुक्तक रचनाओं में शृंगारिकता का प्रशस्त प्रवाह देख पड़ता है। इसी समय हिंदी के प्रसिद्ध वीर कवि भूषण का अभ्युदय भी हुआ पर वे प्रबल वेग से उमड़ी हुई शृंगार-धारा का अवरोध न कर सके। उसका वास्तविक अवरोध आगे चलकर भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय में हुआ। वहीं से हिंदी का आधुनिक काल आरंभ होता है। इस काल में साहित्य की अनेकमुखी प्रगति हुई और साहित्य-निर्माण में गद्य का प्रयोग आरंभ हुआ। यह आधुनिक विकास बहुत कुछ पश्चिमीय ढंग पर हो रहा है, यद्यपि पाश्चात्य आवरण में भारतीय आत्मा की

रक्षा का प्रयास भी साथ ही साथ किया जा रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी-साहित्य का काल क्रमानुसार कई विभागों में बाँटा जा सकता है। जिस प्रकार साहित्य का कालविभाग होता है, उसी प्रकार अन्य कलाएँ भी समयानुसार अपना स्वरूप बदलती रहती हैं। उनका स्वरूप-परिवर्तन अधिकतर साहित्य के स्वरूप-परिवर्तन के अनुरूप ही हुआ करता है; क्योंकि साहित्य की ही भाँति अन्य कलाएँ भी जनता की चित्तवृत्ति पर अवलंबित रहती और उन चित्तवृत्तियों के हेर फेर के साथ स्वयं भी परिवर्तित होती रहती हैं। यहाँ हम विभिन्न ललित कलाओं का वर्णन सुगमता के लिये हिंदी साहित्य के उपर्युक्त कालविभाग के अनुसार करेंगे।

वास्तुकला तथा मूर्तिकला

ऊपर हमने हिंदू तथा मुसलिम स्थापत्य का जो भेद बतलाया है, उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि मूर्तियों का निर्माण मंदिर-स्थापत्य का अविच्छिन्न अंश है, अतः मूर्तिकला का विकास वास्तुकला के साथ युगपद् रूप में हुआ है। मुसलिम स्थापत्य में तो इस कला का कहीं पता भी नहीं मिलता; क्योंकि अपने धार्मिक सिद्धांतों के अनुसार मुसलमान मूर्ति-पूजा की कौन कहे, मूर्ति-निर्माण तक को कुफ़्र समझते थे, परंतु हिंदुओं के मंदिरों में मूर्तियों को सदा से प्रधान स्थान प्राप्त रहा है। यहाँ हम वास्तुकला तथा मूर्तिकला का विवरण सम्मिलित रूप से देंगे, क्योंकि भारतीय स्थापत्य में इन दोनों का संबंध प्रारंभ से ही घनिष्ठ तथा अटूट रहा है।

आदि काल

उत्तर भारत के तत्कालीन क्षत्रिय नृपति अधिकतर शाक्त तथा शैव थे और युद्धप्रियता के साथ ही हिंसा तथा मांसभक्षण की ओर

भी उनकी प्रवृत्ति थी। उस समय का सबसे उत्तम मंदिर-समूह बुंदेलखंड के खजराहो नामक स्थान में है। वहाँ छोटे बड़े पचासों हिंदू तथा जैन मंदिर हैं। हिंदू मंदिरों में सर्वोत्तम कंडरिया महादेव का विशाल मंदिर है, जो जमीन से ११६ फुट ऊँचा और बहुत सुंदर है। इसके नीचे जो भारी कुरसी या चबूतरा बना है उससे इसका विशाल आकार और भी प्रभविष्णु हो गया है। क्रमशः छोटे होते हुए एक के ऊपर दूसरे शिखरसमूह बड़े ही भव्य हैं, जिनके द्वारा कला में कैलास की अभिव्यक्ति का अनुपम नमूना मिलता है। वहाँ के वैष्णव तथा जैन मंदिरों में विशेष मौलिकता नहीं है, वे सब इसी कंडरिया महादेव के मंदिर के अनुकरण पर हैं और केवल मूर्तियों की विभिन्नता ही उनकी विशेषता है। मूर्तियों की काट छाँट गुप्तकालीन मुखाकृति की रचना का अनुकरण तथा अलंकरण है। आभूषणों की सजावट में गुप्तकालीन सरलता नहीं है और न हस्त तथा चरण-मुद्राओं में विशेष भाव भंगी है, केवल लावण्य-शृंगार की प्रचुरता है। तथापि उस काल की जो विशिष्ट मूर्तियाँ हैं, वे गुप्तकाल की सुंदर प्रतिमाओं की समानता करती हैं। सुलतानपुर (अवध) की विष्णु की, महोबा की पद्मपाणि की तथा भोजनगर (मालवा) की सरस्वती की मूर्तियाँ इसका उदाहरण हैं। इसी समय के लगभग गुजरात की विशेष अलंकृत शैली का जन्म हुआ, जिसका प्रसार पश्चिमी राजपूताने तक था। सोमनाथ, मुढेरा तथा सिद्धपुर के मंदिर और डभोई का किला इसके उदाहरण हैं। परंतु इसका प्रधान और लोकोत्तर उदाहरण विमलशाह का वि० १०३१ में बनवाया हुआ आबू का जैनमंदिर है, जो देखनेवाले की आँखों में आश्चर्य चकाचौंध उत्पन्न कर देता है। ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी में बने नागदा में सर्वोत्कृष्ट दो मंदिर सास बहू के हैं, जिनके स्थापत्य की बड़ी प्रशंसा है। इन तथा

अन्य स्थानों के बने हुए तत्कालीन मंदिरों की शैली का विश्लेषण करने पर उनकी प्रचुर प्रभविष्णुता, अनुभावता तथा शृंगारिकता स्पष्ट झलकने लगती है, जो उस समय की प्रधान राजपूत मनोवृत्तियाँ थीं। साहित्य में ये ही चित्तवृत्तियाँ युद्ध और प्रेम के वर्णनों द्वारा व्यक्त की गई हैं।

जब हम इस काल के मुसलिम स्थापत्य की ओर ध्यान देते हैं तब हमारी दृष्टि पहले पहल दिल्ली की ओर जाती है। दिल्ली के पहले सिंध और अफगानिस्तान में आए हुए अरबों ने कुछ इमारतें बनवाई थीं; परंतु मंसूरा के भग्नावशेषों के अतिरिक्त अब उनका कोई अवशेष-चिह्न नहीं मिलता। गजनी में भी महमूद के समाधि-मंदिर तथा दो मीनारों अथवा विजयप्रासादों के अतिरिक्त स्थापत्य का कोई उल्लेखयोग्य कार्य नहीं हुआ। दिल्ली की इमारतों में जामा या कवायतुल इस्लाम मस्जिद उस समय की प्रधान कृति मानी जाती है। इसका निर्माण कुतुबुद्दीन ऐबक ने दिल्ली की विजय के उपरांत किया था और विजयस्मृति में उसे मुसलिम वीरत्व का निदर्शन मानकर तदनुरूप उसका नामकरण भी किया था। इस विशाल मस्जिद को कुतुबुद्दीन के परवर्ती अल्तमश तथा अलाउद्दीन खिलजी आदि नृपतियों ने अधिकाधिक विस्तृत तथा अलंकृत किया। पहले इसमें हिंदू स्थापत्य की ही प्रधानता थी, परंतु ज्यों ज्यों दिल्ली में मुसलमानों का सिक्का जमता गया और उन्हें साधन मिलते गए त्यों त्यों इस मस्जिद का रूप-परिवर्तन भी होता गया और इसमें मुसलिम कारीगरी बढ़ती गई। वि० १२८९ कुतुब-मीनार के निर्माण का समय है। संभवतः इसकी रचना का प्रारंभिक उद्देश्य कुछ और ही था, पर पीछे से यह मुसलमानों की विजय का स्मारक बन गया। प्रारंभ में यह लगभग २२५ फुट ऊँचा था। इसमें कुरान की आयतें खुदी हुई हैं। प्रत्येक मस्जिद के

कोने पर मीनार होते हैं। इससे अनुमान होता है कि लोहस्तंभ के निकटवाली, हिंदू मंदिरों को तोड़कर बनाई हुई, मस्जिद का यह मीनार होगा; पर पीछे से यह मुसलमानों की विजय का चिह्न बन गया। इसकी मरम्मत भी दिल्ली की शासक-परंपरा ने बराबर की है। यद्यपि कुतुब में भारतीय अलंकरणों का समावेश देखकर तथा दो नागरी लेखों के आधार पर कुछ विद्वानों ने इसे पृथ्वीराज द्वारा निर्मित बतलाया है, किंतु ऐसी आशंका करना उचित नहीं जान पड़ता। यह कहीं से परिवर्तित की हुई इमारत नहीं है, अपने मौलिक रूप में ही है। तेरहवीं शताब्दी की बनी हुई अजमेर की "ढाई दिन का झोपड़ा" मस्जिद दिल्ली की 'कवायतुल इस्लाम' मस्जिद की ही भाँति भव्य तथा विशाल है। इस काल की ये ही विशेष उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। इन प्रसिद्ध इमारतों से मुसलमानों के प्राथमिक विजयोल्लास का पूरा पूरा अनुभव हो जाता है।

जब दिल्ली का शासन खिलजियों के वंश से निकलकर तुगलक वंश के हाथ में आया, तब वहाँ के स्थापत्य में एक महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। इस समय तक मुसलमानों का प्राथमिक उल्लास बहुत कुछ शिथिल पड़ गया था और अब वे धर्म के शुचितर सिद्धांतों तथा जीवन की गंभीर समस्याओं की ओर ध्यान देने लगे थे। अतएव आदि काल के मुसलिम स्थापत्य में जो अलंकरणाधिक्य और बाह्य सुंदरता थी, वह इस काल में कम हो चली। यद्यपि आर्थिक स्थिति ने भी सरलता और सादगी की ओर प्रेरित किया, पर मनोवृत्ति में भी परिवर्तन अवश्य हुआ। इस काल की सभी प्रसिद्ध इमारतों में एक पूत भावना का समावेश सा जान पड़ता है। गयासुद्दीन के बनवाए हुए तुगलकाबाद (सं० १३७८-८२) का संपूर्ण स्थापत्य

पूर्व मध्य काल

तथा विशेषत: उसकी समाधि आदि इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं। फीरोजशाह के बनवाए हुए कोटला फिरोजशाह आदि भी स्थापत्य की दृष्टि से अनलंकृत कोटि के हैं। फीरोजशाह के प्रधान मंत्री खानेजहाँ तिलंगानी की कब्र भी इस काल की उल्लेखनीय रचना है; परंतु यह भी आदि काल की मुसलिम इमारतों के सामने बिलकुल सादी और उजाड़ सी जान पड़ती है। इस काल की कृतियों में भारतीय प्रभाव उतना अधिक नहीं है, जितना कि आगे चलकर मुगल काल में हुआ।

सैयद और लोदी शासकों के समय में स्थापत्य की दशा अच्छी नहीं रही। उनके पास उत्तम स्थापत्य के उपयुक्त साधन ही नहीं थे। अंत में जब मुगल साम्राज्य की स्थापना हुई और सुख-समृद्धिपूर्ण समय आया, तब स्थापत्य को नए सिर से अभ्युत्थान का अवसर मिला। मुगल स्थापत्य का प्रारंभ हुमायूँ के मकबरे से हुआ। इसमें सादगी, प्रभविष्णुता और भव्यता के साथ साथ भारतीयता का भी सन्निवेश हुआ। इसकी छेंकन सर्वथा भारतीय अर्थात् पंचरत्न, बौद्ध समाधि या देवालय की है। मुगलकला पर भारतीय प्रभाव का यह प्रथम महत्त्वपूर्ण निदर्शन है। हुमायूँ के उपरांत जब इस देश के शासन की बागडोर अकबर के हाथों में गई, तब हिंदू और मुसलिम शैलियों का सम्मिश्रण जैसे अन्य क्षेत्रों में हुआ, वैसे ही स्थापत्य में भी हुआ। उसकी बनवाई हुई फतहपुर सिकरी की इमारतें देखने में बिलकुल हिंदू इमारतें जान पड़ती हैं। इनके अलंकरण भी अकबर के ही योग्य हुए हैं—न कम न अधिक; मानों उनमें पूर्णता आँखें खोलकर मुसकरा रही हो। अकबर की ही बनवाई हुई वहीं की जामामस्जिद भी अपनी मिश्रित कला के लिये प्रसिद्ध है, मानों वह सब प्रधान धर्मों के उपासकों का सम्मिलित उपासना-गृह हो। इसके अतिरिक्त

जोधबाई का महल, मरियम जमानी के भवन, स्वयं अकबर का निवास-भवन, दीवानआम, दीवानखास आदि सब अपने ढंग की बहुत ही उच्च कोटि की इमारतें हैं। जहाँगीर ने अकबर की परंपरा के रक्षण की चेष्टा की। उसने आगरे के किले में आँगनदार महल तथा लाहौर और काश्मीर में शालामार बाग बनवाए जिनमें फौवारों, जल-प्रपात तथा प्रवाह का सौंदर्य दर्शनीय है। मुगलों के स्थापत्य का चरम उत्कर्ष शाहजहाँ की प्रियतमा मुमताजमहल का मकबरा ताजमहल है जो एक रत्नजटित आभूषण सा सुंदर एवं मनोमोहक बना है। इसकी गणना संसार की कतिपय सर्वोत्कृष्ट मानव-रचनाओं में विशेष आदर के साथ की जाती है। दिल्ली में शाहजहाँ का बनवाया हुआ लाल पत्थर का किला तथा बड़ी जामा-मस्जिद आदि अन्य उत्कृष्ट स्थापत्य भी उल्लेखनीय हैं।

यह तो शासकों की कृतियों का उल्लेख हुआ। इसके अतिरिक्त अनेक मुसलमान मांडलिकों की कृतियाँ भी उत्कृष्ट हुई हैं जिनमें जौनपुर तथा गुजरात की, विशेषकर अहमदाबाद की, कुछ इमारतें अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। बिहार में शेरशाह का सहसराम-वाला मकबरा भी अपने ढंग का अद्वितीय समझा जाता है। इसका सौम्य तथा गंभीर रूप ही इसकी विशेषता है। इस काल की प्रायः सभी इमारतों में भारतीय भवन-निर्माण विधि का पूरा पूरा संयोग है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि इस समय हिंदू और मुसलमान एक साथ रहकर हेल-मेल रखना भी सीख रहे थे।

मूर्तिकला का ह्रास इस युग तथा इसके परवर्ती युग की प्रधान विशेषता है। चित्तौड़ का महाराणा कुंभा का कीर्त्ति-स्तंभ और मीराबाई का (कुंभस्वामी) मंदिर भी प्रसिद्ध हैं। संवत् १५४३ का बना हुआ ग्वालियर का किला, १६४७ वि० में निर्मित वृंदावन का गोविंद देव का मंदिर और इसी समय के लगभग

बना काशी विश्वेश्वर का प्राचीन मंदिर भी इसी श्रेणी की इमारतें हैं। इन सबमें कुछ न कुछ मुसलिम प्रभाव अवश्य मिलता है। यद्यपि महाराणा कुंभा के कीर्तिस्तंभ में बहुत सुंदर मूर्तियाँ बनी हुई हैं, परंतु उनमें इस काल का ह्रास प्रत्यक्ष लक्षित हो जाता है। संवत् १६४९ से १६८७ तक की बनी मानसिंह की आमेर की इमारतों में मुसलिम स्थापत्य की छाप बहुत अधिक पड़ी। वे दिल्ली के दीवान आम की असफल नकल हैं। राजपूताने की वर्तमान भवन-निर्माण-शैली का जन्म यहीं से होता है।

अकबर के समय में बुँदेलखंड में प्रसिद्ध वीरसिंहदेव हुए। उस समय वहाँ हिंदू संस्कृति की जो नवजागर्ति देख पड़ी थी, उसका प्रभाव स्थापत्य पर कम नहीं पड़ा। ओरछे का सुंदर नगर तथा उसमें चतुर्भुजजी का विशाल मंदिर वहाँ के स्थापत्य के उत्कृष्ट उदाहरण तो हैं ही, वे हिंदू स्थापत्य में भी एक उच्च स्थान के अधिकारी हैं। वीरसिंहदेवजी की छतरी तथा उनके महल भी वास्तुकला के बड़े सुंदर निदर्शन हैं। उनका दतियावाला महल तो सचमुच अद्वितीय है। यहाँ की इमारतों में मुसलमानों का प्रभाव बहुत कम, प्रायः नहीं के बराबर, पड़ा। इनमें व्यर्थ अलंकरणों के अभाव से एक प्रकार की सादगी आ गई है जिससे इनके भारतीय गृहस्थ के शुचितम तथा सुंदरतम आवास होने का आभास मिलता है। अकबरकी तुलना में यद्यपि ये वीर बुँदेले कुछ भी न थे, फिर भी अपनी इमारतों के विचार से ये उससे टक्कर लेते हैं।

शाहजहाँ के ताजमहल में मुगल स्थापत्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया है। यहीं से एक नवीन युग का आरंभ होता है जिसे हम ह्रास का युग कह सकते हैं। यों तो शाहजहाँ के समय से ही मुसलमानों का धार्मिक कट्टरपन जोर पकड़ रहा था, परंतु उसके उत्तराधिकारी औरंगजेब की

उत्तर मध्य काल

नृशंसता तो इतिहास-प्रसिद्ध हुई। पुर्तगाली मंदिरों को तुड़वा-कर शाहजहाँ ने जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया था, औरंगजेब ने जीवनपर्यंत उसकी पुष्टि की। ऐसी अवस्था में ललित कलाएँ उन्नति नहीं कर सकती थीं। औरंगजेब की बनवाई हुई इमारतों में अधिकांश मस्जिदें तो मंदिरों को तोड़कर बनी हैं। उनमें एक प्रकार की बर्बरता, रुखाई तथा उजाड़पन सा निदर्शित होता है। शाहजहाँ के समय के सुंदर स्थापत्य को उसने ऐसा रूप दिया है, मानों उसकी खाल खिंचवा ली हो। उसकी इमारतों में काशी के गंगा तट पर बनी वह मस्जिद है जो बिंदुमाधव के मंदिर को तोड़कर बनाई गई थी। यह अब भी उसी पुराने नाम "माधव-राय का धौरहरा" से पुकारी जाती है। दक्षिण में उसने अपनी बेगम का मकबरा बनवाने में ताज की नकल की, पर उसमें कुछ भी सफलता नहीं मिली। औरंगजेब के पीछे मुगलों की कोई विशेष प्रसिद्ध इमारत नहीं बनी। केवल दूसरे शाह आलम ने अहमदाबाद (गुजरात) में कुछ इमारतें बनवाईं जिनमें जैन-मंदिर-निर्माण-विधि का अनुकरण किया गया। जैनों की मंदिर-निर्माण-कला पूर्ववत् ही बनी रही, उसमें कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ।

जिस प्रकार हिंदी साहित्य की शृंगार-परंपरा के बीच में भूषण का उदय हुआ था, जिनकी वाणी में अद्भुत ओज तथा जातीयता का प्रसार हुआ, उसी प्रकार औरंगजेब की नृशंसता से नष्ट होती हुई वास्तुकला को भी मराठों तथा सिखों ने पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया था। मराठों ने काशी में अनेक घाट और मंदिर बनवाए। मंदिरों में तो प्राचीन शैली का अनुकरण मात्र मिलता है, पर घाटों की विशेषता उनके भारीपन में है, जिसके कारण उनके निर्माताओं की महत्त्वाकांक्षा प्रदर्शित होती

है। यदि मराठों की सत्ता जीवित रहती, तो उनका स्थापत्य अवश्य ही विशेष उन्नत होता, परंतु संयोगवश ऐसा न हो सका। सिखों की इमारतों में संवत् १८२३ का बना अमृतसर का तालाब और स्वर्ण-मंदिर मनोहर स्थापत्य के निदर्शन हैं। इनमें सौंदर्य और प्रभविष्णुता दोनों हैं। यद्यपि इस मंदिर में ताज की शैली का बहुत कुछ अनुकरण दृष्टिगोचर होता है, पर सादगी और पवित्रता के नए भाव भी इसमें स्पष्ट देख पड़ते हैं।

इस काल में मूर्तिकला तो प्रायः विस्मृत सी हो गई थी। उड़ीसा और गुजरात में प्राचीन परंपरा का निर्वाहमात्र करती हुई मूर्तियाँ बनती रहीं, पर उनमें स्वतंत्र प्रतिभा का पता नहीं है। नेपाल के हिंदू नृपतियों के संरक्षण में भी इस कला का थोड़ा बहुत विकास होता रहा, परंतु वहाँ की मूर्तिकला पर महायान (बौद्ध) शैली का ही अधिक प्रभाव पड़ा।

लखनऊ के नवाबों की बनवाई हुई इस काल की इमारतों में केवल लखनऊ का बड़ा इमामबाड़ा अपनी विशालता के कारण उल्लेखनीय है। यहीं से युरोपीय प्रभाव का आरंभ समझना चाहिए।

वर्तमान काल के स्थापत्य के हम चार मुख्य विभाग कर सकते हैं। (१) पब्लिकवर्क्स डिपार्टमेंट की इमारतें—इनमें शैली के भद्देपन के अतिरिक्त कोई विशेषता नहीं होती। इनका निर्माण काम चलाने के लिये ही किया जाता है, अन्य किसी उद्देश से नहीं। (२) धनिकों की इमारतें—इनसे हमारा तात्पर्य उन मंदिरों, धर्मशालाओं और निवास-गृहों से है जो देश के सेठ-साहूकार, राजा रईस आदि बनवाते हैं। इनमें भी स्वतंत्र कला की सजीवता नहीं देख पड़ती। इनकी शैली अधिकतर संकर शैली कही जा सकती है। कला की भावना से हीन कारीगर जहाँ जो चाहते हैं, बनाते हैं, कोइ पथप्रदर्शक नहीं

आधुनिक काल

है। पन्ना का बलदाऊजी का मंदिर इसका अच्छा उदाहरण है। (३) विलायत के बड़े बड़े वास्तुकारों के परिकल्पित भवन—इस श्रेणी में कलकत्ते का विक्टोरिया मेमोरियल तथा नई दिल्ली के भवन आते हैं। इनका स्थापत्य विदेशीय है, जो हमारे देश से बिलकुल विभिन्न होने के कारण यहाँ की परिस्थिति के अनुकूल नहीं है। इस दृष्टि से उनकी विफलता प्रत्यक्ष है। (४) इस श्रेणी में वे इमारतें गिनी जा सकती हैं जिनमें भारतीय स्थापत्य की राजपूत शैली के पुनरुत्थान का प्रयास किया गया है और मनोहरता पर विशेष ध्यान रखा गया है। इसके अतर्गत काशी विश्वविद्यालय, स्वर्गीय महादेवप्रसाद जायसवाल का मिर्जापुरवाला मकान, पटना म्यूजियम, ग्राउस साहब का बनवाया हुआ बुलंदशहर का टाउनहाल, मथुरा का फाटक, नई दिल्ली की कुछ इमारतें गिनी जा सकती हैं। प्रत्येक प्रकार की कला पर वर्तमान युग के भावों और विचारों का प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। प्राचीन शैली के साथ इन नए भावों तथा विचारों का सामंजस्य और सम्मिश्रण ही श्रेयस्कर है जिसमें प्राचीन परंपरा बनी रहे और साथ ही नवोत्थित आवश्यकताओं की पूर्ति हो।

सारांश यह है कि जिस प्रकार धार्मिक, सामाजिक, नैतिक, साहित्यिक आदि स्थितियों पर युरोपीय सभ्यता तथा संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट देख पड़ता है, उसी प्रकार यहाँ के स्थापत्य पर भी उसकी छाप दृष्टिगोचर होती है। जैसे काशी विश्वविद्यालय की इमारतों में राजपूत और मुगल स्थापत्य का विशेष अनुकरण करने की चेष्टा की गई है, साथ ही खिड़कियों तथा दरवाजों में पाश्चात्य शैली का अनुकरण किया गया है। कुछ कलाविद इस अनुकरण में भावना या कल्पना का अभाव बतला सकते हैं। पर इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि अब प्राचीन कला के उद्धार तथा भारतीय

आदर्शों के अनुसार नवीन विकास की योजना होने लगी है। काशी विश्वविद्यालय की इमारतों में यह विकास प्रत्यक्ष देख पड़ता और चित्ताकर्षक सिद्ध होता है।

मूर्ति-निर्माण में बंबई के म्हातरे ने अच्छी ख्याति पाई है। दो एक अन्य महाराष्ट्र तथा बंगाली सज्जन भी कार्यक्षेत्र में अग्रसर हो रहे हैं, परंतु प्राचीन मूर्तिकला की आत्मा को सामयिक शरीर देने का कार्य अब तक विधिवत् प्रारंभ नहीं हुआ है।

चित्रकला

चित्रकला का आधार कपड़े, कागज, लकड़ी, दीवार आदि का चित्रपट है जिस पर चित्रकार अपनी कलम या कूँची की सहायता से भिन्न भिन्न पदार्थों या जीवधारियों के प्राकृतिक रूप, रंग और आकार आदि का अनुभव कराता है। मूर्तिकार की अपेक्षा उसे मूर्त आधार का कम आश्रय रहता है। इसी से उसे अपनी कला का सौंदर्य दिखाने के लिये अधिक कौशल से काम करना पड़ता है। वह अपनी कलम या कूँची से समतल या सपाट सतह पर स्थूलता, कृशता, बंधुरता, उन्नमन, अवनमन, सन्निकर्ष, विप्रकर्ष, छाया और प्रकाश आदि को यथायोग्य दिखाता है। वास्तविक पदार्थ को दर्शक जिस परिस्थिति में देखता है, उसी के अनुसार अंकन द्वारा वह अपने चित्रपट पर ऐसा चित्र प्रस्तुत करता है जिसे देखकर दर्शक को चित्रगत वस्तु असल वस्तु सी जान पड़ने लगती है। इस प्रकार वास्तुकार और मूर्तिकार की अपेक्षा चित्रकार को अपनी कला के ही द्वारा मानसिक सृष्टि उत्पन्न करने का अधिक अवसर मिलता है। उसकी कृति में मूर्त्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है। किसी ऐतिहासिक घटना या प्राकृतिक दृश्य को अंकित करने में चित्रकार को

केवल उस घटना या प्राकृतिक दृश्य के बाहरी अंगों को जानना और अंकित करना आवश्यक नहीं होता, किंतु उसे अपने विचार के अनुसार उस घटना या दृश्य को सजीवता देने और मनुष्य या प्रकृति की भावभंगी का प्रतिरूप आँखों के सामने खड़ा करने के लिये, अपनी कूँची चलाना और परोक्ष रूप से अपने मानसिक भावों का सजीव चित्र सा प्रस्तुत करना पड़ता है। अतएव यह स्पष्ट है कि इस कला में मूर्त्तता का अंश थोड़ा और मानसिकता का मुख्य होता है। नीचे हम हिंदी साहित्य के क्रम-विकास के विभिन्न कालों में उत्तर भारत की चित्रकला की अवस्था का दिग्दर्शन कराएँगे।

अजंता की गुहाओं की उत्कृष्ट चित्रकला की शैली इस समय अध:पतित हो रही थी। बौद्ध धर्म के प्रसार के साथ ही भारत में इस कला का जैसा अनुपम विकास हुआ था, उसके ह्रास के साथ ही उसकी भी अधोगति हुई। इसमें संदेह नहीं कि बौद्ध काल ही इस देश की चित्रकला का स्वर्ण-युग था। फिर भी चित्रकला का यहाँ कुछ न कुछ प्रचार सदा बना रहा और बीच बीच में उसमें नवीन जागर्ति भी देख पड़ती रही। तत्कालीन प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रंथों में अनेक स्थानों पर चित्रों का वर्णन बड़ी रमणीय रीति से किया गया है, जिससे यह प्रमाणित होता है कि जनता की अभिरुचि उस ओर से सर्वथा हट नहीं गई थी। यही नहीं, उस समय चित्राधारों के बनवाने की भी रीति थी और चित्रकारों का समाज में आदर भी अधिक था।

आदि काल

उस काल के तालपत्र पर लिखे कतिपय सचित्र जैन कल्पसूत्र एवं कालकाचार्य-कथानक मिले हैं जिनमें से एक पाटन (गुजरात) के पुस्तक-भांडार में रक्षित है। यह १२९४ वि० का लिखा है। इन कल्प-सूत्रों आदि में जो चित्र हैं वे गुजरात के ही बने हैं एवं इस काल की

गिरी दशा के द्योतक हैं। उक्त चित्रकारी को केवल जैन पुस्तकों में पाकर डाक्टर कुमारस्वामी प्रभृति विद्वानों ने उसका नाम जैन चित्रकारी रखा था; परंतु श्रीयुत एन० सी० मेहता की नवीन खोज के अनुसार इस कला को गुजराती कलम कहना चाहिए। इसका प्रचार केवल गुजरात में ही नहीं था, वरन् उत्तर भारत के उस विस्तृत भूभाग में भी था जहाँ हिंदी साहित्य की आदिकालीन वीरगाथाओं की रचना हुई थी।

यों तो पटों, फलकों और तालपत्रों पर चित्र बनते ही थे, किंतु उस समय तक चित्रण का मुख्य स्थल दीवारें ही थीं। भीतों की सजावट चित्रों ही द्वारा होती थी और वास्तुविद्या के अंतर्गत यह एक मुख्य कला थी।

पूर्व मध्य काल

इस काल की "वसंत-विलास" नामक एक रचना श्रीयुत एन० सी० मेहता को मिली है। इस पुस्तक में संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि के सुभाषितों का संग्रह है और बीच बीच में शृंगारिक चित्र भी हैं। इसका लिपि-काल १५०८ वि० है। अनुमान होता है कि विलासी श्रीमानों के लिये इस ग्रंथ की ऐसी सचित्र प्रतियाँ उस समय बहुत बनती रही होंगी। इसकी लिपि में थोड़ी थोड़ी दूर पर स्याही के रंग बदले गए हैं और कहीं कहीं सुनहली स्याही का भी प्रयोग किया गया है। हाशिए पर तरह तरह की बेल हैं। इसके चित्रों में कई ऐसे हैं जिनमें आगे की राजस्थान तथा बुंदेलखंड की चित्रकला के बीज मिलते हैं। इस शृंगारिक रचना के अतिरिक्त जैन-धर्मग्रंथों की भी कतिपय सचित्र प्रतियाँ इस काल में बनी थीं जो अब भी ब्रिटिश म्यूजियम, इंडिया आफिस आदि में रक्षित हैं। भारत में भी कलकत्ते के दो एक बंगाली सज्जनों के संग्रहों में ऐसी कुछ प्रतियाँ हैं।

पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर सोलहवीं शताब्दी के अंत तक के इसी शैली के कई चित्र काशी के नागरीप्रचारिणी सभा के भारत कला-भवन को प्राप्त हुए हैं। ये अपने ढंग के अनुपम हैं; क्योंकि इनका विषय कोई कथानक काव्य है जिसकी भाषा कहीं फारसी है और कहीं जायसी काल की हिंदी है। ये चित्र कागज पर खड़े बल में (किताबनुमा) बने हैं। दुर्भाग्य-वश इस ग्रंथ के केवल छः पन्ने हाथ लगे हैं, वे भी अभी ठीक ठीक पढ़े नहीं गए। तथापि उनके मिलने से अब यह चित्रण परिपाटी गुजरात की ही सीमा में न रहकर दो-आब तक खिंच आती है।

यद्यपि राजपूत चित्र-शैली का आविर्भाव इस काल के पूर्व सोलहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में हो गया था, पर उसका ठीक ठीक विकास कुछ समय के उपरांत हुआ। डाक्टर कुमारस्वामी और श्रीयुत अजित घोष के संग्रहों में कुछ राग रागिनियों के चित्र हैं जिनके रचना-काल के संबंध में बड़ा मतभेद चला था। अंत में वे सत्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक भाग के लगभग बने माने गए हैं और उनमें चित्रकला के नवीन युग के बीज एवं प्राचीनता के चिह्न स्वीकृत किए गए हैं। राग रागिनियों के चित्र अब तक अविदित थे। पंद्रहवीं शताब्दी की संगीत पुस्तकों तथा सूर और तुलसी के पदों तक में रागों की इस प्रकार की कल्पना नहीं मिलती। तो भी ये राग-परिवार केवल कपोलकल्पना नहीं माने जा सकते, इनमें कुछ न कुछ तत्त्व अवश्य हैं। छः रागों के ध्यान तो निःसंदेह ऋतुओं के अनुसार हैं, और रागिनियों के ध्यान भी संभवतः उनके द्वारा उद्दीप्त भावों का अभिव्यंजन करते हैं। कहा जाता है कि उक्त रागमाला के चित्र राजपूताने अथवा बुंदेलखंड में बने थे। कुछ विद्वानों का कहना है कि ये चित्र मालवा की कलम के हैं क्योंकि उन दिनों वही एक

उत्तर मध्य काल

संगीत-प्रधान केंद्र था, पर राजपुताने में भी राग-रागिनियों के चित्र दो ढाई सौ वर्ष पहले के बने मिलते हैं। जो कुछ हो, राजपूत शैली की राजस्थानी शाखा का मुख्य विषय आरंभ से लेकर वर्तमान काल तक रागमाला ही रहा है। इस काल में बारहमासा के चित्रों तथा धार्मिक चित्रों की ओर भी ध्यान दिया गया। धार्मिक चित्रों में कृष्णलीला को ही प्रधानता दी गई। नायिका-भेद या साहित्यिक विषयों के चित्र भी कुछ कुछ मिलते हैं। लाहौर म्यूजियम और जयपुर म्यूजियम में हम्मीरहठ के चित्रों का तथा ब्रिटिश म्यूजियम और भारत कलाभवन में बारहमासे और नायिकाओं के चित्रों का अच्छा संग्रह है। इस शैली के चित्रों में वास्तविकता की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था, जितना कल्पना की ओर रहता था। काशिराज के पुस्तकालय के रामचरितमानस, भारत-कला-भवन के अधूरे बालकांड और मधुमालती इसके उदाहरण हैं। बुँदेलखंडी शैली इसी राजस्थान शैली की परवर्ती शाखा थी। हम हिंदी साहित्य के उत्तर मध्य काल का आरंभ केशव की रचनाओं से पाने लगते हैं और चिंतामणि के समय तक उसके प्रत्यक्ष लक्षण देख पड़ते हैं। तदनुसार चित्रकला का उत्तर मध्य काल केशव की समकालीन बुँदेल-जागर्ति से मानना उचित होगा। बुँदेलों ने अकबर और जहाँगीर के काल में अत्यंत साधारण स्थिति से उठकर जो प्रमुखता प्राप्त की थी, उसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। इस नवीन अभ्युदय के परिणाम-स्वरूप अन्य क्षेत्रों की भाँति चित्रकला के क्षेत्र में भी प्रगति देख पड़ी। इसका लक्ष्य केशव की कविताओं को चित्रित करना, नायिका-भेद एवं रागमाला आदि बनाना था। आगे चलकर दतिया-दरबार में इसी कलम की देव, मतिराम और बिहारी की चित्रावली भी बनाई गई। चित्रकारों ने ज्योतिष और धर्मसंबंधी तथा अन्य

चित्र भी अंकित किए थे, पर प्रधानता शृंगार की ही थी। बुँदेल चित्रकला का हिंदी साहित्य के विकास के साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है।

राजपूत शैली की दूसरी शाखा पहाड़ी चित्रकला के रूप में विकसित हुई परंतु हमारे अन्वेषण-क्षेत्र से इसका विशेष संबंध नहीं है। काँगड़ा आदि इस चित्रकला के प्रसिद्ध क्षेत्र हिंदी साहित्य के विकासक्षेत्र के बहुत कुछ बाहर ही रहे। इसी प्रकार सिखों के द्वारा भी अमृतसर में चित्रकला की थोड़ी बहुत उन्नति हुई परंतु उससे हमारा संपर्क बहुत थोड़ा है।

इस देशी चित्रकला के साथ ही यहाँ के मुसलमान अधिपतियों—विशेषकर मुगलों— के संरक्षण में भी चित्रकला का अच्छा विकास हुआ परंतु यह सब होते हुए भी हमको यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मध्यकाल की सबसे लोकप्रिय चित्र-रचना-शैली राजपूताने की ही है जिसका उल्लेख हम अभी कर चुके हैं। यही शैली जनता की चित्तवृत्ति की सबसे अधिक द्योतक है।

आधुनिक काल

संवत् १९१४ के बलवे के साथ ही भारत में जो युगांतर उपस्थित हुआ, उसके साथ यहाँ की चित्रकला प्रायः निःशेष हो गई और युरोप के बने चित्रों से भारत के रईसों, अमीरों तथा राजाओं के घरों का सजाव-शृंगार होने लगा। यह बात यहाँ तक बढ़ी कि युरोप के भद्दे छपे रंगीन चित्र भारतवर्ष के घर घर में व्याप्त हो गए। उन्नीसवीं शताब्दी के पिछले भाग में रवि वर्मा की बड़ी धूम हुई परंतु उनके बनाए कुछ चित्र तो बहुरूपियों की प्रतिकृति मालूम होते हैं। उनमें कोई लोकोत्तर बात नहीं है, उनसे केवल हिंदू चित्रण-विशेष का पुनरुत्थान अवश्य हुआ। राजा रवि वर्मा के इस प्रकार के चित्रों में गंगावतरण और शकुंतला-पत्र-लेखन मुख्य हैं। धुरंधर ने

प्राचीन वेष-भूषा की ओर कुछ ध्यान दिया; किंतु उनकी रचनाओं में कोई भाव, रस या प्राण नहीं मिलता।

श्रीयुत अवनींद्रनाथ ठाकुर और उनके उद्भावक स्वनामधन्य श्रीयुत हैवेल के उद्योग से भारत में एक नई चित्रकला का जन्म हुआ है। अजंता की प्राचीन शैली के मुख्यतः, तथा राजपूत-मुगल शैली की कुछ बातों और चीन जापान की अंकन तथा अभिव्यंजन विधि के मेल से यह नवीन शैली निकली है। इसमें एक निजी मौलिकता है। प्रारंभ में, भावों का व्यंजन करना तथा प्राचीन दृश्य आदि दिखाना इसकी विशेषता थी; पर अब यह लोक के सामान्य दृश्य तथा प्रकृति के उत्तमोत्तम चित्रों का चित्रण भी करती है। ठाकुर महाशय की शिष्य-मंडली देश में इस समय अच्छा काम कर रही है।

कंपनी के समय में पटने में कई कारीगरों ने पाश्चात्य ढंग से "शबीह" बनाने का अभ्यास किया था। मुगल-कला की गिरती अवस्था में इनका अच्छा प्रचार हुआ था और अब भी कलकत्ते के प्रो० ईश्वरीप्रसाद और उनके सुपुत्र नारायणप्रसाद एवं रामेश्वरप्रसाद इस शैली के विश्रुत चित्रकार हैं। मुगल शैली के दो तीन बचे चित्रकारों में काशी के श्री रामप्रसाद का आसन बहुत ऊँचा था।

संगीत कला

संगीत का आधार नाद है जिसे या तो मनुष्य अपने कंठ से या कई प्रकार के यंत्रों द्वारा उत्पन्न करता है। इस नाद का नियमन कुछ निश्चित सिद्धांतों के अनुसार किया गया है। इन सिद्धांतों के स्थिरीकरण में हिंदू समाज को अनंत समय लगा है। वेद के तीन स्वरों से बढ़ते बढ़ते संगीत के सप्त स्वर इन सिद्धांतों के आधार

हुए। ये ही सप्त स्वर संगीत कला के प्राणरूप या मूल कारण हैं। संगीत कला का आधार या संवाहन नाद है। इसी नाद से हम अपने मानसिक भावों को प्रकट करते हैं। संगीत की विशेषता इस बात में है कि उसका प्रभाव बड़ा व्यापक है और वह अनादि काल से मनुष्य मात्र पर पड़ता चला आ रहा है। जंगली से लेकर सभ्यातिसभ्य मनुष्य तक उसके प्रभाव से वशीभूत हो सकते हैं। मनुष्यों को जाने दीजिए, पशु-पक्षी तक उसका अनुशासन मानते हैं। संगीत हमें रुला सकता है, हँसा सकता है, हमारे हृदय में आनंद की हिलोरें उत्पन्न कर सकता है, हमें शोकसागर में डुबा सकता है, क्रोध या उद्वेग के वशीभूत करके उन्मत्त बना सकता है और शांत रस का प्रवाह बहाकर हमारे हृदय को स्वच्छ और निर्मल कर सकता है। परंतु जैसे अन्य कलाओं के प्रभाव की सीमा है, वैसे ही संगीत की भी सीमा है। संगीत द्वारा भिन्न भिन्न भावों या दृश्यों का अनुभव कानों के द्वारा मन को कराया जा सकता है; उसके द्वारा तलवारों की झनकार, पत्तियों की खड़खड़ाहट, पक्षियों का कलरव हमारे कर्णकुहरों में पहुँचाया जा सकता है। परंतु यदि कोई चाहे कि वायु का प्रचंड वेग, बिजली की चमक, मेघों की गड़गड़ाहट तथा समुद्र की लहरों के आघात भी हम स्पष्ट देख या सुनकर उन्हें पहचान लें, तो यह बात संगीत की सीमा के बाहर है। संगीत का उद्देश हमारी आत्मा को प्रभावित करना है और इसमें यह कला इतनी सफल हुई है जितनी काव्यकला को छोड़कर और कोई कला नहीं हो सकी। संगीत हमारे मन को अपने इच्छानुसार चंचल कर सकता है और उसमें विशेष भावों का उत्पादन कर सकता है। इस विचार से यह कला वास्तु, मूर्ति और चित्रकला से बढ़कर है। संगीतकला और

काव्यकला में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। उनमें अन्योन्याश्रय भाव है। एकाकी होने से दोनों का प्रभाव बहुत कुछ कम हो जाता है।

यों तो आर्यों का वैदिक काल से ही संगीत से घनिष्ठ संबंध था और उन्होंने संगीत शास्त्र पर सामवेद रच डाला था। परंतु वि० ११०० के लगभग तो उनकी संगीतकला अत्यधिक उन्नत हो चुकी थी और वे संगीत में आवश्यकता से अधिक संलग्न थे। कुछ विद्वानों की सम्मति में राजपूतों के तत्कालीन पतन का एक प्रधान कारण संगीत था।

आदि काल

उस समय के राजदरबारों में संगीत का विशेष प्रवेश ही नहीं था, वरन् स्वयं राजागण इसके पंडित होते थे। इनमें से नान्यदेव, भोज, परमर्दि चंदेल और जगदेकमल्ल के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। वे संगीत की उन्नति और प्रचार के लिये उसकी शिक्षा की व्यवस्था करते थे और समय समय पर उसके सम्मेलन भी कराते थे। जिस प्रकार नाट्यकला के आदि आचार्य भरत मुनि माने जाते हैं उसी प्रकार संगीतकला के आदि आचार्यों में भी उनका स्थान विशिष्ट है। उनका नाट्यशास्त्र केवल अभिनय कला का ही प्रमुख शास्त्रीय ग्रंथ नहीं है, वरन् संगीत और नृत्य कलाओं के संबंध में भी वह भरत मुनि की विशेष योग्यता तथा अनुभव का परिचायक है।

संवत् १२५० के लगभग का संगीताचार्य शार्ङ्गदेव का लिखा हुआ "संगीतरत्नाकर" नामक एक प्रामाणिक ग्रंथ है। उसे देखने से जान पड़ता है कि उस समय देश भर में जो संगीत प्रचलित था, उसका प्रकृत वंशधर वर्तमान कर्णाटकी संगीत है। उसमें जो गेय कविताएँ मिलती हैं वे संस्कृत की हैं, परंतु बोलचाल की भाषा में भी गीतों की रचना उसके पहले ही से होती थी। संस्कृत तथा बोलचाल की भाषा की कविताएँ सतुकांत होती थीं।

जान पड़ता है कि सतुकांत कविता की सृष्टि संगीत के ही कारण हुई होगी। आज भी गायक समुदाय ऐसे भजनों का व्यवहार कम करते हैं जिनमें तुकों का जोड़ बदला रहता है। शार्ङ्गदेव के उपरांत इस देश में, विदेशीय रागों के सम्मिश्रण से उस संगीत का जन्म हुआ जिसे हम हिंदुस्तानी संगीत कहते हैं। लोकोत्तर प्रतिभाशाली, अद्भुत मर्मज्ञ और सहृदय अमीर खुसरो को इस नवीन परंपरा के सृजन का श्रेय प्राप्त है। उसने अपनी विलक्षण बुद्धि द्वारा भारतीय रागों को फारस के रागों से मिलाकर १५-२० नए रागों की कल्पना की, जिनमें से ५-६ आज भी हिंदुस्तानी संगीत में प्रचलित हैं। ईमन और शहाना आदि ऐसे ही राग हैं। ख्याल परिपाटी का गाना उन्हीं ने निकाला था।

जौनपुर की पठान सल्तनत ने भी संगीत की विशेष उन्नति की थी। हुसेनशाह शर्की स्वयं बहुत बड़े गायक थे। उन्होंने कई रागों की परिकल्पना की थी और एक दूसरी परिपाटी के ख्याल का गाना चलाया था। इन्हीं दिनों मेवाड़ के राणा कुंभा ने संस्कृत के गीतगोविंद पर एक टीका लिखी थी और संगीत कला पर अच्छा प्रकाश डाला था। इस काल में संगीत के अनेक ग्रंथ लिखे गए जिससे सिद्ध होता है कि संगीत की इस समय अच्छी उन्नति हुई थी।

इस काल में अलाउद्दीन खिलजी के दरबार में गोपाल नायक नामक संगीत के अच्छे आचार्य हुए। अलाउद्दीन यद्यपि अत्याचारी था, परंतु गुणियों का ग्राहक भी था। गोपाल को वह दक्षिण से लाया था, जिसकी रचनाएँ अब तक मिलती हैं, किंतु उनमें अब बहुत सा प्रक्षिप्त अंश मिल गया है।

पूर्व मध्य काल

संगीत के प्रसिद्ध आचार्य और गायक बैजू बावरा का समय सोलहवीं शताब्दी का आरंभिक भाग है। वे गुजरात में उत्पन्न हुए थे और ग्वालियर के राजा मान तोमर के यहाँ उन्होंने शिक्षा पाई थी। ये महाराज स्वयं संगीत में पारंगत थे और ध्रुपद प्रणाली के परिष्कारक, उन्नायक तथा प्रचारक थे। ध्रुपद संस्कृत छंद पर अवलंबित है और ध्रुवा नामक गीत से इसका घनिष्ठ संबंध है। मान तोमर के समय से लेकर मुहम्मदशाह रँगीले के समय तक इस प्रणाली का एकच्छत्र राज्य रहा। अब भी यह प्रणाली सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है, यद्यपि लोकरुचि इस समय इसकी ओर नहीं है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि संगीत की यह पद्धति कलावंतों की पद्धति है, जिसे आजकल पक्का गाना कहते हैं। इसके अतिरिक्त गाने की दो शैलियाँ और भी प्रचलित थीं। एक तो पदभजन की, जिसके ज्ञात आदि आचार्य जयदेव जी कहे जा सकते हैं और जिसके अधिक प्रचार का श्रेय तानसेन, उनके गुरु स्वामी हरिदास तथा हितहरिवंश जी को प्राप्त है। विद्यापति, मीरा, सूर, तुलसी आदि की कविता भी इसी प्रकार की है। इस ढंग के सभी गायक वैष्णव हुए हैं अतएव इसे वैष्णव शैली कहना उपयुक्त जान पड़ता है। इन लोगों ने स्वरों का सौंदर्य दिखाने की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया, वे अधिकतर रसों और भावों की अभिव्यक्ति ही करते रहे। दूसरी प्रणाली संतों के गान की है। इन अनंत प्रेम के मतवालों ने, जिनमें हिंदू और मुसलमान दोनों सम्मिलित हैं, बड़ी मस्ती से गाया है। मुसलमान संतों के इस गान के कव्वाली, सनमगनम आदि विभेद हुए और हिंदू संतों के गान "बानी" कहलाए। यहाँ बानी का अर्थ वाङ्मय रचना नहीं है, यह शब्द उन रचनाओं के गान की रंगत का द्योतक है।

अकबर के समय में अन्य सभी कलाओं की भाँति संगीत की भी उन्नति हुई। स्वयं सम्राट् भी नकारा बजाने में सिद्धहस्त थे। उनकी बनाई नक्कारे की कुछ नई गतें अब तक 'अकबरी' गत के नाम से प्रचलित हैं। इसी समय के स्वामी हरिदास वैष्णव महात्मा तथा संगीताचार्य हुए। इनके शिष्य तानसेन वर्तमान हिंदुस्तानी संगीत के मूलपुरुष हैं। तानसेन पहले रीवाँ दरबार में थे, वहाँ से सम्राट् के पास उपहार स्वरूप भेजे गए थे। पहले ये ब्राह्मण थे, पीछे से मुसलमान हो गए। इनकी क़ब्र ग्वालियर में है जहाँ कलावंत तीर्थ करने जाते हैं। अकबर और उसके वंशजों के दरबार में भारत के संगीत को ही स्थान मिला था और रुबाब, सारंगी आदि जो विदेशीय वाद्य यंत्र थे वे भी हिंदुस्तानी संगीत के अनुकूल बना लिए गए थे। अकबर के समय में ही पदभजन के अद्वितीय गायक और रचयिता महात्मा सूरदास हुए जिन्होंने साहित्य और संगीत का अद्वितीय सफलता से संयोग किया। जहाँगीर और शाहजहाँ के राजत्वकाल में अकबरी संगीत का ही अलंकरण होता रहा, कोई मौलिक उद्भावना नहीं हुई। महाकवि तुलसीदास की रचनाओं से भी उनकी संगीतज्ञता का परिचय मिलता है।

औरंगजेब के समय में संगीत पर बड़ा कुठाराघात हुआ। क्रूर सम्राट् ने कड़ी आज्ञा देकर दरबार से संगीत का बहिष्कार कर दिया। यद्यपि मुहम्मदशाह रँगीले के राज्य में संगीत की पुनर्जागर्ति के चिह्न देख पड़े परंतु वह अपना असली रूप नहीं पा सका। मुहम्मदशाह के समय में धुरपद बानी के 'ख्याल' का खूब प्रचार हुआ था और पंजाब के मियाँ शोरी नामक एक उस्ताद ने "टप्पा" नामक गानशैली को जन्म दिया था जिसमें गले से "दानेदार" तान निकालने की अद्भुत विशेषता है।

उत्तर मध्य काल

दिल्ली के नाश के साथ साथ वहाँ का गायक-समुदाय भी छिन्न-भिन्न होने लगा। राजाओं तथा नवाबों ने उसे आश्रय दिया; मराठों ने संगीत को खूब अपनाया। ख्याल के पिछले सभी आचार्य ग्वालियर में ही हुए। अब भी ख्याल का वह सबसे बड़ा केंद्र है।

कृष्णानंद व्यास नामक एक संगीतप्रेमी किंतु अर्थहीन ब्राह्मण सज्जन ने असाधारण परिश्रम करके सं० १६०२ के लगभग 'राग-कल्पद्रुम' नामक संग्रह चार विशाल खंडों में प्रकाशित किया। गेय साहित्य का सचमुच यह ग्रंथ कल्पद्रुम है। उस काल में भारत के एक छोर से दूसरे छोर तक संकीर्णचित्त गायकों से उनकी चीजों का संग्रह करना अवश्य ही भगीरथ प्रयत्न था।

अवध के अधीश्वर वाजिद अली शाह ने ठुमरी नामक गान-शैली की परिपाटी चलाई। यह संगीत प्रणाली का अन्यतम स्त्रैण और शृंगारिक रूप है। इस प्रकार अकबर के समय के ध्रुपद की गंभीर परिपाटी, मुहम्मदशाह द्वारा अनुमोदित ख्याल की चपल शैली, उन्हीं के समय में आविष्कृत टप्पे की रसमय और कोमल गायिकी तथा वाजिद अली शाह के समय की रँगीली रसीली ठुमरी अपने अपने आश्रयदाताओं की मनोवृत्ति की ही परिचायक नहीं, लोक की प्रौढ़ रुचि में जिस क्रम से पतन हुआ, उसका इतिहास भी है।

वर्तमान संगीत की दशा बहुत गिरी हुई है। प्राचीन गायक केवल स्वरों का रियाज और कलाबाजी दिखाना ही संगीत समझते हैं, गेय कविता बुरी तरह से तोड़-मरोड़ दी गई है। हारमोनियम के प्रचार और थियेट्रिकल गाने की अभिरुचि ने भारतीय संगीत पर विशेष आघात पहुँचाया है। हारमोनियम का एक स्वर दूसरे स्वर से जुड़कर नहीं बज

वर्तमान काल

सकता, अत: उसमें श्रुतियाँ या मींड़ नहीं निकल सकतीं; और हिंदुस्तानी संगीत की यह एक प्रधान विशेषता है कि उसमें दो तो क्या चार चार पाँच पाँच स्वर मींड़ वा तान के रूप में एक साथ आश्लिष्ट हो जाते हैं।

प्राचीन हिंदू संगीत कोंकण और मद्रास में जीवित रह आया है। वीणा तंत्र भी वहीं अब तक जीवित है। प्राचीन संगीत के उद्धार, परिष्कार और उन्नति के लिये श्री विष्णु दिगंबर पलुसकर और श्री विष्णु नारायण भातखंडे ने बहुत उद्योग किया है। भातखंडेजी संगीत के प्रयोग के ही नहीं, शास्त्र के भी बहुत बड़े विद्वान् थे और उन्होंने स्वरलिपि की जो पद्धति निकाली है, वह बहुत सरल, संक्षिप्त और प्राय: सर्वमान्य है। रागों के लक्षण के गीत तत् तत् रागों में बाँधकर उन्होंने संगीत के विद्यार्थियों का मार्ग बहुत सुगम कर दिया है। उनके उद्योग और प्रेरणा से बड़ौदा, ग्वालियर, बंबई, लखनऊ तथा अन्य कई स्थानों में संगीत की बड़ी बड़ी और सफल पाठशालाएँ चल रही हैं।

बंगाल भी आज से ५० वर्ष पहले से ही आधुनिक संगीत में दत्तचित्त है। स्वर्गीय राजा सौरेंद्रमोहन ठाकुर और कृष्णधन वंद्योपाध्याय आदि ने इस क्षेत्र में बहुत बड़ा प्रयत्न किया था। कवि रवींद्रनाथ ठाकुर के संगीत का एक निराला ढंग था, पर वह सर्वमान्य नहीं हुआ। यहाँ के जिस संगीत में लोकाभिरुचि है, वह यद्यपि हिंदुस्तानी संगीत है, किंतु उस पर पाश्चात्य संगीत की छाया विशेष पड़ी है। इस समय संगीत के उन्नयन के लिये जो उद्योग पूना के बालिका-विश्वविद्यालय, काशीविश्वविद्यालय, बोलपुर के विश्व भारती विद्यालय आदि में हो रहा है उससे इसका भविष्य बहुत कुछ आशाप्रद जान पड़ता है।

उपसंहार

ऊपर हम विविध कलाओं के विकास का जो संक्षिप्त विवरण दे आए हैं उससे कुछ निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। सब कलाएँ मानव चित्तवृत्तियों की अभिव्यक्ति हैं। जिस देश में जिस काल में हमारी जैसी चित्तवृत्ति रहती है वैसी ही प्रगति ललित कलाओं की होना स्वाभाविक है। हमने हिंदी साहित्य के इतिहास को चार कालों में विभक्त किया है और प्रत्येक काल की परिस्थिति का विवेचन किया है। अन्य ललित कलाओं का दिग्दर्शन करते हुए भी हमने साहित्य के उपर्युक्त चार कालविभागों को प्रधानता दी है और उसी के अनुरूप सब ललित कलाओं का काल-विभाग भी किया है। इस प्रकार जब हम विभिन्न कालों की साहित्यिक परिस्थिति के साथ उन उन समयों की ललित कलाओं की परिस्थिति की तुलना करते हैं तब एक ओर तो हम उनमें बहुत कुछ समता पाते हैं, पर जहाँ कुछ विभेद मिलता है वहाँ उस काल की जनता की उन चित्तवृत्तियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित होता है जिनका प्रतिबिंब साहित्य में नहीं देख पड़ता। इससे हमको बहुत कुछ व्यापक रीति से तत्कालीन स्थिति को समझने में सहायता मिलती है।

हिंदी का आदि काल वीर गाथाओं का काल था। प्रबंध काव्यों और वीर गीतों के रूप में वीरों की प्रशस्तियाँ कही गई। वीरता के साथ तत्कालीन विलासिता का चित्र भी उस काल की रचनाओं में मिलता है। भाषा की तत्कालीन रूक्षता भी एक प्रकार की कर्कशता का ही बोध कराती है। उस काल की वास्तुकला और मूर्तिकला को पहले लीजिए। शैव और शाक्त के मतों की उन्नति थी, इसलिये शिवमंदिरों में सबसे अधिक मौलिकता देख पड़ी,

अन्य मंदिर उनके अनुकरण में बनाए गए। मूर्तियों में अलंकरण बढ़ रहे थे और भाव-भंगी कम हो रही थी। यह तत्कालीन जनता की बाह्य श्रृंगारप्रिय तथा गंभीर अनुभूतिहीन चित्तवृत्ति का सूचक है। चित्रकला भी बहुत कुछ ऐसी ही रही। प्राकृतिक और अपभ्रंश ग्रंथों में चित्र-रचना के जो उल्लेख मिलते हैं, वे उस काल के पूर्व के हैं। इस काल की प्रधान गुजराती चित्रणशैली का पतन हो रहा था, केवल जैनों में उसका थोड़ा बहुत प्रचार था और उसकी उन्नति हुई थी। संगीत में आवश्यकता से अधिक संलग्न रहने के कारण राजपूतों की शक्ति क्षीण पड़ रही थी। आधुनिक कर्णाटकी संगीत की मूल शैली का उस समय अच्छा प्रचार था।

हिंदू और मुसलमानों के संघर्ष के उपरांत दोनों जातियों में भावों और विचारों का आदान प्रदान होने लगा। साहित्य में इसका सबसे मुख्य प्रमाण कबीर और जायसी आदि की वाणी है। परंतु साहित्य में हिंदू और मुसलिम मतों का सम्मिश्रण कुछ देर से देख पड़ता है। अन्य कलाओं में मुसलमानी प्रभाव कुछ पहले से ही पड़ने लगा था। वीरगाथा काल में मूर्तियों की अधोगति का कारण मुसलमानों का मूर्ति-विद्रोह था। देहली की मुसलमानी इमारतों में भारतीय शैलियाँ स्वीकृत की गई और हिंदू मंदिरों के निर्माण में कुछ मुसलिम आदर्श आ मिले। परंतु संगीत में तो इन दोनों जातियों के योग से अभूतपूर्व परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन के विधायक संगीताचार्य अमीर खुसरो थे, जो आधुनिक खड़ी बोली हिंदी के आदि आचार्य माने जाते हैं।

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल उसके चरम उत्कर्ष का काल था। भाषा की प्रौढ़ता के साथ विचारों की व्यापकता और जीवन की गंभीर समस्याओं पर ध्यान देने का यही समय था। विशाल मुगल साम्राज्य के प्रधान नायक अकबर के राजत्वकाल में यह

संभव न था कि साहित्य के विकास के साथ सभी ललित कलाओं का विकास न होता। जो काल साहित्य में सूर और तुलसी को उत्पन्न कर सका था वही काल कलाओं की सामूहिक उन्नति का था। अकबर की सामंजस्य बुद्धि और उदारता की स्पष्ट छाप फतहपुर सिकरी की इमारतों में तो देख ही पड़ती है, वह तानसेन आदि प्रसिद्ध संगीतज्ञों की आविष्कृत संगीत-शैलियों में भी देख पड़ती है। चित्रकला भी बहुत दिनों तक पिछड़ी न रह सकी। शीघ्र ही उस राजपूतशैली का बीजारोपण हुआ जो आगे चलकर भारत की, अपने ढंग की, अनोखी अंकन-प्रणाली सिद्ध हुई। हिंदू मंदिरों में भी मुसलिम प्रभाव पड़े। मानसिंह के निर्मित भवनों में मुसलिम-निर्माण विधि का बहुत अधिक अनुकरण था। राजपुताने की भवन-निर्माण-शैली पर मुसलिम कला की छाप अमिट है।

विकास के उपरांत ह्रास और ह्रास के उपरांत विकास का क्रम सर्वत्र देखा जाता है। सूर और तुलसी के पीछे देव और बिहारी का युग आया। विलासिता और शृंगारिकता का प्रवाह प्रबल पड़ा। साहित्य कुत्सित वासनाओं के प्रदर्शन का साधन बन गया। उसका उच्च लक्ष्य भुला दिया गया। यह शाहजहाँ और औरंगजेब का काल था। इस काल का प्रसिद्ध "ताजमहल" वास्तुकला के चरम उत्कर्ष का आदर्श माना जा सकता है। परंतु उसी समय अवनति का भी प्रारंभ हुआ। औरंगजेब धार्मिक नृशंसता का प्रतिनिधि और कलाओं का संहारक था। सुंदर हिंदू-मंदिरों को भंग कर जो उजाड़ मस्जिदें उसने बनवाईं उनसे उसकी हृदयहीनता का पता लग जाता है। उसने मुसलिम धर्म के आज्ञानुसार नाच गान आदि बंद करा दिया था, जिससे संगीतकला को बड़ी क्षति पहुँची। मूर्तियों और चित्रों का भी ह्रास ही हुआ।

इस पतनकाल में महाराष्ट्र शक्ति का अभ्युदय हुआ था जिससे साहित्य की शृंगारधारा में भूषण की ओजस्विनी रचनाएँ देख पड़ीं। मराठों में उत्कट कला-प्रेम का बीज था, परंतु वे सुख-शांति-पूर्वक नहीं रहे, निरंतर युद्ध में ही व्यस्त रहे। फिर भी उन्होंने संगीतकला की थोड़ी बहुत उन्नति की, और काशी के मंदिरों और घाटों के रूप में अपनी वास्तु-कला-दक्षता का परिचय दिया। इसके कुछ समय पीछे सिख शक्ति का अभ्युत्थान हुआ पर इसी बीच में अँगरेजों के आ जाने और राज्यस्थापन में प्रवृत्त होने से जो अशांति फैली, उसके कारण कलाओं की उन्नति रुक गई।

आधुनिक काल में यद्यपि साहित्य की अनेकमुखी धाराएँ बह निकली हैं, पर अब तक इनमें गहराई नहीं आई है। पश्चिमीय आदर्शों की छाप और नकल अधिक देख पड़ने लगी है। आशा है कि शीघ्र ही हम नकल का पीछा छोड़ साहित्य में ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक ललित कला में अपने आदर्शों की रक्षा करते हुए स्वतंत्र रूप से उन्नति करेंगे।

——

चौथा अध्याय

वीरगाथा काल

हिंदी साहित्य के आदि युग के संबंध में इतिहासवेत्ताओं तथा भाषाशास्त्रियों ने अब तक जितनी खोज की है वह विशेष संतोष-जनक नहीं कही जा सकती। उतने से अभी तक न तो हिंदी के उत्पत्तिकाल का ठीक पता चलता है और न उसके आरंभिक स्वरूप का निश्चय हो सकता है। यद्यपि यह सत्य है कि हिंदी की उत्पत्ति अपभ्रंश भाषाओं के अनंतर हुई, परंतु इस अपभ्रंश-परंपरा का कब अंत हुआ और कब हिंदी पहले-पहल प्रयोग में आई, इसका पता निश्चित रीति से अब तक नहीं लग सका है। भाषाएँ एक रूप से दूसरे रूप में क्रमशः परिवर्तित होती हैं। यह परिवर्तन या विकास इस प्रकार नहीं होता कि एकाएक किसी एक रूप की समाप्ति होकर वहीं दूसरे रूप का आरंभ हो जाय। ऐसी अवस्था में हिंदी ही नहीं, किसी भाषा की उत्पत्ति का ठीक ठीक काल निश्चित करना असंभव है। परंतु साहित्य के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। जब भाषाएँ कथ्य अवस्था से निकलकर साहित्य अवस्था में आती हैं तभी से उनके साहित्य का आरंभ माना जा सकता है। इस दिशा में भी अभी तक पूरी पूरी खोज नहीं हुई है।

हिंदी साहित्य का आरंभ

साहित्य के संबंध में यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि कोई भाषा साहित्य अवस्था में आने के पूर्व न जाने कितने काल तक कथ्य अवस्था में रहती है। साहित्य में प्रयुक्त होने के पश्चात् उसमें परिवर्तन की गति मंद पड़ जाती है, यद्यपि अपने

कथ्य रूप में वह उसी अबाध गति से विकसित होती रहती है। कालांतर में एक अवस्था ऐसी आती है कि उसके कथ्य तथा साहित्यिक रूपों में पर्याप्त अंतर पड़ जाता है; यहाँ तक कि साहित्यिक भाषा प्राकृत होकर पंडितों के व्यवहार में ही सीमित हो जाती है, उसमें लोक प्रचलित सजीव भाषा का स्पंदन नहीं दिखाई देता। ऐसी अवस्था में लोक के प्रतिनिधि अपनी रचनाएँ शिष्ट-समादृत न होने पर भी बोलचाल की प्रचलित भाषा में करने लगते हैं। पर धीरे धीरे शिष्ट साहित्य में उनकी पूर्ण प्रतिष्ठा हो जाती है और तब एक नए साहित्य का आरंभ माना जाता है, यद्यपि इस क्रम में उसका आरंभ बहुत पहले, कभी कभी कई सौ वर्ष पहले हो चुका रहता है। प्राचीन परंपरागत साहित्यिक भाषा में भी उसके साथ ही साथ बहुत दिनों तक रचनाएँ होती रहती हैं, इसलिये उनसे तुलना करके नए साहित्य का आरंभ काल निश्चित करने का प्रयत्न भ्रम से शून्य नहीं हो सकता। अपभ्रंश के अंत और हिंदी साहित्य के आदि के संबंध में भी यही बात सत्य है। अपभ्रंश की परंपरा १४वीं शती तक चलती रहती है, केवल इसी कारण से वीरगाथा काल की रचनाओं को १६-१७वीं शती में खींच लाना उचित नहीं हो सकता।

हिंदी के कुछ इतिहासलेखकों ने उसके आदि युग का प्रारंभ विक्रम की सातवीं शताब्दी से माना है; और अपने मत का समर्थन अलंकार तथा रीतिसंबंधिनी एक ऐसी पुस्तक के नामोल्लेख से किया है जो अब तक अप्राप्य है तथा जिसके एक भी उद्धृत अंश के अब तक किसी को दर्शन नहीं हुए हैं। हम इस मत के समर्थक नहीं हैं। एक तो किसी लक्षण ग्रंथ को साहित्य के आदि युग की पहली पुस्तक मानने में यों ही बड़ी द्विविधा होती है; पर यदि संस्कृत साहित्य के परिणाम-स्वरूप ऐसा संभव भी हो तो

यह स्पष्ट ही है कि इस अलंकार ग्रंथ की रचना के उपरांत लगभग दो-तीन सौ वर्षों तक कोई दूसरी पुस्तक हिंदी में नहीं लिखी गई, अथवा यदि लिखी गई, तो अब उसका कहीं पता नहीं है। साथ ही हम यह भी देखते हैं कि विक्रम की आठवीं, नवीं तथा दसवीं शताब्दियों में प्राकृत अथवा अपभ्रंश की पुस्तकें लिखी जाती थीं, और उनमें से अनेक पुस्तकें तथा पद्य हमें इस समय भी प्राप्य हैं। हेमचंद्र के प्रसिद्ध व्याकरण में नागर अपभ्रंश के जो उदाहरण मिलते हैं, उनमें हिंदी के प्राथमिक स्वरूप की झलक दिखाई देती है। उनका व्याकरण विक्रम के बारहवें शतक का है। हेमचंद्र के इन उदाहरणों को हम उनकी सम-सामयिक रचनाएँ न मानकर कुछ पहले की मानेंगे, क्योंकि ये उदाहरण तो उद्धरण मात्र हैं; और अधिकतर उद्धरण अपने से प्राचीन लेखकों की कृतियों से ही लिए जाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि हिंदी की उत्पत्ति विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के लगभग हुई होगी। जिस समय अपभ्रंश साहित्य अपने आसन से क्रमशः च्युत हो रहा था, उस समय हिंदी संभवतः उस आसन को प्राप्त करने के लिये उन्मुख हो रही थी। अतएव हिंदी भाषा के बोल-चाल के प्रयोग के आरंभ तथा उसके साहित्य-निर्माण में प्रयुक्त होने में अवश्य ही कुछ अंतर रहा होगा। ग्यारहवीं शताब्दी से हिंदी साहित्य की जो शृंखला चली, वह बीच में कहीं टूटी नहीं, बराबर अब तक चली चलती है।

ग्रंथों का अभाव

हिंदी साहित्य के आदि काल का निश्चित इतिहास उपस्थित करने में सब से बड़ी कठिनाई ग्रंथों के अभाव की है। ऐतिहासिक अनुसंधान से अब तक इस युग की जितनी पुस्तकों का पता लगा है उनकी संख्या बहुत थोड़ी है और यह संभव प्रतीत नहीं होता कि आरंभ के तीन-चार

सौ वर्षों में केवल इतनी ही रचनाएँ हुई होंगी। पर जब हम इस संबंध में विचार करते हैं तब एक ओर तो हमारा ध्यान अब तक के अधूरे साहित्यिक अनुसंधान पर जाता है और दूसरी ओर तत्कालीन परिस्थिति पर भी हमारी दृष्टि जाती है। प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज का काम अब तक विशेष रूप से संयुक्त प्रदेश में ही हुआ है, जहाँ से हिंदी साहित्य के वीरगाथा काल का इतिवृत्त संकलित करने की बहुत कम सामग्री प्राप्त हुई है। इस काल में भारतवर्ष का पश्चिमीय भाग--जहाँ कन्नौज, दिल्ली, अजमेर तथा अन्हलवाड़ा आदि के बड़े बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे—बल और वैभव का केंद्र था और इन्हीं स्थानों पर मुसलमानी आक्रमणों का बवंडर आकर उन्हें नष्ट-भ्रष्ट करता रहा। इस अवस्था में उस समय की यदि बची बचाई सामग्री कहीं से प्राप्त हो सकती है, तो वह राजपूताने में ही हो सकती है, जहाँ उस समय के राज्यों के स्थान पर उनके भग्नावशेष रूप में नए राज्य इस समय तक प्रतिष्ठित हैं। पर वहाँ के नृपतियों की इस ओर रुचि ही नहीं है; अतएव वहाँ के राज्यों में जो कुछ साहित्यिक सामग्री बची बचाई पड़ी हुई है, उसके प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं है। संभावना यह है कि काल की गति से वह सामग्री भी नष्ट हो जाय। इसमें कोई संदेह नहीं कि इधर कुछ समय से राजस्थान के साहित्य-प्रेमियों ने इस ओर ध्यान दिया है और वे उत्साह के साथ कार्य कर रहे हैं, परंतु व्यापक सहयोग और निश्चित सहायता के बिना अभीष्ट सफलता नहीं मिल सकती। यदि राजपूताने में प्राचीन हिंदी पुस्तकों की खोज का काम व्यवस्थित रूप से किया जाय, तो संभव है कि बहुत कुछ उपयोगी सामग्री प्राप्त हो जाय। यह भी संभव है कि हिंदी साहित्य के उस युग में देश की राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थिति

के कारण न तो किसी कला की ही विशेष उन्नति हुई हो और न अनेक साहित्यिक ग्रंथों का ही निर्माण हुआ हो। तत्कालीन मूर्ति-कला तथा वास्तुकला के जो अवशेष वहाँ इस समय मिलते हैं, एक तो उनकी संख्या अधिक नहीं है और दूसरे उनमें विदेशीय भावों तथा आदर्शों की ही झलक अधिक दिखाई पड़ती है। शुद्ध भारतीय आदर्शों का आधार लेकर किसी महत्त्वपूर्ण मूर्ति अथवा मंदिर का निर्माण संभवतः हुआ ही नहीं। जब अन्य कलाओं की ऐसी अवस्था थी, तब यह आशा नहीं की जा सकती कि उस काल में साहित्यकला की सर्वतोमुखी उन्नति हुई होगी अथवा अनेक उत्कृष्ट ग्रंथों का निर्माण हुआ होगा।

ग्रंथों में प्रक्षेप

इस युग की जो थोड़ी सी पुस्तकें मिली भी हैं उनमें प्रक्षिप्त अंशों की इतनी अधिकता है कि तत्कालीन रचनाओं को पीछे की रचनाओं से अलग करना कठिन ही नहीं वरन् कभी कभी तो सर्वथा असंभव हो जाता है। कुछ पुस्तकों में तो इतिहास की तिथियों तथा घटनाओं का इतना अधिक विरोध मिलता है कि उन्हें सम-सामयिक रचना मानने में बहुत ही असमंजस होता है। इन पुस्तकों की भाषा भी इतनी बे-ठिकाने और अनियमित है कि तथ्य-निरूपण में उसकी भी सहायता नहीं ली जा सकती। ऐसी अवस्था में हमको बहुत कुछ अनुमान पर ही अवलंबित रहना पड़ता है, क्योंकि अन्य उपलब्ध साधनों से हम निश्चित उद्देश तक नहीं पहुँच सकते। फिर भी ग्रंथों में प्रक्षिप्त अंशों की अधिकता के कारण अनुमान का आधार इतना दुर्बल नहीं कहा जा सकता कि वीरगाथाकाल का अस्तित्व ही न माना जाय। प्रक्षिप्त अंश अवश्य ही पीछे से जोड़े गए और अनेक लेखकों की लेखनी से उनकी भाषा में भी परिवर्तन हुआ, इससे निश्चित है कि ग्रंथों का वर्तमान रूप पीछे का है। पर

मूल अंशों की रचना निश्चय ही प्राचीन है और उनमें से प्रक्षेपों को पृथक् करना साहित्य के अनुशीलकों का कर्तव्य है। अवश्य ही भाषा के अध्ययन की दृष्टि से इस काल की संदिग्ध रचनाओं को प्रमाण मानने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है।

राजनीतिक स्थिति

हिंदी साहित्य का आरंभिक युग घोर राजनीतिक हलचल तथा अशांति का था। भारत के सिंध आदि पश्चिमीय प्रदेशों पर अरबों के आक्रमण तो बहुत पहले से प्रारंभ हो चुके थे और एक विस्तृत भूभाग पर उनका आधिपत्य भी बहुत कुछ स्थायी रीति से प्रतिष्ठित हो चुका था, परंतु पीछे समस्त उत्तरापथ विदेशियों से पदाक्रांत होने लगा और मुसलमानों की विजय-वैजयंती लाहोर, देहली, मुलतान तथा अजमेर आदि में भी फहराने लगी। महमूद गजनवी के आक्रमणों का यही युग था और शहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी ने भी इसी काल में भारत-विजय के लिये प्रयत्न किए थे। पहले तो इस देश पर विदेशियों के आक्रमण, स्थायी अधिकार प्राप्त करके शासन करने के उद्देश से नहीं, केवल यहाँ की अतुल संपत्ति लूट ले जाने की इच्छा से, हुआ करते थे। महमूद गजनवी ने इसी आशय से सत्रह बार चढ़ाई की थी और वह देश के विभिन्न स्थानों से विपुल संपत्ति ले गया था। परंतु कुछ समय के उपरांत आक्रमणकारियों के लक्ष्य में परिवर्तन हुआ। वे कुछ तो धर्मप्रचार की इच्छा से और कुछ यहाँ की सुख-समृद्धिशाली अवस्था तथा विपुल धनधान्य से आकृष्ट होकर इस देश पर अधिकार जमाने की धुन में लगे। यहाँ के राजपूतों ने उनके साथ लोहा लिया और वे उनके प्रयत्नों को निष्फल करके उन्हें बहुत समय तक पराजित करते रहे, जिससे उनके पैर पहले तो जम नहीं सके; पर धीरे धीरे राजपूत

शक्ति अंतर्कलह से क्षीण होती गई और अंत में उसे इस्लामी शक्ति के प्रबल वेग के आगे सिर झुकाना पड़ा।

राजनैतिक हलचल के इस भीषण युग में देश की सामाजिक स्थिति कितनी शोचनीय हो गई थी, इस पर कम लोग ध्यान देते हैं। जब से गुप्त साम्राज्य का अंत हुआ और देश अनेक छोटे छोटे टुकड़ों में बँट गया था, तब से हर्षवर्धन के स्थायी राजत्वकाल के अतिरिक्त कई शताब्दियों तक सारे देश को एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न हुआ ही नहीं। उलटे गृह-कलह की निरंतर वृद्धि होती गई और विक्रम की नवीं, दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दियों में यह भीषण दशा अपनी चरम सीमा तक पहुँच गई। स्वयंवरों में अपने अपने शौर्य का प्रदर्शन करना एक साधारण बात थी। कभी कभी तो केवल अपना बल दिखलाने या मन बहलाने के लिये ही अकारण लड़ाई छेड़ दी जाती थी। विप्लवों और युद्धों आदि का यह अनंत क्रम समाज के लिये बहुत ही हानिकर सिद्ध हुआ। जो जीवन किसी समय ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत तथा विविध कलाओं का आविर्भावक था, वह अविद्यांधकार में पड़कर अनेक अंधविश्वासों का केंद्र बन गया। जो लोग आसमुद्रक्षितीशों के साम्राज्य में सुख-समृद्धि-पूर्वक निवास करते थे, वे अपनी रक्षा तक कर सकने में असमर्थ हो गए। सोमनाथ पर मुसलमानों के आक्रमण का प्रतिकार न कर मंदिर में छिपे रहना और अनंगपाल के हाथी के संयोगवश पीछे घूम पड़ने पर सारी सेना का भाग खड़ा होना हिंदुओं के तत्कालीन चरम पतन का सूचक है। यद्यपि अन्य स्थानों में प्रबल वीरता प्रदर्शित करने के अनेक ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं, परंतु फिर भी जो समाज अपना भला बुरा तक पहचानने में असमर्थ हो जाता है और जो अपने विलासी तथा अदूरदर्शी शासकों के

सामाजिक स्थिति

ही हाथों का पुतला बन जाता है उसका कल्याण कब तक हो सकता है। फल यह हुआ कि साधारण जनता तो तत्कालीन नृपतियों को आत्मार्पण करती गई, और अपरिणामदर्शी नृपतियों ने घर में ही वैर तथा फूट के वे बीज बोए जिनका कटु फल देश तथा जाति को चिरकाल तक भोगना पड़ा।

देश के जिस भूभाग में जिस समय ऐसी अशांति तथा अंधकार का साम्राज्य छाया हुआ था, उसी भूभाग में लगभग उसी समय अपभ्रंश भाषाओं से उत्पन्न होकर हिंदी साहित्य अपना शैशव काल व्यतीत कर रहा था।

स्थिति के अनुरूप साहित्य

हिंदी की इस शैशवावस्था में देश की जैसी स्थिति थी, उसी के अनुरूप उसका साहित्य भी विकसित हुआ। भीषण हलचल तथा घोर अशांति के उस युग में प्रधानतः वीर गाथाओं की ही रचना संभव थी, साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति उस काल में हो ही नहीं सकती थी। यह तो साधारण बात है कि जिस समय कोई देश लड़ाइयों में व्यस्त रहता है और जिस काल में युद्ध की ही ध्वनि प्रधान रूप में व्याप्त रहती है, उस काल में वीरोल्लासिनी कविताओं की ही गूँज देश भर में सुनाई पड़ती है। उस समय एक तो अन्य प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं, और जो थोड़ी बहुत होती भी हैं, वे सुरक्षित न रह सकने के कारण शीघ्र ही काल-कवलित हो जाती हैं। हिंदी के आदि युग में जो वीररस की कविताओं की प्रधानता पाई जाती है उसका यही कारण है।

यहाँ इस बात का भी उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि तत्कालीन कविता की रचना राजाओं के आश्रय में ही हुई; अतः उसमें राजाश्रित कविता की प्रायः सभी विशेषताएँ मिलती हैं।

यद्यपि उस काल के राजाओं की नीति देश के लिये हितकर नहीं थी और उनके पारस्परिक विद्वेष तथा संघर्ष से जो अग्नि प्रज्वलित हुई, उसने देश की स्वतंत्रता को भस्म करके ही साँस लिया, तथापि राजाश्रित कवियों की वाणी अपने स्वामियों के कीर्ति-कथन में कभी कुंठित नहीं हुई। तात्पर्य यह है कि उस समय के कवि प्रायः राजाओं को प्रसन्न रखने और उनके कृत्यों का अंध समर्थन करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझ बैठे थे। देश की स्थिति और भविष्य की ओर उनका ध्यान ही न था। जिस समय कवियों की ऐसी हीन अवस्था हो जाती है और जिस समय कविता में उच्च आदर्शों का समावेश नहीं होता उस समय देश और जाति की ऐसी दुर्दशा अवश्यंभावी हो जाती है। हिंदी के आदियुग में अधिकांश ऐसे ही कवि हुए जिन्हें समाज को संघटित तथा सुव्यवस्थित कर उसे विदेशीय आक्रमणों से रक्षा करने में समर्थ बनाने की उतनी चिंता नहीं थी, जितनी अपने आश्रयदाताओं की प्रशंसा द्वारा स्वार्थसाधन करने की थी। यही कारण है कि जयचंद जैसे नृपतियों की काल्पनिक वीर गाथाएँ रचनेवाले कवि तो हुए, पर सच्चे वीरों की पवित्र गाथाएँ उस काल में लिखी ही नहीं गईं। यदि लिखी भी गई हों तो अब उनका कहीं पता नहीं है।

राजाश्रय और उसका परिणाम

इन राजाश्रित कवियों की रचनाओं में न तो इतिहास-सम्मत घटनाओं का ही अधिक उल्लेख मिलता है और न उच्च प्रकार के कवित्व का ही उन्मेष पाया जाता है। एक तो उस युग की रचनाएँ अब अपने मूल रूप में मिलती ही नहीं; और जो कुछ मिलती भी हैं उनमें ऐतिहासिक तथ्यों से बहुत कुछ विभिन्नता पाई जाती है। जो कवि अपने अधिपतियों को प्रसन्न करने के लिये ही रचनाएँ

युद्ध की साहित्यिक प्रगति

करेगा उसे बहुत कुछ इतिवृत्त की अवहेलना करनी पड़ेगी, साथ ही उसकी कृतियों में हृदय के सच्चे भावों का अभाव होने के कारण उच्च कोटि के कवित्व का स्फुरण न हो सकेगा। जहाँ केवल प्रशंसा करना ही उद्देश रह जाता है, वहाँ इतिहास की ओर से दृष्टि हटा लेनी पड़ती है और नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा को एक संकीर्ण क्षेत्र में आबद्ध करना पड़ता है। इसी संकीर्ण क्षेत्र में बहती बहती काव्यधारा परंपरागत हो गई जिससे भाट चारणों की जीविका तो चलती रही पर कविता के उच्च लक्ष्य का विस्मरण हो गया। पुरानी रचनाओं में थोड़ा बहुत परिवर्तन करके और उसे नवीन रूप में सुनाकर राज-सम्मान पाने की जो कुप्रथा चारणों में चली, उससे कविता तो लक्ष्यभ्रष्ट हो ही गई, साथ ही अनेक ऐतिहासिक विवरणों का लोप भी हो गया। ग्रंथों में क्षेपक इतने अधिक बढ़ चले कि वे मूल से भी अधिक हो गए और मूल का पता लगना भी असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया। यदि इस कुप्रथा का अंत हिंदी के भक्त कवियों की कृपा से न हो गया होता और कविता का संपर्क राजाश्रय से हटकर जनसमूह की हार्दिक वृत्ति से न हो जाता तो अब तक हिंदी कविता की कितनी अधोगति हो गई होती, इसका सहज में अनुमान किया जा सकता है। इस युग के कवियों की रचनाओं में जहाँ तहाँ सच्चे राष्ट्रीय भावों की भी झलक देख पड़ती है। देशानुराग से प्रेरित होकर देश के शत्रुओं का सामना करने के लिये वे अपने आश्रयदाताओं को केवल अपनी वाणी द्वारा प्रोत्साहित ही नहीं करते थे, वरन् समय पड़ने पर स्वयं तलवार हाथ में लेकर मैदान में कूद पड़ते थे और इस प्रकार तलवार तथा कलम दोनों को चलाने की अपनी कुशलता का परिचय देते थे। कभी कभी ये कवि देश के अंतर्विद्रोह में सहायक होकर वाणी का दुरुपयोग भी करते थे,

पर यह उस काल की एक ऐसी व्यापक विशेषता थी कि कविगण उससे सर्वथा मुक्त नहीं हो सकते थे।

उस युग के कवियों में उच्च कोटि के कवित्व की झलक भी मिलती है। यद्यपि जीवन के अनेक अंगों की व्यापक तथा गंभीर व्याख्या तत्कालीन कविता में नहीं पाई जाती, पर उन्होंने अपनी कृतियों में वीरों के चरित्र-चित्रण में नई नई रमणीय उद्भावनाओं तथा अनेक रमणीय सूक्तियों का समावेश किया है। इस काल के कवियों का युद्धवर्णन इतना मार्मिक तथा सजीव हुआ है कि उनके सामने पीछे के कवियों की अनुप्रासगर्भित किंतु निर्जीव रचनाएँ नकल सी जान पड़ती हैं। कर्कश पदावली के बीच में वीर भावों से भरी हिंदी के आदि युग की यह कविता सारे हिंदी साहित्य में अपनी समता नहीं रखती। दोनों ओर की सेनाओं के एकत्र होने पर युद्ध के साज-बाज तथा आक्रमण की रीतियों का जैसा वर्णन इस युग के कवियों ने किया, वैसा पीछे के कवियों में देखने में नहीं आया। उनकी वीर-वचनावली में शस्त्रों की झंकार स्पष्ट सुन पड़ती है, और उनके युद्ध-वर्णन के सजीव चित्र वीर हृदयों में अब भी उल्लास उत्पन्न करते हैं। ऐसे कवियों की रचनाओं में सर्वत्र उनके वीर हृदय का परिचय मिलता है अतः हम उन्हें मिथ्या स्तुति करनेवाले काल्पनिक वीरगाथाकार कवियों की श्रेणी में नहीं रख सकते।

हिंदी में वीर गाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—कुछ तो प्रबंध काव्यों के रूप में और कुछ वीर गीतों के रूप में। प्रबंध के रूप

प्रबंध काव्य

में वीर कविता करने की प्रणाली प्रायः सभी साहित्यों में चिरकाल से चली आ रही है। यूनान के प्राचीन साहित्य-शास्त्रियों ने महाकाव्यों की रचना का मुख्य आधार युद्ध ही माना है और उनकी वीर-रसात्मकता स्वीकार

की है। वहाँ के आदि कवि होमर के प्रसिद्ध महाकाव्य की आधारभूत घटना ट्राय का युद्ध ही है। भारतवर्ष के रामायण तथा महाभारत महाकाव्यों में युद्ध का ही साम्य है; अन्य घटनाओं में बड़ा अंतर है। वीर गीतों के रूप में भी वीर पुरुषों की प्रशस्तियाँ पाई जाती हैं। हिंदी की वीरगाथाओं में प्रबंध रूप से सबसे प्राचीन माना जानेवाला ग्रंथ जिसका उल्लेख मिलता है, दलपति विजय या दौलत विजय का खुमानरासो है। ऐसा कहा जाता है कि इसमें चित्तौड़ के दूसरे खुम्माण (वि० सं० ८७०-९००) के युद्धों का वर्णन था। इस समय इस पुस्तक की जो प्रतियाँ मिलती हैं उनमें किसी में महाराणा प्रतापसिंह तक का और किसी में राजसिंह तक का वर्णन है और ये प्रतियाँ अपूर्ण हैं। इस कारण इस पुस्तक के संबंध में विशेष संदेह होता है। इसकी भाषा भी इतनी परिवर्तित हो गई विदित होती है कि इसके मूल स्वरूप का पता लगाना प्रायः असंभव ही प्रतीत होता है। भाषा तथा वर्णित घटनाओं के आधार पर यह १७वीं और १८वीं शती की रचना मानी गई है, और उसमें प्रतापसिंह तथा राजसिंह के समय का वर्णन निस्संदेह यही प्रमाणित करता है कि उसका वर्तमान रूप प्राचीन नहीं है। परंतु जब हम रासो, ख्यात आदि के नाम से राजयश वर्णन करनेवाले कवियों की इस सामान्य परिपाटी की ओर ध्यान देते हैं कि उनका लक्ष्य प्राचीन रचनाओं की रक्षा करना उतना नहीं था जितना राजाओं का मनोरंजन या उत्साहवर्धन, और इस कारण कुल संपत्ति के रूप में प्राप्त प्राचीन ग्रंथों में वे अपने समय तक की घटनाएं जोड़कर, ऐतिहासिक तथ्यों को काल्पनिक रूप देकर तथा भाषा को भी अपने समयानुकूल सुबोध बनाकर अपने इस उद्देश की पूर्ति किया करते रहे होंगे, तो खुमानरासो के संबंध में भी यही अनुमान करना पड़ता है कि यद्यपि

उसका वर्तमान रूप बहुत पीछे का है, परंतु संभव है कि मूल खुम्माण-चरित्र प्राचीन रहा हो और उसी का यह परिवर्तित और परिवर्धित रूप हो। यह भी संभव है कि इसे वर्तमान रूप देने का श्रेय दलपति विजय को ही हो, मूल का रचयिता कोई और रहा हो। खुम्माणरासो से निम्नलिखित अंश उदाहरण के लिये उद्धृत किए जाते हैं—

गाहा

जलहरी मे नलंती, भमरो जाने कुंजरो मई ॥
श्री पुम्माण कुमारो, रमे तहँ चैत्र दिन रित्त ॥
मानसरोवर हंसो, रमंति कमला सूतीर पुरंमी ॥
अहि रमें चंदण वणों, रमें तहरती पुमाणों ॥

छप्पय

पत्री मौड पुमाण मानकर मूंछ मरोड़ें।
जणणी वह जाइयो जोध जोरे मम जोड़ें॥
भीत माड़ियो भाव रति राणी म्हेंमाणी।
दिल्ली थी चीतोड़ पंच सहेली पण आणी॥
मूछांल मल्ल मन चिंतवें निहचें बात निरबहैं।
अवतार दग अबला तणों मन चिंतो मन में रहैं॥

× × ×

बापो चित्रांगद बिहुं जुड़े सुभट रण जंग।
तूहे त्रिपंखा सिंधुमह खमसें खुरिया खंग॥
चोकी गढ़ च्यारूं वला, लड़ें वीर गढ़ लग्ग।
अधिपति आड़ो अड़ि अड़ें, बदि भिड़े विलग्ग॥
गणण तणण गोली बहें, घाट घड़ाक धड़क्क।
गोला नाल गिड़क्कड़ें, लोहाँ लटे लटक्क॥

धड़ ऊपर धड़ उथड़े, चाचा पड़े चोगान।
सिर चिण धधूं कल करें, अइया भिड़ असमान॥

वीरगाथा संबंधी प्रबंध काव्यों में दूसरी प्रसिद्ध पुस्तक चंद बरदाई कृत पृथ्वीराजरासो है। इस विशालकाय ग्रंथ को हम महाकाव्यों की उस श्रेणी में नहीं गिन सकते जिसमें यूनान के प्रसिद्ध महाकाव्य ईलियड आदि तथा भारतवर्ष के रामायण महाभारत आदि की गणना होती है। ये महाकाव्य तो एक समस्त देश और एक समस्त जाति की स्थायी संपत्ति हैं, इनमें जातीय सभ्यता तथा संस्कृति का सार अंतर्निहित है। यह सत्य है कि पृथ्वीराजरासो भी एक विशालकाय ग्रंथ है और यह भी सत्य है कि महाकाव्यों की ही भाँति इसमें भी युद्ध की ही प्रधानता है, पर इतने ही साम्य के आधार पर उसे महाकाव्य कहलाने का गौरव नहीं प्राप्त हो सकता। महाकाव्य में जिस व्यापक तथा गंभीर रीति से जातीय चित्तवृत्तियों का स्थायित्व मिलता है, उनका पृथ्वीराजरासो में सर्वथा अभाव है। महाकाव्य में यद्यपि एक ही प्रधान युद्ध होता है, तथापि उसमें दो विभिन्न जातियों का संघर्ष दिखाया जाता है और उसका परिणाम भी बड़ा व्यापक तथा विस्तृत होता है। पृथ्वीराजरासो में न तो कोई एक प्रधान युद्ध है और न किसी महान् परिणाम का ही उल्लेख है। सबसे प्रधान बात यह है कि पृथ्वीराजरासो में घटनाएँ एक दूसरी से असंबद्ध हैं तथा कथानक भी शिथिल और अनियमित है; महाकाव्यों की भाँति न तो घटनाओं का किसी एक आदर्श में संक्रमण होता है और न अनेक कथानकों की एकरूपता ही प्रतिष्ठित होती है। ऐसी अवस्था में पृथ्वीराजरासो को महाकाव्य न कहकर विशालकाय वीर काव्य कहना ही संगत होगा।

पृथ्वीराजरासो में युद्धों की प्रधानता के साथ ही शृंगार की प्रचुरता भी की गई है। वीरों को युद्ध के उपरांत विश्रामकाल में मनबहलाव के लिये प्रेम की आवश्यकता होती है, और काव्यों में भी रसराज शृंगार के बिना काम नहीं चल सकता। इसी विचार से अन्य देशों में, ऐसे वीर काव्यों में, युद्ध और प्रेम की परंपरा प्रतिष्ठित हुई थी। पृथ्वीराजरासो आदि वीर काव्यों में भी बीच बीच में शृंगार की आयोजना की गई है और वीरों के आमोदकाल में शृंगार मूर्तिमती रमणियों का उपयोग किया गया है। कभी कभी तो पारस्परिक विद्वेष की वृद्धि तथा तत्संभव युद्ध के कारण-स्वरूप राजकुमारियों के स्वयंवर कराए गए हैं, और इस प्रकार वीरता के प्रदर्शन के अवसर निकाले गए हैं। सारांश यह कि यहाँ की वीर गाथाओं में शृगार कभी कभी वीरता का सहकारी और कभी कभी उसका उत्पादक बनकर आया है और बराबर गौण स्थान का अधिकारी रहा है। अन्य देशों के ऐसे काव्यों में यह बात नहीं है। उदाहरणार्थ अँगरेज कवि स्काट के रोमेंस-काव्यों को लें। उनमें तो प्रेम की ही प्रधानता और वीरता की अपेक्षाकृत न्यूनता है। जहाँ कहीं प्रेम के कर्तव्य पक्ष के प्रदर्शन की आवश्यकता समझी जाती है, अथवा जहाँ स्त्री-जाति के प्रति सदाचार तथा शील आदि का अभिव्यंजन करना पड़ता है, वहीं वीर भावों की उद्भावना की जाती है। हिंदी के वीर काव्यों तथा अन्य देशों के वीर काव्यों के इसी अंतर के कारण दोनों का रूप एक दूसरे से इतना विभिन्न हो गया है कि समता का पता नहीं चलता। प्रेम-प्रधान होने के कारण ऐसे काव्यों की रंगशाला प्रकृति की रम्य गोद में होती है, जहाँ नायक नायिका के स्वच्छंदतापूर्वक विचरण तथा पारस्परिक साक्षात्कार के लिये

सब प्रकार के सुभीते रहते हैं। इसके विपरीत हिंदी के वीर काव्यों में मानों उनके सच्चे स्वरूप के प्रदर्शनार्थ ही रणभूमि को प्रधानता दी गई है और कुमारियों के स्वयंवर-स्थान तक को कभी कभी रक्त-रंजित कर दिया गया है। प्रेमप्रधान हृदयों में प्रकृति के नाना रूपों के साथ जो अनुराग होता है, वह युयुत्सु वीरों में नहीं होता। इसी लिये यहाँ की वीर गाथाओं में प्राकृतिक वर्णनों का प्रायः सर्वत्र अभाव ही पाया जाता है।

यह विशालकाय ग्रंथ हिंदी का प्रथम बृहत् काव्य समझा जाता है और इसके रचयिता चंद बरदाई पृथ्वीराज के समकालीन बतलाए जाते हैं, परंतु अपने वर्तमान रूप में यह किसी एक काल की अथवा किसी एक कवि की कृति नहीं जान पड़ता। इसमें आए हुए संवतों तथा घटनाओं के आधार पर, साथ ही अनेक बाह्य साक्ष्यों की सहायता से, इस ग्रंथ के रचनाकाल का निर्णय करने में रायबहादुर डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा, पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री आदि प्रसिद्ध विद्वानों ने बहुत कुछ अनुसंधान किया है; परंतु उनकी परस्पर विभिन्न तथा विपरीत सम्मतियों को देखते हुए ठीक ठीक कुछ भी निर्णय नहीं हो सकता। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि इसमें बहुत प्राचीन काल से लेकर प्रायः आधुनिक काल तक की हिंदी में बने हुए छंद मिलते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि इसमें क्षेपक बहुत हैं। चंद बरदाई नाम के किसी कवि का पृथ्वीराज के दरबार में होना निश्चित है, और यह भी सत्य है कि उसने अपने आश्रयदाता की गाथा विविध छंदों में लिखी थी; परंतु समयानुसार उस गाथा की भाषा तथा उसके वर्णित विषयों में बहुत कुछ हेर-फेर होते रहे और इस कारण अब उसके प्रारंभिक रूप का पता लगाना असंभव नहीं तो अत्यंत कठिन अवश्य हो गया है।

बाबू रामनारायण दूगड़ अपने "पृथ्वीराजचरित्र" की भूमिका (पृष्ठ ८६) में लिखते हैं—"उदयपुर राज्य के विक्टोरिया हाल के पुस्तकालय में रासो की जिस पुस्तक से मैंने यह सारांश लिया है उसके अंत में यह लिखा है कि चंद के छंद जगह जगह पर बिखरे हुए थे जिनको महाराणा अमरसिंहजी ने एकत्रित कराया।" इस प्रति के अंत में यह छंद है—

गुन मनियन रस पोइ चंद कवियन कर दिद्धिय।
छंद गुनी ते तुट्टि मंद कवि भिन भिन किद्धिय॥
देस देस विष्षरिय मेल गुन पार न पावय।
उद्दिम करि मेलवंत आस विन आलय आवय (?)॥
चित्रकोट रान अमरेस नृप हित श्रीमुख आयस दयौ।
गुन बिन बीन करुणा उदधि लिषि रासौ उद्दिम कियौ॥

इससे स्पष्ट है कि किसी कवि ने राणा अमरसिंह के समय में उनकी आज्ञा से कवि चंद के छंदों को, जो देश देश में बिखरे हुए थे, पिरोकर इस रासो को पूर्ण किया। पर यह प्रति संवत् १९१७ की लिखी हुई है। अतएव यह प्राचीन प्रति नहीं है। संभव है कि राणा अमरसिंह के समय में जिस रासो का संग्रह, संकलन या संपादन किया गया हो उसी की यह नकल हो। जो कुछ हो, मेवाड़ राजवंश में अमरसिंह नाम के दो महाराणा हुए हैं। पहले का जन्म चैत्र सुदी ७ संवत् १६१६, राज्यप्राप्ति माघ सुदी ११ सं० १६५३ और स्वर्गारोहण माघ सुदी २ सं० १६७६ को हुआ। दूसरे महाराणा अमरसिंह का जन्म मार्गशीर्ष बदी ५ सं० १७२९, राज्यप्राप्ति आश्विन सुदी ४ सं० १७५५ और स्वर्गारोहण पौष सुदी १ सं० १७६७ को हुआ। संवत् १७३२ में महाराणा राजसिंह ने राजसमुद्र तालाब के नौचौकी बाँध पर बड़ी बड़ी

शिलाओं पर एक महाकाव्य खुदवाया। इसमें पहले पहल रासो का उल्लेख मिलता है।

"भाषारासापुस्तकेस्य युद्धस्योक्तोस्ति विस्तर: २७"

अतएव यदि चंद के बिखरे हुए छंदों का संकलन, संपादन आदि अमरसिंह के राज्यकाल में हुआ तो वह दूसरे अमरसिंह नहीं, पहले ही अमरसिंह के राज्यकाल में सं० १६५३ और १६७६ के बीच हुआ होगा। परंतु काशी नागरीप्रचारिणी सभा के संग्रह में पृथ्वीराजरासो की एक प्रति सं० १६४२ की लिखी हुई है। इस संवत् तक तो प्रथम अमरसिंह गद्दी पर भी नहीं बैठे थे, उनके पिता स्वनामधन्य महाराणा प्रतापसिंह अकबर के साथ युद्ध करने में लगे हुए थे। इस युद्ध का अंत संवत् १६४३ में हुआ, जब कि महाराणा ने चित्तौरगढ़ और मंगलगढ़ को छोड़कर शेष मेवाड़ को अपने अधीन कर लिया। अत: सभा की प्रति से यही विदित होता है कि वह 'चित्रकोट रान अमरेस नृप' के राज्यकाल में उनकी आज्ञा से संकलित-संपादित नहीं हुई। पर इससे उसकी प्राचीनता या प्रामाणिकता पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। इसमें जो भिन्न भिन्न संवत् और घटनाएँ दी हुई हैं वे सब इतिहास से ठीक ठीक मेल नहीं खातीं। इससे यही संभव जान पड़ता है कि चंद कवि ने जो रचना की उसका मूल स्वरूप कुछ और ही रहा होगा, पर समय समय पर अनेक हाथों से उसका परिवर्धन होता रहा। मेवाड़-नरेश प्रथम अमरसिंह के समय में उसका अंतिम बार संपादन हुआ होगा।

इस समय जो पृथ्वीराजरासो वर्तमान है वह बहुत पीछे की रचना है। पर अभी तक की प्राप्त सब प्रतियों में सं० १६४२ वाली प्रति ही सबसे प्राचीन जान पड़ती है और चंद के मूल छंदों का यदि कहीं कुछ पता लग सकता है तो वह उसी से लग सकता है।

उद्योग करने पर यह भी पता चल सकता है कि वर्तमान रूप में प्राप्य पृथ्वीराजरासो में प्रक्षिप्त अंश कितना है। तीसरे समय का अंतिम छंद यह है—

षोडस गज उरद्ध राज ऊभौ गवष्ष तस।
संझ समय चीतार पत्र कीनो पेसकस॥
देषत सँभरीनाथ हाथ छूटन हथ सारक।
तीर कि गोरि बिछुट्टि तुट्टि असमान की तारक॥
अधबीच नीच परते पहिल लोहाने लीनो झरपि।
नट कला षेलि जनु फेरि उठि आनि हथ्थ पिथ्थह अरपि॥
हरषि राज प्रथिराजं कीन सूर सामंतं।
बगसि ग्राम गजबाजं अजानबाह दीनयं नामं॥

ऐसा जान पड़ता है कि इसी एक छंद का विस्तार करके "लोहानो अजानबाहु समय" की रचना की गई है। पज्जून महुआ नामक समय का ३०वाँ दोहा इस प्रकार है—

जीति महुव्वा लीय वर दिल्ली आनि सुपथ्थ।
जं जं कित्ति कला बढ़ी मलैसिंह जस कथ्थ॥

इस दोहे का स्पष्ट अर्थ यह है कि जिस प्रकार कीर्ति बढ़ती गई, उसी प्रकार मलैसिंह यश करता गया। मलैसिंह पज्जूनराय के लड़के का नाम भी था, पर यहाँ उससे कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता। ऐसा जान पड़ता है कि मलैसिंह नामक किसी कवि ने इस रासो में अपनी कविता मिलाकर भिन्न भिन्न सामंतों का यश वर्णन किया। अतएव यदि अधिकांश क्षेपक मिलाने के लिये हम और किसी के नहीं तो मलैसिंह के अवश्य अनुगृहीत हैं।

सारांश यह कि वर्तमान रूप में पृथ्वीराजरासो में प्रक्षिप्त अंश बहुत अधिक है पर साथ ही उसमें बीच बीच में चंद के छंद

बिखरे पड़े हैं और यह निश्चित जान पड़ता है कि वर्तमान रासो चंद-रचित छंदों का संकलित एवं संपादित रूप है।

यह एक खेद की ही बात है कि पृथ्वीराजरासो जैसे हिंदी के प्रसिद्ध, प्राचीन और बृहत् काव्य की प्रामाणिकता के संबंध में अभी तक कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं हुआ है। राय-बहादुर महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा तो इसको १६-१७वीं शती की रचना मानते हैं और 'पृथ्वीराजविजय' में चंद का कोई उल्लेख न मिलने से उसके व्यक्तित्व में संदेह करते हैं। यदि 'पृथ्वीराजविजय' की अखंडित प्रति मिल गई होती तो इस उल्लेख के अभाव को चंद के अस्तित्व की अप्रामाणिकता का आधार पूर्णतः नहीं तो अंशतः अवश्य माना जाता। पर दुर्भाग्य से अभी तक उसकी खंडित प्रति ही प्राप्त हुई है।

मुनि जिनविजय जी ने अपने संपादित 'पुरातन प्रबंधसंग्रह' (सिंधी जैन ग्रंथमाला, पुष्प २) में पृथ्वीराज और जयचंद विषयक प्रबंधों में चार ऐसे छंद दिए हैं जिन्हें वे चंदरचित बताते हैं और इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि "चंद कवि निश्चिततया एक ऐतिहासिक पुरुष था और वह दिल्लीश्वर हिंदू सम्राट् पृथ्वीराज का समकालीन और उसका सम्मानित एवं राजकवि था। उसीने पृथ्वीराज के कीर्तिकलाप का वर्णन करने के लिये देश्य प्राकृत भाषा में एक काव्य की रचना की थी जो पृथ्वीराजरासो के नाम से प्रसिद्ध हुई।"

उन चार छंदों में तीन का रूपांतर तो काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित रासो में लग गया है, चौथे का पता अभी तक नहीं लगा है। वे चारों छंद ये हैं—

(१)

इक्कु बाणु पहु बीसु जु पइँ कइँबासह मुक्कओ,
उर भिंतरी खडहडिउ धीर कक्खँतरि चुक्कउ।

बीऊँ करि संधीउँ भमइ सूमेसर नंदण ;
एहु सु गडिदाहिम क्रो खणइ खुद्दइ सइँभरि वणु ।
फुड छंडि न जाइ इहि लुब्भिउ वारह पलकउ खल गुलह ।
न जांणउँ चंद बलद्दिउ किं न विछुट्टइ इह फलह ।

—पु० प्र० सं० पृष्ठ ८६, पद्य २७५ ।

एक बान पहुमी नरेस कैमासह मुक्यौ ।
उर उप्पर थरहव्यौ बीर कष्षंतर चुक्यौ ॥
बियो बान संधान हन्यौ सोमेसर नंदन ।
गाढौ करि निग्रह्यौ षनिव गड्यौ संभरि धन ॥
थल छोरि न जाइ अभागरौ गाड्यौ गुनगहि आगरौ ।
इम जंपै चंदवरद्दिया कहा निघट्टै इह प्रलौ ॥

—रासो पृष्ठ १४९६, पद्य २३६

(२)

अगहुम गहि दाहिमश्रो रिपुरायखयं करु,
कूडु मंत्रु मम ठवश्रो एहु जंबूय (प?) मिलि जग्गरु ।
सहनामा सिक्खवउं जइ सिक्खिविउं बुज्झइं,
जंपइ चंद बलिद्दु मज्झ परमक्खर सुज्झइ ।
पहु पहुविराय सइंभरि धनी सयँभरि सउणइ समिरिसि,
कइँबास बिश्रास विसट्ट विणु मच्छि बंधिबद्धश्रो मरिसि ॥

पु० प्र० सं० पृष्ठ ८६, पद्य २७६ ।

अगह मगह दाहिमौ देव रिपु राइ वयंकर ।
कूर मंत जिन करौ मिले जंबू वै जंगर ॥
मो सहनामा सुनौ एह परमारथ सुज्झै ।
अष्षै चंद बिरद्द बियौ कोइ एह न बुज्झैं ॥

प्रथिराज सुनवि संभरि धनी इह संभलि संभारि रिस।
कैमास बलिष्ठ बसीठ बिन म्लेच्छ बंध बंध्यौ मरिस॥

—रासो पृष्ठ २१८२, पद्य ४७६।

(३)

त्रिरिह लक्ख तुषार सबल पाषरिअइँ जसु हय,
चऊदसय मयमत्त दंति गज्जंति महामय।
बीस लक्ख पायक्क सफर फारक्क धणुद्धर,
ल्हूसडु अरु बलुयान सँख कु जाणइ तांह पर।
छत्तीस लक्ख नराहिवइ विहि विनिडिओ हो किम भयउ,
जइचंद न जाणउ जल्हुकइ गयउ कि मूउ कि धरि गयउ॥

—पु० प्र० सं० पृष्ठ ८८, पद्य २८७।

असिय लष्ष तोषार सजउ पष्षर सायद्दल।
सहस हस्ति चवसट्ठि गरुअ गज्जंत महाबल॥
पंच कोटि पाइक्क सुफर पाटक्क धनुद्धर।
जुध जुधान बार बीर तोन बंधन सद्धनभर॥
छत्तीस सहस रन नाइबौ विही क्रिम्मान ऐसो कियौ।
जै चंद राह कवि चंद कहि उदधि बुड्डिकै धर लियौ॥

—रासो पृ० २५०२, पद्य २१६।

(४)

जइतचंदु चक्कवइ दवे तुह दूसह पयाणउ।
धरणि धसविउद्धसइ पडइ रायह भंगाणओ।
सेसुमणिहिं संकियउ मुक्कु हय खरिसिरि खंडिओ।
तुट्टओ सोहर धवलु धूलि जसु चियतणि मंडिओ।
उच्छहरिउ रेणु जसग्गिगय सुकवित्त (ज)ल्हु सचउ चवइ।
वग्ग इंदु बिंदु भुयजु प्प्रलि सहस नयण किण परिमिलइ॥

—पु० प्र० सं० पृष्ठ ८८–८९।

उक्त पद्यों को देखकर यह कहना कठिन है कि कौन मूल है और कौन रूपांतर। क्या असली रासो अपभ्रंश में रचा गया था, पीछे से प्रचलित भाषा में उसका अनुवाद हुआ और क्षेपकों की भरमार से एक नया ही रासो तैयार हो गया, अथवा आधुनिक रासो का ही अपभ्रंश में अनुवाद हुआ था? यदि पूर्ण रासो अपभ्रंश में मिल जाता तो यह प्रश्न बहुत कुछ सरल हो जाता।

जो कुछ हो, इस बृहद् ग्रंथ में यद्यपि विस्तार के साथ पृथ्वीराज चौहान का वीर चरित ही अंकित किया गया है पर अनेक प्रासंगिक विवरणों के रूप में क्षत्रियों के चार कुलों की उत्पत्ति और उनके अलग अलग राज्यस्थापन आदि की भी कल्पना की गई है। पृथ्वीराज की पूर्व परंपरा का हाल लिखकर कवि उसकी जीवनी को ही अपने ग्रंथ का प्रधान विषय बनाता है और प्रासंगिक रीति से तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का दिग्दर्शन भी कराता है। पृथ्वीराज के जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं में अनंगपाल द्वारा गोद लिए जाने पर उसका दिल्ली और अजमेर के राजसिंहासनों का अधिकारी होना, कन्नौज के राठौर राजा जयचंद से विद्वेष होने के कारण उसके राजसूय यज्ञ में न सम्मिलित होकर छिपे छिपे उसकी कन्या संयुक्ता को हर लाना, जयचंद तथा अन्य क्षत्रिय नृपतियों से अनेक बार युद्ध करना, क्षीणशक्ति हो जाने पर भी अफगानिस्तान के गोर प्रदेश के अधिपति शहाबुद्दीन के आक्रमणों का सफलतापूर्वक सामना करना, कई बार उसे कैद करके छोड़ देना आदि आदि अनेक प्रसंगों का, जिनमें से कुछ कविकल्पित हैं और कुछ ऐतिहासिक तत्त्वों पर अवलंबित हैं, बड़ा ही मार्मिक तथा काव्य-गुण-संपन्न वर्णन इस ग्रंथ में पाया जाता है।

पृथ्वीराजरासो समस्त वीरगाथा युग की सबसे अधिक महत्त्व-पूर्ण रचना है। उस काल की जितनी स्पष्ट झलक इस एक ग्रंथ में मिलती है, उतनी दूसरे अनेक ग्रंथों में नहीं मिलती। छंदों का जितना विस्तार तथा भाषा का जितना साहित्यिक सौष्ठव इसमें मिलता है, अन्यत्र उसका अल्पांश भी नहीं दिखाई देता। पूरी जीवन-गाथा होने के कारण इसमें वीर गीतों की सी संकीर्णता तथा वर्णनों की एकरूपता नहीं आने पाई है, वरन् नवीनता-समन्वित कथानकों की ही इसमें अधिकता है। यद्यपि "रामचरित-मानस" अथवा "पद्मावत" की भाँति इसमें भावों की गहनता तथा अभिनव कल्पनाओं की प्रचुरता उतनी अधिक नहीं है, परंतु इस ग्रंथ में वीर भावों की बड़ी सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है और कहीं कहीं कोमल कल्पनाओं तथा मनोहारिणी उक्तियों से इसमें अपूर्व काव्य-चमत्कार आ गया है। रसात्मकता के विचार से उसकी गणना हिंदी के थोड़े से उत्कृष्ट काव्य-ग्रंथों में हो सकती है। भाषा की प्राचीनता के कारण यह ग्रंथ अब साधारण जनता के लिये दुरूह हो गया है, अन्यथा राष्ट्रोत्थान के इस युग में पृथ्वीराजरासो की उपयोगिता बहुत अधिक हो सकती थी।

चंद की कविता के नमूने यहाँ दिए जाते हैं।

घघर की लड़ाई से—

भुजंगी

छुटी अंषि पट्टी मनो उग्गि सूरं। गिरे काइरं सूर बढ्ढे सनूरं॥
लियं हथ्थ करिवार भंजै कपारं। पियँ जोगनी पत्र, कीयैं डकारं॥
वहै अच्छरी हथ्थ अन्नेक सथ्थं। करं सूर सम्हालियै घल्लि बथ्थं॥
करै कज्ज साईं समप्पै सुघट्टं। लियं कन्ह गोरी, तनं मारि थट्टं॥

कवित्त

कालंजर जब परिय भरिय सेनापतिसाहिय ।
पंच फौज एकट्ठ कन्ह करवारि सम्हारिय ॥
घर पारे बहु मीर सथ्थ जब सेना भग्गिय ।
गर घत्ती कम्मान लियौ गोरीय उछंगिय ॥
उत्तरे मीर पच्छे फिरे हाय हाय मुख हुंकरयौ ।
पज्जून फेलि मुख पीर कौ कन्ह लेइ गोरी बरयौ ॥

पद्मावती का रूप-गुण-वर्णन----

दूहा

पदमसेन कूँवर सुघर ता घर नारि सुजान ।
ता उर इक पुत्री प्रगट मनहु कला ससि भान ॥

कवित्त

मनहुँ कला ससि भान कला सोलह सो बन्निय ।
बाल बेस ससि ता समीप अंम्रित रस पिन्निय ॥
बिगसि कमल म्रिग भमर बैन पंजन म्रिग लुट्टिय ।
हीर कीर अरु बिंब मोति नष सिष अहि घुट्टिय ॥
छत्रपति गयंद हरि हंस गति बिह बनाय संचै सचिय ।
पदमिनिय रूप पदमावतिय मनहुँ काम कामिनि रचिय ॥

दूहा

मनहुँ काम कामिनि रचिय रचिय रूप की रास ।
पसु पंछी सब मोहनी सुर नर मुनिवर पास ॥

वीरगाथा काल के प्रबंध काव्यों के रचयिताओं में भट्ट केदार का जिसने जयचंदप्रकाश, मधुकर का जिसने जयमयंकजसचंद्रिका, साँरगधर का जिसने हम्मीर काव्य और नल्लसिंह का जिसने

विजयपालरासो लिखा, उल्लेख मिलता है; जिससे यह प्रकाशित होता है कि इस प्रकार के काव्यों की परंपरा बहुत दिनों तक चली थी, पर राजपूताने में इस प्रकार की प्राचीन पुस्तकों की खोज न होने तथा अनेक ग्रंथों के उनके मालिकों के मोह, अविवेक अथवा अदूरदर्शिता के कारण अँधेरी कोठरियों में बंद पड़े रहने के कारण इस परंपरा का पूरा पूरा इतिहास उपस्थित करने की सामग्री का सर्वथा अभाव हो रहा है।

गीत काव्य

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, प्रबंध-मूलक वीर काव्यों के अतिरिक्त उस काल में वीर गीतों की रचनाएँ भी हुई थीं। अनुमान से तो ऐसा जान पड़ता है कि उस काल की रचनाओं में प्रबंध काव्यों की न्यूनता तथा वीर रसात्मक फुटकर पद्यों की ही अधिकता रही होगी। अशांति तथा कोलाहल के उस युग में लंबे लंबे चरितकाव्यों का लिखा जाना न तो संभव ही था और न स्वाभाविक ही। अधिक संख्या में तो वीर गीतों का ही निर्माण हुआ होगा। युद्ध के लिये वीरों को प्रोत्साहित करने में और वीरगति पाने पर उनकी प्रशस्तियाँ निर्मित करने में वीरगीतों की ही उपयोगिता अधिक होती है। इसके अतिरिक्त राजसभाओं में वीर नृपतियों अथवा सरदारों का गुणगान होता होगा, तब वीर गीतों के ही आश्रय लेने की आवश्यकता रहती होगी। साहित्य के सामान्य इतिहास की दृष्टि से भी प्रायः पहले गीतों की ही रचना होती है और तब प्रबंध काव्यों की। यद्यपि इस युग में वीर गीतों की रचना अधिकता से हुई होगी, परंतु इस समय तो वे बहुत थोड़ी संख्या में मिलते हैं और अब तो उनके प्रारंभिक स्वरूपों में भी बहुत कुछ हेर-फेर हो गया है। बात यह हुई कि वे रचनाएँ बहुत काल तक लिपिबद्ध नहीं हुईं, वे भट्ट चारणों में बहुत कुछ मौखिक रूप में ही बनी रहीं।

इसी कारण उनमें से बहुत सी तो काल-कवलित हो गईं और बहुतों की भाषा आदि में परिवर्तन हो गए। कुछ रचनाओं में तो विभिन्न कालों की घटनाओं के ऐसे असंबद्ध वर्णन घुस गए हैं कि वे अनेक कालों में अनेक कवियों की की हुई जान पड़ने लगी हैं। अपने वर्तमान रूप में न तो वर्णित विषयों के आधार पर और न भाषा-विकास के आधार पर ही उनके रचनाकाल का ठीक ठीक निर्णय हो सकता है। नरपति नाल्ह रचित वीसलदेव-रासो तथा जगनिक-कृत आल्हखंड के वीर गीतों की बहुत कुछ ऐसी ही अवस्था है।

इतना सब कुछ होते हुए भी भावों के सरल अकृत्रिम उद्वेग तथा भाषा के स्वच्छंद प्रवाह के कारण तत्कालीन वीर गीतों में एक अद्‌भुत ओज तथा तीव्रता सी आ गई है। न तो इन वीर गीतों में दार्शनिक तत्त्वों का समावेश ही है और न इनमें प्राकृतिक दृश्यों का ही मनोरम चित्रण है। इनके कथानकों में भी अनेक-रूपता तथा विचित्रता नहीं है और न इनकी भाषा में ही किसी प्रकार का बनाव सिंगार है। इनके छंदों में एक मुक्त प्रवाह मिलता है, वे तुकांत आदि के बंधनों से जकड़े हुए नहीं हैं। प्रायः किसी वीर को बाह्य आडंबर पसंद नहीं होते और उसके आचार-विचार में एक प्रकार की सरलता तथा स्वच्छंदता होती है, साथ ही वह गंभीर तत्त्वों के समझने में असमर्थ तथा वीर-कृत्य करने में तत्पर रहता है। लगभग ऐसी ही अवस्था हमारे उस युग के वीर गीतों की थी। जहाँ हम पृथ्वीराजरासो आदि प्रबंध काव्यों में अनेक क्षत्रिय वंशों की उत्पत्ति के विस्तृत किंतु नीरस वर्णन पाते हैं, और जहाँ भाषा को अलंकृत करने तथा छंदों में तुक आदि पर विशेष ध्यान देने के प्रयास का भी उनमें अनुभव करते हैं, वहाँ वीसलदेवरासो तथा आल्हा आदि वीर गीतों में कहीं भी

शिथिलता नहीं पाते और न बंधनों की जटिलता का ही उनमें कहीं पता चलता है। कथानकों को सजाने तथा उनमें नवीनता लाने का जितना साहित्यिक प्रयास पृथ्वीराजरासो में पाया जाता है, उतना वीर गीतों में नहीं पाया जाता, फिर भी उनमें अरोचकता कहीं नहीं आने पाई है। वीर गीतों में यद्यपि वीर भावों की ही अधिकता रहती है पर वीरों की कोमल मनोवृत्तियों के प्रदर्शनार्थ उनमें शृंगारिक वर्णन भी होते हैं। वीसलदेवरासो को तो उसके वर्तमान रूप में एक प्रेमगाथा ही कह सकते हैं, परंतु उसमें भी वीरों के सरल तथा कोमल हृदय की व्यंजना हो जाती है। यही उसके वीर गीत कहलाने की सार्थकता है। आल्हखंड में आल्हा, ऊदल (उदयसिंह) आदि की वीर वाणी तथा वीर कृत्यों का जो जमघट सा उपस्थित किया गया है, उसके मूल में भी प्रेम ही है, और स्थान स्थान पर उस प्रेम की निश्चय ही बड़ी सरस तथा मधुर व्यंजना पाई जाती है।

उपर्युक्त गुणों के कारण ही साधारण जनता में वीर गीतों का जितना प्रचार हुआ, उतना वीर प्रबंधों का नहीं हुआ। अपने साहित्यिक गुणों के कारण पृथ्वीराजरासो उस युग की सबसे श्रेष्ठ तथा महत्त्वपूर्ण कृति है; और इस दृष्टि से उसकी तुलना में वीर गीत नहीं ठहर सकते, परंतु ऐसा जान पड़ता है कि राज-दरबारों, अथवा अधिक से अधिक दिल्ली तथा अजमेर के आस पास के प्रदेशों को छोड़कर देश के अन्य भागों की जनता में पृथ्वीराजरासो का कुछ भी प्रचार नहीं हुआ। प्रचार की दृष्टि से आल्हखंड या आल्हा सबसे अधिक सौभाग्यशाली हुआ। यद्यपि इस प्रचाराधिक्य के कारण उसका पूर्व स्वरूप बहुत कुछ विकृत होकर विस्मृत भी हो गया, पर अपने नवीन रूप में वह आज भी उत्तर भारत की जनता का कंठहार हो रहा है। आषाढ़ और श्रावण के महीनों में

जब वर्षा होने पर ग्रीष्म ऋतु का ताप बहुत कुछ कम हो जाता है और जब बादलों की गरज से हृदय एक अलौकिक उल्लास का अनुभव करने लगता है, तब ग्रामों में आज भी ढोल की गंभीर ध्वनि के साथ अल्हैतों के तारस्वर में "आल्हा" के किसी प्रसंग का सुन पड़ना सबके साधारण अनुभव की बात है। युक्त प्रांत के बैसवाड़ा आदि प्रदेशों में आल्हा का बहुत अधिक प्रचार है और वहाँ संभवतः गोस्वामीजी के रामचरितमानस को छोड़कर दूसरा सर्वप्रिय ग्रंथ आल्हखंड ही है। हम इन दोनों वीर गीतों का विवेचन आगे करते हैं।

वीसलदेवरासो

इस छोटे से काव्य की रचना वीर गीत की शैली पर नरपति नाल्ह नामक किसी कवि ने की थी। इसमें चार सर्ग हैं। प्रथम सर्ग में धार का राजा भोज अपनी कन्या राजमती का विवाह अजमेर के राजा वीसलदेव से करता है। द्वितीय सर्ग में राजमती के ताना मारने पर वीसलदेव उड़ीसा विजय के लिये निकलता है, वहाँ का राजा उसका स्वागत करता है। तृतीय सर्ग में रानी के विरह-विलाप, राजा के पास सँदेसा भेजने और वीसलदेव के घर लौटने का तथा चतुर्थ में उसके अपने भतीजे को युवराज बनाने, भोज के अजमेर आने और आनंदोत्सव आदि का वर्णन है।

इस प्रेम-प्रसंग को वीर गीत स्वीकार करने में कुछ विद्वानों को संकोच होता है। उनका यह संकोच बहुत अंशों में ठीक भी है, परंतु स्मरण रखने की बात यह है कि वीर गीतों में वीरों की जीवनगाथाएँ नहीं होतीं, वरन् जीवन की किसी साधारण अथवा असाधारण घटना का चित्रण मात्र होता है। वे सदा वीररसात्मक ही नहीं हो सकते, क्योंकि वीरों का युद्ध से अभिन्न संबंध नहीं रहता, वीरों के हृदय में यद्यपि उत्साह सदा उपस्थित रहता

है, परंतु इसका यह आशय नहीं है कि वे निरंतर युद्ध ही करते रहें। उनके जीवन में हृदय की कोमल वृत्तियों का प्रदर्शन भी हुआ करता है, और बीसलदेवरासो में ऐसी वृत्तियों का चित्रण किया गया है। यह बीसलदेवरासो की एक विशेषता है कि प्रेम-प्रधान होने पर भी उसे वीर गीत कहे जाने का गौरव मिला है।

इस पुस्तक की भिन्न भिन्न प्रतियों में दिए गए भिन्न भिन्न संवतों, इतिहास से इसकी दी हुई घटनाओं के विरोध तथा इसकी भाषा की आधुनिकता के कारण इसके रचयिता तथा रचनाकाल आदि के संबंध में संदेह उपस्थित होता है। बीसलदेवरासो की नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प्रति में, जिसका संपादन जयपुर की सं० १६६९ की लिखी प्राचीन प्रति के आधार पर हुआ था, पुस्तक का रचनाकाल इस प्रकार दिया है—

बारह सै बहत्तरां हाँ मंझारि।
जेठ बदी नवमी बुधवारि॥
'नाल्ह' रसायण आरंभइ।
सारदा तुठि ब्रह्मकुमारि॥

'बहत्तरां' का स्पष्ट अर्थ 'बहत्तर' है, परंतु संवत् १२१२ में ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार पड़ने से 'बारह सै बहत्तरां' का अर्थ १२१२ माना जाता है। इस पुस्तक की भाषा राजस्थानी है और राजस्थानी भाषा में भी 'बहत्तरां' का अर्थ 'बहत्तर' होता है। चैत्र मास से वर्षगणना करने पर सं० १२७२ की ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार नहीं पड़ता, पर राजपूताने में कार्तिक मास से भी वर्ष-गणना करने की प्रथा थी और उसके अनुसार वार की गणना ठीक बैठ जाती है। अतः पुस्तक की रचना सं० १२७२ में मानने में कोई बाधा नहीं है।

वीसलदेव अथवा विग्रहराज नाम के चार चौहान राजा अजमेर में राज्य कर चुके हैं। विग्रहराज तृतीय सं० ११५० के लगभग वर्तमान था। इसकी रानी का नाम राजदेवी था। परमार राजा भोज का भाई उदयादित्य इसका समकालीन था, अतः यह संभव है कि भोज की कन्या का विवाह इससे हुआ हो और उसी का नाम राजदेवी या राजमती रहा हो। इस प्रकार इस काव्य का नायक विग्रहराज तृतीय था और उसका भोजकन्या से विवाह होना ऐतिहासिक घटना है। यह काव्य उसके समय के लगभग सवा सौ वर्ष बाद लिखा गया होगा। यही कारण है कि कवि को वीसलदेव के उड़ीसा जाने तथा कालिदास आदि के उसके समय में वर्तमान होने की कल्पना करने का अवसर मिला जिसके लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं।

इस पुस्तक की भाषा के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि यह उस काल की बोलचाल की राजस्थानी है, अतः शिष्ट-काव्य में प्रयुक्त भाषा से तुलना करके उसे मध्यकालीन रचना मानना युक्तिसंगत नहीं। इस पुस्तक से कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

'नाल्ह' रसायण रस भरि गाई। तुठी सारदा त्रिभुवन माई ॥
उलिगणां गुण वरणतां। कुकठ कुमाणसां जिन कहई रास ॥
अस्त्री चरित गति को लहइ। एकइ आखर रस सवइ विणास ॥
तुठी सारदा त्रिभुवन माई। देव विनायक लागू हूँ पाय ॥
तोहिं लंबोदर बीनमूँ। चउसठि जोगिनि का अगिवांण ॥
चउथ जोहारूं खोपरां। भूलेउ अक्खर आणजे ठाइं ॥

× × × ×

धार नगरी राजा भोज नरेस। चउरास्या जे कै बसइ असेस ॥
राज बेलावल अति घणइ। राज कूंवरि अतिरूप असेस ॥
बेटी राजा भोज की। ऊनंत - पयोहरवाली-वेस ॥

× × × ×

जान सजाई बीसलराव। खेह उड़ी रवि गयो लुकाई ॥
कोतिग आव्या देवता। कोतिग आव्या इंद्र विमान ॥
लूण उतारे अपछरा। धनि धनि बीसल चहुँवाण ॥
पूजी विनायक चाल्यो छइ जान। चौरास्या सहु दीधउ छइ मान ॥
आठ सेहस नेजा-धणी। पालखी बइठा सहस पँचास ॥
हाथी चाल्या दोढसो। असीय सहस चाल्या केकाण ॥
रथ ऊपरि धज फरहरई। खेहाडंमर नवि सूझइ भाण ॥

× × × ×

धुरि असाढ़ धडुकया मेह। खलहल्या पाल्या बहि गई खेह ॥
अजी न असाढ़ां बाहुड्यो। कोइल कुरलइ अंब की डाल ॥
मोर टहूकइ सीखर थी। माता मइगल ज्यूं पग देइ ॥

कुछ विद्वानों ने इसे चंद बरदाई कृत पृथ्वीराजरासो ग्रंथ का ही एक खंड बतलाया है और इस दृष्टि से इसे स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में ग्रहण नहीं किया है; परंतु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती।

आल्हखंड

पृथ्वीराजरासो तथा आल्हखंड में सब से प्रधान भेद यह है कि पहला ग्रंथ दिल्ली के अधिपति पृथ्वीराज के दरबारी कवि का लिखा होने के कारण उसके कृत्यों को बहुत अधिक उत्कर्ष प्रदान करता है; परंतु आल्हखंड में यह बात नहीं पाई जाती। इस वीर गीत में न तो पृथ्वीराज के चरित की प्रधानता है और न उसकी वीर कृतियों की प्रशंसा है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह ग्रंथ प्राचीन रूप में जगनिक का

लिखा हुआ था जो महोबे के चंदेल शासक परमाल या परमर्दि देव के दरबार में रहता था। यह चंदेल शासक पृथ्वीराज का समकालीन और कन्नौज के अधिपति जयचंद का मित्र था। इसका राज्यकाल वि० सं० १२२२ से १२६० तक था। सं० १२३९ में यह पृथ्वीराज द्वारा युद्ध में पराजित हुआ था और सं० १२६० में कुतुबुद्दीन ऐबक ने इससे कालिंजर का किला जीत लिया, तब से चंदेल राज्य का अंत हो गया।

इस पुस्तक में प्रधानतः आल्हा और ऊदल (उदयसिंह) नामक वीर क्षत्रियों तथा साधारणतः उनके अनेक भाइयों और कुटुंबियों की वीर गाथाएँ हैं। आल्हा और ऊदल बनाफर शाखा के क्षत्रियों के वंशज थे और महोबे के तत्कालीन चंदेल अधिपति परमाल के सामंतों तथा सेनापतियों में थे। यद्यपि परमाल अशक्त तथा भीरु शासक था परंतु उसकी स्त्री मल्हना अपने वीर सामंतों की सहायता से कई बार पृथ्वीराज तक के आक्रमणों को विफल करने में समर्थ हुई थी। आल्हा, ऊदल, लाखन, सुलखे आदि वीर भ्राताओं की धाक तत्कालीन छोटे छोटे राज्यों पर तो थी ही, कन्नौज जैसे विस्तृत साम्राज्य का अधिपति जयचंद भी उनकी वीरता के आगे सिर झुकाता था। आल्हखंड के वीर गीतों में इन्हीं वीर भ्राताओं के अनेक विवाहों तथा प्रायः बावन लड़ाइयों का वर्णन है। उस समय की कुछ ऐसी स्थिति हो गई थी कि प्रत्येक विवाह में वीर क्षत्रियों के लिये अपनी वीरता का प्रदर्शन करना आवश्यक होता था और कन्यापक्ष वालों को पराजित करने पर ही उन्हें कन्या से विवाह करने का अधिकार मिलता था। यद्यपि इस पुस्तक में युद्धों का जितना विशाल रूप प्रदर्शित किया गया है, उसमें बहुत कुछ अतिशयोक्ति भी है; परंतु यह निश्चित है कि महोबे के इन वीर सरदारों ने सफलतापूर्वक अनेक युद्ध

किए थे और उनमें विजयी होकर उन्होंने राजकन्याओं का अपहरण भी किया था। पुस्तक के अंत में अत्यंत करुणाजनक दृश्य उपस्थित होता है। सब वीर बनाफर युद्ध में मारे जाते हैं, उनकी रानियाँ सती होने के लिये अग्नि की शरण लेती हैं और बचे हुए केवल दो व्यक्ति, आल्हा और उसका पुत्र इंदल, गृह परित्याग कर, किसी कजरीबन में जा बसते हैं। इस कजरीबन का ठीक ठीक पता अभी तक नहीं लग सका है। यह कोई कविकल्पित स्थान जान पड़ता है जिससे निर्जनता तथा अंधकार की व्यंजना होती है।

इस वीर गीत में अनेक युद्धों का वर्णन बहुत कुछ एक ही प्रकार से हुआ है, साथ ही इसमें अनेक भौगोलिक अशुद्धियाँ भी पाई जाती हैं, परंतु साधारण पाठकों के लिये इसके वर्णनों में बड़ा आकर्षण है। यद्यपि इसमें साहित्यिक गुणों की बहुत कुछ न्यूनता पाई जाती है, पर उत्तर भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में इसका प्रचार है। इसमें वर्णित युद्धों की भयानकता यद्यपि बहुत कुछ बढ़ा चढ़ाकर अंकित की गई है, परंतु युद्ध हुए अवश्य थे और उनमें वीर बनाफरों की अनेक बार विजय भी हुई थी। जगनिक-कृत आल्हखंड अब अपने पूर्व रूप में नहीं मिलता। उसके आधुनिक संस्करणों में भाषा की नवीनता तथा घटनाओं का प्रक्षेप प्रत्यक्ष देख पड़ता है फिर भी यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है। वीररस तो इसमें से उफना पड़ता है।

निम्नलिखित पंक्तियाँ उदाहरण के लिये पर्याप्त हैं—

इतनी सुनि के राय लंगरी नैना अग्नि ज्वाल हुइ जाय।
ऐसो देखौं ना काहू को डोला लै दिल्ली को जाय॥
बातन बातन बतबड़ हुइ गइ औ बातन में बाढ़ी रार।
दूनौ दल में हल्ला हुइ गौ छत्रिन खैंचि लई तरवारि॥

पैदल के संग पैदल अभिरे और असवारन से असवार।
परो जड़ाका दूनौ दल में जहँ मुँहतोर चलै तरवारि॥
अपनो पराओ ना पहिचाने सबके मारि मारि रट लाग।
आठ हजार घोड़ सब जूझे दिल्लीवारन दए गिराय॥

उस युग की इन प्रतिनिधि रचनाओं के उपर्युक्त विवरण से हम वीर गाथाओं के विभिन्न स्वरूप समझने में थोड़ा बहुत समर्थ हो सकते हैं, क्योंकि इनमें प्राय: वे सभी विशेषताएँ आ जाती हैं जिनको हम उस काल की अन्य कृतियों में देखते हैं। हाँ, यह बात अवश्य है कि उपर्युक्त वीर गाथाओं में वर्णित चरित बहुत कुछ सच्चे वीरों के होने के कारण हमारे लिये विशेष आकर्षण रखते हैं और इसी लिये वे रक्षित भी रह सके हैं; परंतु कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जिनमें वर्णित वीरों की वीरता पुस्तकों तक ही परिमित रही है और जिनके संबंध में इतिहास प्राय: मौन जान पड़ता है। ऐसी गाथाओं में से बहुत सी लुप्त हो गई हैं और कुछ राजदरबारों के पुस्तकालयों में पड़ी हुई हैं। जनता ने ऐसी रचनाओं को बहुत कम ग्रहण किया, अथवा वह उन्हें थोड़े ही दिनों में भूल गई। आज भी ऐसी गाथाओं की परंपरा कुछ राजाओं के यहाँ चली जा रही है, परंतु उनसे न तो साहित्य की श्रीवृद्धि होती है और न उनका प्रचार ही होता है।

इस युग के अंतिम कवि सूर्यमल्लजी ने वंशभास्कर नामक एक बृहत्काय ग्रंथ लिखकर अनेक महावीरों की वीरगाथाओं का संरक्षण कर दिया है, यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से इस ग्रंथ में भी वे ही दोष मिलते हैं जो अन्य ग्रंथों में पाए जाते हैं। उन्होंने भी किंवदंतियों को ही आधार-स्वरूप मानकर इस ग्रंथ की रचना की है, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस ग्रंथ से सूर्यमल्लजी की विद्वत्ता, प्रतिभा और कवित्व-शक्ति का पूरा परिचय मिलता है।

जब देश के अधिकांश भाग में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो गया और यहाँ के हिंदू नृपति भी उनका सामना न कर सकने के कारण चुप मारकर बैठ रहे तभी वीर गाथाओं का प्रथम उत्थान-काल समाप्त हो गया और कवियों के प्रयत्न से देश की दृष्टि युद्ध से हटकर अपने धर्म के उस स्वरूप की ओर गई जिससे उसकी निराशा बहुत कुछ कम हो सकती थी और जिसका सहारा पाकर जाति का अस्तित्व लुप्त होने से बचा रह सकता था। यह काल विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के अंतिम चरण का था। इस काल के उपरांत फिर वीर गाथाओं का अभ्युदय नहीं हुआ। पर हिंदी साहित्य की यह विशेषता रही है कि उसके भिन्न भिन्न युगों में ऐसा समय कभी नहीं आया जब कि किसी विशेष प्रकार की रचनाओं का सर्वथा लोप हो गया हो। इसी विशेषता के कारण समय समय पर अन्य अनेक वीर काव्य भी रचे गए, जिनका हम आगे चलकर इसी अध्याय में, संक्षेप में, वर्णन करेंगे।

इस युग की साधारण प्रगति की अपवाद-स्वरूप कुछ बातें हैं जिन पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। इनमें एक यह है कि खड़ी

खुसरो

बोली की कविता के आदि कवि खुसरो की मसनवियों, पहेलियों तथा मुकरियों आदि में हमें खड़ी बोली के प्राथमिक स्वरूप की झलक मिलती है। खुसरो की कविता वीरगाथा काल के अंतिम भाग, लगभग चौदहवीं शताब्दी के मध्यकाल की है, और वह तत्कालीन मुसलमानी दरबारों के आश्रय में लिखी गई थी। खुसरो ने अधिकांश कविता फारसी में ही की; पर नवप्रतिष्ठित मुसलिम राज्य के शासकों को देशभाषा से परिचित कराने के लिये उन्होंने खालिकबारी* नामक एक

* खालिकबारी को कुछ विद्वानों ने खुसरो की रचना मानने में आपत्ति की है और उसे बहुत पीछे के किसी कवि की रचना बतलाया है,

पद्यात्मक कोष ग्रंथ की रचना की जिसमें फारसी शब्दों के हिंदी अर्थ बतलाए गए थे और दिल्ली के आसपास की उस प्रचलित भाषा में अपनी पहेलियाँ भी लिखीं जो आजकल की खड़ी बोली की जननी या पूर्व रूप कही जा सकती है। खुसरो ने कुछ रचनाओं में फारसी और खड़ी बोली का सम्मिश्रण भी किया था, पर उनमें से केवल एक पद्य अब प्राप्त है। उनके इस कार्य में हम मुसलमानों और हिंदुओं में भाषा-संबंधी एकता स्थापित करने के उद्योग की झलक पाते हैं। इन्हीं दोनों जातियों में एकता स्थापित करने के अन्य गंभीर प्रयास हम कबीर आदि पीछे के कवियों में भी देखते हैं। परंतु दोनों की भाषाओं को एक दूसरे के निकट लाने का खुसरो का उद्योग भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं था। खुसरो विजेताओं की जाति के थे और तत्कालीन फारसी कवियों में उनका स्थान बहुत ऊँचा था, क्योंकि उन्होंने अपनी आँखों से गुलाम वंश का पतन, खिलजी वंश का उत्थान और पतन तथा तुगलक वंश का आरंभ देखा था। उनके जीवनकाल में दिल्ली के सिंहासन पर ११ बादशाह बैठे जिनमें ७ की उन्होंने स्वयं सेवा की थी। वे बड़े प्रतिभाशाली और विद्वान् कवि थे। उनकी हिंदी रचनाओं का संग्रह छप भी गया है। यह कहना तो कठिन है कि ये रचनाएँ अपने आदि रूप में प्राप्त हैं पर फिर भी फारसी के अच्छे कवि का परिमार्जित और व्यवस्थित भाषा (खड़ी बोली) में रचना करना कोई अधिक आश्चर्य की बात नहीं है। पर साथ ही भाषाओं के क्रमिक विकास का ध्यान करके हमें यह कहने में भी संकोच नहीं हो सकता कि अवश्य पीछे से भी इनकी रचनाओं का परिमार्जन हुआ होगा।

पर उसके विरुद्ध पुष्ट प्रमाणों के अभाव में उसे खुसरो की कृति न मानने का कोई कारण नहीं है।

जिस प्रकार चंदबरदाई आदि वीरगाथाकारों की रचना में तत्कालीन हिंदू-मनोवृत्ति का परिचय मिलता है और हिंदुओं के राजदरबारों की अवस्था का अभिज्ञान होता है, उसी प्रकार अमीर खुसरो की रचनाओं में हम मुसलमानों के उन मनोभावों की झलक पाते हैं जो उनके इस देश में आकर बस जाने के उपरांत यहाँ की परिस्थिति से प्रभावान्वित होकर तथा यहाँ की आवश्यकताओं का ध्यान रखकर उत्पन्न हुए थे। इस विचार से, यद्यपि हम खुसरो की कृतियों में साधारण जनता की चित्तवृत्तियों की छाप नहीं पाते परंतु तत्कालीन स्थिति से परिचित होने के लिये हमें उनकी उपयोगिता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी। भाषा के विकास की दृष्टि से खुसरो की मसनवियों तथा पहेलियों का और भी अधिक महत्त्व है। खुसरो द्वारा प्रयुक्त खड़ी बोली के शुद्ध भारतीय स्वरूप में अरब और फारस के शब्दों की भरमार करके आजकल के कृत्रिम उर्दू बोलनेवाले जब आधुनिक हिंदी को उर्दू से उत्पन्न बतलाने लगते हैं, तब उनके भ्रमनिवारणार्थ खुसरो की रचनाओं का जो सहारा लेना पड़ता है वह तो है ही, भारतीय भाषाशास्त्र के एक अंग की पूर्ति के लिये उपकरण बनकर सहायता देने में भी उनकी कृतियों ने कम काम नहीं किया है।

परंतु खुसरो की कविता का वास्तविक रहस्य समझाने के लिये हमको तत्कालीन कलाओं पर भी ध्यान देना होगा। उनकी कुछ रचनाएँ फारसी में और कुछ हिंदी में पाई जाती हैं तथा कुछ रचनाओं में मिश्रित भाषा का प्रयोग भी दिखाई देता है। जब हम उस समय की वास्तु कला और संगीत कला पर ध्यान देते हैं तो उनमें हिंदू और मुसलमान आदर्शों का मेल पाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि उस समय हिंदू मुसलमानों में परस्पर

बहुत कुछ आदान-प्रदान प्रारंभ हो गया था। यद्यपि साहित्य में हिंदी के वीरगाथा काल तक अपनी पूर्व परंपरा का परित्याग नहीं पाया जाता, परंतु यहाँ की भाषा में बहुत कुछ विदेशीय शब्द आने लगे थे। अमीर खुसरो ने अपना "खालिकबारी" कोश तैयार करके भाषा के आदान-प्रदान में बहुत बड़ी सहायता पहुँचाई थी। उसके कुछ काल उपरांत साहित्य में भावों का आदान-प्रदान भी आरंभ हुआ। इस प्रकार हम खुसरो की कविता में युगप्रवर्तन का बहुत कुछ पूर्वाभास पाते हैं। यहाँ खुसरो की रचना के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए जाते हैं—

खालिकबारी—

खालिकबारी सिरजन हार। वाहिद एक बिदा करतार॥
मुश्क काफ़ूर अस्त कस्तूरी कपूर। हिंदवी आनंद शाही औ सरूर॥
मूश चूहा गुर्बा बिल्ली मार नाग। सोज़नो रिश्तः बहिंदी सूई ताग॥

पहेलियाँ—

फारसी बोली आईना। तुर्की ढूँढो पाईना॥
हिंदी बोली आरसी आए। खुसरो कहे कोई न बताए॥
आरसी

बाला था जब सबको भाया। बड़ा हुआ कुछ काम न आया॥
खुसरो कह दिया उसका नाँव। अर्थ करो नहिं छोड़ो गाँव॥
दीपक

जब से तरुवर उपजा एक। पात नहीं पर डार अनेक॥
इस तरुवर की सीतल छाया। नीचे एक न बैठन पाया॥
फौआरा

एक नार करतार बनाई। ना वह कोंरी ना वह ब्याई॥
सूहा रंगहि वाको रहै। भावी भावी हर कोई कहै॥
बीर बहूटी

चाम मांस वाके नहिं एक। हाड़ हाड़ में वाके छेद॥
मोहिं अचंभो आवत ऐसे। वामें जीव बसत है कैसे॥

पिंजड़ा

फारसी और हिंदी का मेल—

चु शमत्र सोज़ाँ चु ज़र्रः हैराँ हमेशा गिरियाँ बइश्क आँ मेह।
न नींद नैना न अंग चैना न आप आवैं न भेजें पतियाँ॥
बहक्क़ रोज़े वसाल दिलबर कि दाद मा रा फ़रेब खुसरू।
स पीत मन की दुराय राखूँ जो जाने पाऊँ पिया की घतियाँ॥

गद्य का आविर्भाव

वीरगाथा काल के अंतिम अंश में हमें हिंदी गद्य के आविर्भाव की भी झलक मिलती है। यद्यपि निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि हिंदी में गद्य-रचना का आरंभ कब से हुआ, पर जितनी छानबीन अब तक हुई है, उससे हिंदी गद्य का सबसे प्राचीन नमूना गोरखनाथजी के ग्रंथों में मिलता है। गोरखनाथजी का आविर्भाव विक्रम की ग्यारहवीं शती के मध्यकाल में हुआ था। अब तक उनके जितने ग्रंथों का पता लगा है, उनमें से एक में भी निर्माणकाल नहीं दिया है, किसी किसी में लिपि-काल दिया है, पर वह है संवत् १८५५ और १८५९। इनमें से एक ग्रंथ गद्य में भी है। यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि इस ग्रंथ की रचना कब हुई, परंतु भाषा में प्राचीनत्व के चिह्न अवश्य वर्त्तमान हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह ग्रंथ प्राचीन होगा। पृथ्वीराज के समय के कुछ पट्टे और पत्र भी राजपूतानी गद्य में लिखे हुए मिले हैं, पर अनेक विद्वानों का कहना है कि ये प्रामाणिक नहीं हैं। इस संदिग्ध अवस्था में यह कहना कठिन है कि हिंदी के गद्य का आविर्भाव कब हुआ।

उस काल के साहित्य का साधारण दिग्दर्शन कर लेने पर स्वभावत: यह इच्छा होती है कि हम उस युग के भाषा संबंधी विकास का भी निरीक्षण करें और वीरगाथाओं में प्रयुक्त छंदों आदि से भी परिचित हों। साहित्य के भावपक्ष के साथ ही साथ उसका कलापक्ष भी विकसित होता चलता है, और दोनों का संबंध बहुत कुछ घनिष्ठ हुआ करता है। अतएव साहित्य का इतिहास जानने में भाषा के क्रमिक विकास का रूप जानना भी सहायक और उपयोगी ही नहीं होता, वरन् बहुत कुछ अनिवार्य भी होता है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि हिंदी की उत्पत्ति प्राकृत काल की अपभ्रंश भाषाओं से हुई है। परंतु अपभ्रंश कहाँ समाप्त होती है और पुरानी हिंदी कहाँ आरंभ होती है, इसका ठीक ठीक पता लगाना बहुत कठिन है। अब तक अपभ्रंश भाषाओं का जितना साहित्य उपलब्ध हुआ है, उसके आधार पर तो केवल यह कहा जा सकता है कि अपभ्रंश के पिछले स्वरूप में और हिंदी के प्रारंभिक स्वरूप में बहुत अधिक एकरूपता है, और इन दोनों भाषाओं में इतना कम अंतर है कि उनके बीच में समय-भेद अथवा देश-भेद बतलानेवाली कोई रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं और पुरानी हिंदी भी। अपभ्रंश के उत्तर काल में भी देश की प्राय: वैसी ही स्थिति थी, जैसी हिंदी के आदि काल में थी, अत: वीर भावों की प्रधानता व्यक्त करनेवाले इन पद्यों को हम उत्तरकालीन अपभ्रंश मान सकते हैं—

प्रगति

> भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
> लज्जेज्जं तु वयंसिअह जइ भग्गा घरु एंतु ॥ १ ॥
> पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुण कवणु मुएण।
> जा बप्पी की भुंहडी चंपिज्जइ अवरेण ॥ २ ॥

इसके साथ यदि हम चंद बरदाई के निम्नलिखित पद्यों को मिलाकर देखें तो दोनों की समता का बहुत कुछ ज्ञान हो सकता है—

उच्चिष्ठ छंद चंदह वयन सुनत सुजंपिय नारि।
तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि॥
तोड़ी खुल्लिय ब्रह्म दिक्खि इक असुर अदब्भुत।
दिग्घ देह चख सीस मुष्ष करुना जस जप्पत॥

इन पद्यों के रचनाकाल में हिंदी का रूप स्थिर हो चुका था और उसका विकास भी होने लगा था। विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में चंद का आविर्भाव हो चुका था और इस बात का ध्यान रखते हुए यह कहा जा सकता है कि हिंदी की उत्पत्ति उसके सौ डेढ़ सौ वर्ष पहले हो गई होगी। यदि ऐसा न होता तो पृथ्वीराजरासो जैसे बृहत् काव्य की रचना नितांत सद्यःप्रसूत भाषा में करने की कल्पना भी किसी को न हो सकती। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता श्री काशीप्रसाद जायसवाल महोदय ने बुद्धिसेन नामक जैन कवि की, विक्रम के दसवें शतक की, अपभ्रंश कविता के साथ पुरानी हिंदी का साम्य दिखाते हुए उसकी उत्पत्ति उसी काल में बतलाई है। यदि हिंदी की उतनी अधिक प्राचीनता न भी स्वीकार की जाय, तो भी यह निश्चय है कि विक्रम के ग्यारहवें शतक में हिंदी का बीजारोपण अवश्य हो गया था और इसके उपरांत उसका रूप बहुत कुछ स्थिर होता रहा और उसके व्याकरण की प्रतिष्ठा भी होती रही। उसके बहुत कुछ विकसित हो जाने पर उसमें कविता भी रची जाने लगी, और चंद बरदाई के पृथ्वीराजरासो रचने के समय तक उसका पर्याप्त विकास हो गया था।

देशभेद के कारण जिस प्रकार प्राकृत के शौरसेनी, मागधी, महाराष्ट्री, पैशाची आदि तथा अपभ्रंश के नागर, उपनागर, व्राचड़

आदि अनेक विभेद हो गए थे, उसी प्रकार प्रारंभिक हिंदी भी किसी एक रूप में नहीं रही होगी। परंतु साहित्य ग्रंथों की अधिकता आदि के कारण जिस प्रकार प्राकृतों में महाराष्ट्री प्राकृत और अपभ्रंशों में नागर अपभ्रंश को प्रधानता मिली थी और वैयाकरणों ने उन्हीं का मुख्यतः उल्लेख करके शेष के संबंध में बहुत साधारण विवेचन किया था, उसी प्रकार हिंदी के भी एक सामान्य साहित्यिक रूप की प्रतिष्ठा हो गई और साहित्य-ग्रंथों की प्रचुरता होने के कारण उसी की प्रधानता मान ली गई और उसमें व्याकरण आदि का नियमित निरूपण भी हो गया। हिंदी के उस साहित्यिक रूप को उस काल में "पिंगल" कहते थे और अन्य रूपों की संज्ञा "डिंगल" थी। 'पिंगल' भाषा में अधिकतर वे विद्वान् रचना करते थे जो अपने ग्रंथों में संयत भाषा तथा व्याकरण-सम्मत प्रयोगों के निर्वाह में समर्थ होते थे। पिंगल की रचनाओं में धीरे धीरे साहित्यिकता बढ़ने लगी और नियमों के बंधन भी जटिल होने लगे। इसके विपरीत डिंगल भाषा का प्रयोग करनेवाले राजपूताने और उसके आसपास के भट्ट, चारण आदि थे और आरंभ में उनकी भाषा साहित्य के नियमों से बहुत कुछ मुक्त थी। पिंगल और डिंगल के भेद के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि चंद बरदाई का "पृथ्वीराजरासो" पिंगल भाषा में लिखा गया है और नाल्ह का "वीसलदेवरासो" डिंगल की रचना है। डिंगल भाषा में आगे चलकर बहुत विशाल साहित्य की सृष्टि हुई और उसमें वीर, शृंगार और भक्ति आदि सभी रसों की रचनाएँ हुईं। रघुनाथरूपक जैसे प्रसिद्ध रीति-ग्रंथ भी लिखे गए।

अमीर खुसरो ने अपनी मसनवियों और पहेलियों में जिस भाषा का प्रयोग किया, उसके संबंध में यहाँ केवल इतना और

कह देना पर्याप्त होगा कि वह दिल्ली और आसपास की प्रचलित देशभाषा थी और मुसलमान विजेताओं का केंद्र भी उसी प्रांत में होने के कारण उन्होंने उसको ही ग्रहण किया। पीछे से इसी भाषा में अरबी-फारसी के शब्दों को ठूस ठूसकर उसका स्वरूप ही बदल दिया गया और राजभाषा होने के कारण उसके नए स्वरूप की उन्नति भी होती रही। जातीय वैमनस्य ने भी नई भाषा को अधिकाधिक अपरिचित बना देने में सहायता पहुँचाई। खुसरो द्वारा प्रयुक्त खड़ी बोली की उत्पत्ति के संबंध में अब तक कुछ निश्चित रीति से नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वान् उसका जन्म पैशाची प्राकृत से मानते हैं जो पंजाब (पंचनद) प्रदेश में बोली जाती थी; और कुछ विद्वान् उसकी उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत तथा नागर अपभ्रंश से मानते हैं। यहाँ हम इस वाद में नहीं पड़ेंगे और केवल इतना कहकर संतोष कर लेंगे कि वह भाषा न तो खुसरो द्वारा गढ़ी गई थी और न विदेश से ही लाई गई थी। वह खुसरो के समय में प्रचलित इसी देश के एक विशेष भूभाग की भाषा थी। यह अवश्य है कि वह उस काल की साहित्य-परंपरा में प्रतिष्ठित भाषा नहीं थी; वह सामान्य बोलचाल की हिंदी थी जिसकी प्रतिष्ठा का शिष्ट साहित्य में अभी आरंभ ही हो रहा था।

हिंदी की शैशवकाल की रचनाओं में दोहा छंद की सबसे अधिक प्रधानता थी। यद्यपि पृथ्वीराजरासो में सोरठा, छप्पय, कवित्त, पद्धरी आदि प्राकृत काल के तथा साटक, शार्दूलविक्रीड़ित आदि संस्कृत छंदों का प्रयोग भी पाया जाता है, परंतु जिस प्रकार संस्कृत में अनुष्टुपों तथा प्राकृत में गाथाओं की ही प्रधानता रही है, उसी प्रकार पुरानी हिंदी का सर्वप्रिय छंद दोहा ही रहा है। पुरानी हिंदी ही क्यों, अपभ्रंशों में भी दोहों का अधिकता से

व्यवहार हुआ है और उस काल की मुक्तक रचना के लिये दोहा छंद विशेष उपयोगी जान भी पड़ता है। "दोहा" का नामकरण कुछ संस्कृत-पक्षपातियों ने दोधक किया है, परंतु संस्कृत के दोधक से इस छंद का कुछ भी संबंध नहीं है। पृथ्वीराजरासो में भी भाषा का जितना सुष्ठु रूप दोहा छंद में देख पड़ता है उतना अन्य छंदों में नहीं देख पड़ता, पर यह भी जान लेना चाहिए कि प्राचीन हिंदी के जितने अधिक चिह्न चंद के छप्पयों में, जिन्हें कवित्त का नाम दिया गया है, मिलते हैं उतने दोहों में नहीं मिलते। कुछ छंदों में तो उसकी भाषा संस्कृत और प्राकृत की खिचड़ी-सी बन गई है, और व्याकरण तथा भाषाशास्त्र के नियमों का कहीं पता ही नहीं लगता।

वीसलदेवरासो तथा आल्हखंड आदि वीर गीतों के छंदों में एक प्रकार का बंधनरहित मुक्त प्रवाह मिलता है। न तो उनमें अंत्यानुप्रास का ही प्रतिबंध रखा गया है और न संस्कृत के वर्णवृत्तों की-सी कठोर नियम-बद्धता आई है। अन्य दृष्टियों से भी वे छंद वीरभावों के अभिव्यंजन तथा भाषा की स्वाभाविकता और स्वच्छंदता के रक्षण में सहायक हुए हैं।

अनुप्रासों आदि के द्वारा भाषा को सजाने तथा आलंकारिक उक्तियों द्वारा भावों को चमत्कारपूर्ण बनाने का जितना प्रयत्न पृथ्वीराजरासो में देख पड़ता है, उतना उस काल की अन्य रचनाओं में कहीं नहीं देख पड़ता। संभवतः यह कार्य पीछे से किया गया है।

जब देश का शासनाधिकार मुसलमानों के हाथ में जाकर स्थिर हो गया और जब रणथंभौर तथा चित्तौड़ आदि दो एक स्थानों को छोड़कर शेष सभी देशी रजवाड़ों ने विदेशियों को आत्मसमर्पण कर दिया, तब वीरगाथाओं की रचना में शिथिलता आ गई और

धीरे धीरे उनका ह्रास भी हो गया। स्वतंत्रता का सम्मान खोकर भारत नतमस्तक हो चुका था। जनता आतंकित और विलासिनी होकर आत्मविस्मृत सी हो गई। विदेशी शासन से राष्ट्र का जो अध:पतन होता है, विजातीय और विधर्मी शासक से उसको जो क्षति पहुँचती है, परतंत्रता में जो अभिशाप उसे मिलते हैं, उन पर तथा ऐसी ही अन्य बातों पर ध्यान देने की समझ भी जाती रही थी। विदेशी शासन को उलट देने की न किसी में शक्ति थी और न इच्छा। प्रसिद्ध क्षत्रिय नृपति हम्मीरदेव ने हिंदुओं का राज्य बनाए रखने की जो प्रबल चेष्टा की थी, और सफलतापूर्वक विपत्तियों का जो अनेक बार सामना किया था, वही हिंदू वीरता का अंतिम निदर्शन था। इस दृष्टि से 'हम्मीरचरित्र' उस युग की अंतिम वीरगाथा है। उसके उपरांत कई सौ वर्षों तक हिंदुओं की ओर से राज्यस्थापन का कोई उल्लेखयोग्य सामूहिक प्रयत्न नहीं हुआ। महाराणा प्रताप के उत्कट स्वदेशानुराग ने एक बार शिथिल और निष्प्राण हिंदू जाति को नवजीवन से संचरित करके उसकी नसों में उष्ण रक्त का तेजी से संचार अवश्य कर दिया, पर महाराणा की कार्यप्रणाली में राष्ट्रीय चेतना का सहयोग नहीं था। महाराणा की वीरता उनकी निजी वीरता थी, अथवा अधिक से अधिक वह स्वतंत्रताप्रिय चित्तौड़-निवासी क्षत्रियों की वीरता थी, समस्त राष्ट्र का उसमें सहयोग नहीं था। इसका कारण स्पष्ट है। उस समय तक देश सो रहा था। विलासिता का प्रवाह उस समय तक बंद नहीं हुआ था, वरन् प्रबल ही होता जा रहा था। हिंदू जाति उस समय तक परतंत्रता के कष्टों का अनुमान नहीं कर सकी थी, मुसलिम शासन की नृशंसता का पूरा पूरा अनुभव उस समय तक नहीं

वीरगाथाओं का द्वितीय उत्थान

हो सका था। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ के शासनकाल में हिंदूजाति बराबर पतनोन्मुख रही। वह उसकी सुषुप्ति की अवस्था थी। महात्मा तुलसीदास ने मंथरा के मुख से "कोउ नृप होय हमैं का हानी" कहलाकर उस समय के शासन के संबंध में प्रचलित जनता के विचारों की सच्ची अभिव्यंजना की है। जिस प्रकार शराबी मदिरा पीकर अपनी स्थिति भूल जाता है और आत्मविस्मृति की अवस्था में एक प्रकार की निर्द्वंद्वता का अनुभव करता है, उसी प्रकार समस्त भारतीय राष्ट्र उपर्युक्त मुगल शासकों की कूटनीति में फँसकर अपने को भूल गया था और अपनी स्थिति पर संतोष किए हुए बैठा था।

जब किसी जाति के विचारों में इस प्रकार की शिथिलता-जन्य स्थिरता आ जाती है, तब उसके लिये वह काल बड़ा भयावह हो जाता है। ऐसी स्थिरता का ही दूसरा नाम मृत्यु है। भारतीय जनता भी लगभग ऐसी ही अवस्था में थी; परंतु औरंगजेब के मुसलिम शासन की बागडोर अपने हाथ में लेते ही परिस्थिति बदली। इतिहास की यह एक अद्भुत शिक्षा है कि कठोर अत्याचारी और अन्यायी नृपतियों के शासनकाल में ही जनता को अपने कल्याण का मार्ग दिखाई पड़ता है। हिंदू जाति, हिंदू धर्म तथा समस्त भारतीय राष्ट्र के लिये औरंगजेब का शासन सबसे अधिक कठोर तथा दुःखदायी था। जनता के लिये चरम निराशा का काल यही था। देश के बड़े बड़े मंदिरों और उच्च कोटि की कला के निदर्शनों को ढाकर उनके स्थान में मसजिदें खड़ी करना, शासनकार्य में अधिक से अधिक पक्षपात दिखाना, जजिया जैसे कर लगाकर तथा अनेक प्रकार के भय और प्रलोभन दिखाकर हिंदुओं को बलपूर्वक धर्मभ्रष्ट करना, हिंदुओं की मान-प्रतिष्ठा, धन-संपत्ति, इज्जत-आबरू सबको द्विविधा में

डाल देना प्रभृति अत्याचारों का फल वही हुआ जो ऐसी स्थिति में हो सकता था और जो सदा हुआ है। हिंदू जाति बहुत दिनों तक सोती न रह सकी। वह जाग उठी। उसने अपनी भयानक स्थिति का अनुमान किया। वह सब कुछ सहन कर सकती थी, परंतु धर्म पर होनेवाले अत्याचार सहन करना उसकी शक्ति के बाहर था। हिंदू आदि से ही धर्मप्राण थे, दो तीन सौ वर्षों की भक्त कवियों की वाणी के फल-स्वरूप उनकी धर्मप्रियता और भी दृढ़ हो गई थी। सच बात तो यह है कि उस निस्सहाय अवस्था में उन्हें एक धर्म का ही सहारा रह गया था। जब उनका एकमात्र यह अवलंब भी उनसे छीना जाने लगा, तब सारी हिंदू जाति विकल हो उठी। उसने सच्ची स्थिति को समझ लिया। फलत: राजनीतिक क्षेत्र में एक हलचल सी मच गई और इस हलचल में एक जाग्रत राष्ट्र की सम्मिलित चेतना दिखाई दी। पंजाब में गुरु गोविंदसिंह, महाराष्ट्र में छत्रपति शिवाजी और बुँदेलखंड में वीर छत्रसाल इस जागर्ति का मूर्तिमान् स्वरूप धारण कर भारत के रंगमंच पर रणचंडी का नृत्य दिखाने लगे। इस नवीन जागर्ति के मूल में धर्म-भावना ही थी। यही जागर्ति हिंदी कविता की वीर-गाथाओं के नवीन उत्थान के मूल में है। इसी काल में वीर कवियों का दूसरी बार प्रादुर्भाव हुआ था।

परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वीर हम्मीरदेव से लेकर छत्रपति शिवाजी के समय तक वीरगाथाएँ लिखी ही नहीं गईं। हाँ, यह बात अवश्य है कि उस काल में वीर-पूजा की सच्ची भावना से प्रेरित होकर वीर काव्यों की रचना नहीं हुई। ऐसे तो तत्कालीन विलासप्रिय नृपतियों की मनस्तृप्ति के लिये कितने ही स्वार्थसाधक खुशामदी कवियों ने अर्थ-लोलुपतावश कविवाणी के तिरस्कार-स्वरूप अनेक वीर काव्य बनाए होंगे, जो या तो

अब कालकवलित हो गए या रजवाड़ों के पुस्तकालयों के किसी कोने में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में पड़े हुए होंगे। ऐसे काव्यों को न तो हम वीरगाथात्मक काव्य कह सकते हैं और न उनके रचयिताओं को वीरगाथाकार कह सकते हैं। ऐसे कवियों की रचनाओं में और सच्चे वीर कविताकारों में स्पष्ट भेद दिखाई पड़ता है। सच्चे वीरों की प्रशस्ति लिखनेवाले कवि सत्य का आश्रय लेते हैं, अतः उनकी रचनाएँ चिरकाल तक जनता की कंठहार बनी रहती हैं। उनमें समस्त जाति और समस्त देश का गौरव अंतर्निहित रहता है। उनका सार्वदेशिक प्रचार होता है और उनके निर्माता कवि यशस्वी तथा अमर हो जाते हैं। इसके विपरीत स्वार्थलोलुप खुशामदी कवियों की कृतियों में शब्द-चातुर्य की सहायता से कुछ काव्यगुण भले ही आ जायँ, पर उनका बहुत शीघ्र लोप हो जाता है। मिथ्या स्तुति पर अवलंबित होने के कारण थोड़े ही दिनों में वे रचनाएँ आलमारियों से बाहर निकलने के योग्य नहीं रह जातीं; क्योंकि मानव-प्रकृति सत्य को ग्रहण करती और असत्य से घृणा करती है। महाराणा प्रतापसिंह जैसे सच्चे वीर का सम्मान उस समय देश न कर सका, उनकी एक भी उल्लेखनीय गाथा नहीं लिखी गई, एक यही बात पुकार पुकार कर कह रही है कि वह समय वीरगाथाओं का नहीं था, वह समय जाति के पतन का और खुशामदी कवियों की वासना-तृप्ति का था। मुगल दरबारों में अनेक हिंदू कवि रहते थे और अपने आश्रयदाताओं की स्तुति करने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझते थे। जातीय जीवन की पूर्ण विस्मृति का यह एक श्रेष्ठ उदाहरण है। यह स्थिति औरंगजेब के समय तक रही। उसके उपरांत हवा बदली। औरंगजेब की प्रशंसा करनेवाले किसी प्रसिद्ध हिंदू कवि का पता आज नहीं लगता; यद्यपि कुछ

कवि उसके दरबार में रहते अवश्य थे। इसका कारण यही है कि हिंदुओं में राष्ट्रीय चेतना का प्रादुर्भाव हो रहा था और मुगल शासन की ओर से धीरे धीरे आकर्षण हटता जा रहा था, चकाचौंध दूर हो रही थी और दृष्टि के आगे से मोह तथा अज्ञान का परदा धीरे धीरे उठ रहा था।

जब हम द्वितीय उत्थानकाल की वीर गाथाओं की तुलना आदि युग की वीर रचनाओं से करते हैं, तब उनमें कुछ बातों में समता और कुछ में विभेद दिखाई पड़ता है। इस समता और विभेद पर ध्यान देना अत्यावश्यक है; क्योंकि समता में तो हम वीरगाथाओं की सामान्य प्रवृत्ति देखते हैं और विभेद में विभिन्न कालों की परिस्थिति का विवरण पाते हैं। दोनों कालों की वीरगाथाएँ अद्‌भुत ओज से भरी हुई हैं। दोनों की भाषा में जो कठोरता है, वह वीरकाव्योचित है। इस साधारण समता के अतिरिक्त कई दृष्टियों से दोनों कालों की रचनाओं में विभेद भी है। पहला विभेद भाषा-संबंधी है। आदि युग की वीरगाथाएँ अपभ्रंश-भाषाओं और पुरानी हिंदी के सम्मिश्रण-काल की हैं। उस समय हिंदी का कोई स्थिर रूप निश्चित नहीं हो सका था, अतः उस काल की रचनाओं में भाषा की प्रौढ़ता कहीं देख नहीं पड़ती। दूसरी बात यह भी है कि प्रारंभिक काल की वीर रचनाओं का केंद्र राजपूताने के आसपास का प्रांत था, अतः उन रचनाओं में वहाँ की भाषा की गहरी छाप पड़ी है। इसके विपरीत द्वितीय उत्थान काल की वीरगाथाओं में साहित्यिक ब्रजभाषा अपने प्रौढ़ रूप में प्रयुक्त हुई है। एक प्रौढ़ भाषा के प्रतिष्ठित हो जाने के कारण, अथवा अन्य किसी कारण से उत्तरकालीन वीरगाथाओं को हम या तो प्रबंधकाव्य के रूप में देखते

हैं या सुगठित मुक्तकों के रूप में देखते हैं। इस काल में हम आदि युग के से वीर गीतों का अभाव पाते हैं।

इस समता और विभेद के साथ हम सामूहिक रूप से दोनों कालों की वीरगाथाओं का चित्र थोड़ा बहुत देख सकते हैं, परंतु कवियों की वैयक्तिक विशेषताओं का पता नहीं लगा सकते। वीरगाथा काल के प्राय: सभी कवि राजाश्रित थे और अपने अपने वीर आश्रयदाताओं की स्तुति में काव्य-रचना करते थे। यद्यपि उनके आश्रयदाताओं में अधिकांश सच्चे वीर थे और उन्होंने जातीयता की भावना से प्रेरित होकर मुसलमानों से लोहा लिया था, परंतु राजपूत नृपति आपस में भी लड़ा करते थे और उनकी शक्ति गृह-कलह में भी क्षीण होती रहती थी। उनमें संघटित होकर मुसलमानों से युद्ध करने की इच्छा उतनी अधिक बलवती नहीं थी जितनी अलग अलग शौर्य-प्रदर्शन की थी। अत: हमें उनके प्रयासों में समस्त राष्ट्र के प्रयास नहीं मिलते। इसी प्रकार उनकी प्रशंसा करनेवाले कवियों में जातीय या राष्ट्रीय भावना की प्रधानता नहीं देख पड़ती। इस दृष्टि से हम उत्तरकालीन वीर कविताकार "भूषण" को अन्य सब कवियों से विभिन्न श्रेणी में पाते हैं। उसकी कृतियों में जातीयता की भावना सर्वत्र व्याप्त मिलती है, उसकी वाणी हिंदू जाति की वाणी है, वह हिंदुओं का प्रतिनिधि कवि है।

औरंगजेब के धार्मिक कट्टरपन के कारण जब हिंदू जाति का अस्तित्व ही संकटापन्न हो गया, तब आत्मरक्षा और प्रतिकार की प्रेरणा से महाराष्ट्र शक्ति का अभ्युदय हुआ। इस शक्ति को संघटित करनेवाले छत्रपति शिवाजी हुए जिनके मार्ग-प्रदर्शन का कार्य समर्थ गुरु रामदास ने किया था। शिवाजी के अतिरिक्त बुँदेलखंड के प्रसिद्ध अधिपति छत्रसाल ने भी स्थानीय राजपूत

शक्ति को उत्तेजित करने का सफल प्रयास किया था। इस प्रकार महाराष्ट्र और मध्यप्रदेश की शक्ति का जो उत्थान हुआ, उसमें राष्ट्रीयता की पूरी पूरी झलक दिखाई पड़ी। संयोग से इन दोनों राष्ट्रोन्नायकों को भूषण तथा लाल जैसे सुकवियों का सहयोग भी प्राप्त हुआ, जिससे शक्ति-संघटन में बड़ी सहायता मिली। जातियों के उत्थान में जब कभी महात्माओं, योद्धाओं तथा कवियों की सम्मिलित सहायता मिलती है, तब वह बड़े ही सौभाग्य की सूचना होती है और उससे उनके कल्याण का पथ बहुत कुछ निश्चित और निर्धारित हो जाता है। इसी काल में सिखों की वीरता का भी उदय हुआ और उन्होंने राष्ट्रहित की साधना में पूरा पूरा सहयोग दिया। पर सिख धर्म का आरंभ संतों की वाणी तथा उन्हीं की प्रवृत्ति और प्रकृति के अनुकूल हुआ था। पीछे से समय की स्थिति ने इस धर्म पर ऐसा प्रभाव डाला कि वह संत-साधुओं के धर्म का बाना उतारकर वीरों की वेषभूषा तथा कृतियों से सुसज्जित और अलंकृत हो गया। यद्यपि गुरु गोविंदसिंह के समय में हिंदी काव्यों की रचना हुई पर वे वीरगाथात्मक नहीं थे वरन् उस समय के साहित्य की प्रगति के अनुकूल थे।

भूषण और लाल की रचनाओं पर विचार करते हुए हमें यह भूल न जाना चाहिए कि इनका आविर्भाव उस काल में हुआ था जिस काल में रीति-ग्रंथों की परंपरा ही सर्वत्र देख पड़ती थी। नायिका-भेद की पुस्तकों, नखशिख-वर्णनों और शृंगाररस के फुटकर पद्यों का जो प्रबल प्रवाह उस समय चला था, उससे बचकर रहना तत्कालीन किसी कवि के लिये बड़ा ही कठिन था। भूषण और लाल भी उस सर्वतोमुखी प्रवाह से एकदम बचे न रह सके। यद्यपि भूषण की सभी रचनाएँ प्रायः वीररस की हैं परंतु उन्होंने अपने शिवराजभूषण नामक ग्रंथ में उन रचनाओं को विविध अलं-

कारों आदि के उदाहरण-स्वरूप रखा है। यह काल-दोष था। उस समय इससे बच सकना असंभव था। इसी प्रकार लाल कवि ने भी यद्यपि वीर व्रत धारण किया था, तथापि विष्णुविलास नामक नायिका-भेद की एक पुस्तक उन्होंने लिख ही डाली। कविवर लाल के छत्रप्रकाश नामक ग्रंथ में प्रसिद्ध छत्रसाल की वीरगाथा अंकित है, और प्रबंधकाव्य के रूप में होते हुए भी उसकी रचना अत्यंत प्रौढ़ और मार्मिक हुई है। महाकवि भूषण की ही भाँति कविवर लाल के इस ग्रंथ में जातीयता की भावना मिलती है और उनकी इस रचना में शृंगाररस नहीं आने पाया है।

वीरगाथाओं के इस युग के दो प्रधान कवि भूषण और लाल ही माने जाते हैं; परंतु सूदन के सुजानचरित्र में भी वीररस की अच्छी झलक मिलती है। सूदन ने अपने आश्रयदाता सूरजमल का चरित्र फड़कती हुई भाषा में लिखा है। सूरजमल ने संवत् १८०२ के लगभग मेवाड़ जीता था और १८०४ में तत्कालीन जयपुर-नरेश की सहायता से मराठों पर विजय पाई थी। यही नहीं, उसने दिल्ली के मुगल सम्राट् से भी युद्ध किया था और कई बार उसने मुगल सरदारों को पराजित किया था। सूरजमल के इसी वीरचरित का वर्णन सुजानचरित्र में मिलता है। यद्यपि इस पुस्तक में वीररस का अच्छा परिपाक हुआ है, पर इसके मूल में जातीयता की वह चेतना नहीं देख पड़ती जो भूषण और लाल की रचनाओं में मिलती है। यद्यपि इसका नायक सूरजमल ऐतिहासिक व्यक्ति है, पर राष्ट्रोन्नति के कार्य में उससे कोई विशेष सहायता नहीं मिली थी। इसी प्रकार प्रसिद्ध शृंगारी कवि पद्माकर की हिम्मतबहादुर-विरदावली नामक वीर रस की प्रसिद्ध पुस्तक भी इसी काल में लिखी गई थी; पर उसके नायक हिम्मतबहादुर नामक व्यक्ति अवध के तत्कालीन बादशाह के यहाँ नौकर थे और

उनका कुछ भी ऐतिहासिक महत्त्व नहीं है। चंद्रशेखर वाजपेयी नामक कवि ने संवत् १८९० के लगभग हम्मीरहठ नामक एक वीर-गाथा लिखी और वह अवश्य उल्लेखनीय है। उसके नायक हम्मीरदेव प्रसिद्ध क्षत्रिय नृपति थे जिन्होंने कितनी ही बार मुसलिम शासन को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न किया था और जो हिंदुत्व की रक्षा में जी-जान से लगे रहते थे। हम्मीरहठ में यद्यपि उन नवीन उद्भावनाओं की कमी है जो प्रतिभाशाली कवियों की कृतियों में होती हैं, परंतु प्रौढ़ भाषा में लिखे हुए इस वीर-काव्य का महत्त्व अन्य दृष्टियों से बहुत अधिक है। "तिरिया तेल हमीरहठ चढ़ै न दूजी बार" वाली प्रसिद्ध पंक्ति के रचयिता चंद्रशेखर का हम्मीरहठ अवश्य इस युग की वीरगाथाओं में उच्च स्थान का अधिकारी है। इस काल में अनेक वीरगाथाएँ लिखी गई थीं, जिनमें से मुख्य मुख्य कृतियों का उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। अन्य साधारण कृतियों का विवरण यहाँ नहीं दिया जा सकता। अंत में हम एक बार फिर यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि इस युग के अनेक वीरगाथाकारों में भूषण और लाल ही सर्वश्रेष्ठ हैं।

भूषण

महाकवि भूषण का रचनाकाल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का मध्य भाग माना जाता है। यद्यपि इनके जन्म और रचनाकाल के संबंध में कुछ लोगों ने अनुसंधान करने की चेष्टा की है, परंतु उनकी खोज अभी तक पुष्ट प्रमाणों पर अवलंबित नहीं है। भूषण का मतिराम और चिंतामणि का भाई होना और उनका शिवाजी का समकालीन होना लोक-प्रसिद्ध बात है। इसके विरुद्ध जो कुछ प्रमाण दिए जायँ जब तक वे असंदिग्ध न हों, तब तक इस लोक-प्रसिद्ध बात का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। भूषण की वीर-दर्पपूर्ण रचनाओं के देखने से ऐसा जान पड़ता है कि वे स्वयं अनेक युद्धों में शिवाजी के साथ

उपस्थित थे और उन्होंने अपनी वाणी से वीर मराठों को प्रोत्साहित और उत्तेजित किया था।

यद्यपि भूषण की अनेक रचनाओं का उल्लेख मिलता है, पर इस समय शिवराजभूषण, शिवाबावनी और छत्रसालदशक ये ही तीन पुस्तकें प्राप्य हैं। इनमें से शिवराजभूषण सबसे बड़ा ग्रंथ है और यह रीतिकाल की परंपरा के अनुसार अलंकारों के उदाहरण-क्रम से लिखा गया है। निश्चय ही इसके छंदों की रचना भिन्न भिन्न कालों में हुई होगी, और अंत में उनका संकलन कर दिया गया होगा। इसी प्रकार शिवाबावनी के बावन छंद भी समय समय पर बनते रहे और पीछे से एकत्र कर दिए गए होंगे। छत्रसालदशक में बुँदेलखंड के राजपूत अधिपति छत्रसाल की प्रशंसा में बनाए हुए दस छंद हैं।

यों तो भूषण की सभी रचनाएँ ओजस्विनी और वीरदर्प से भरी हुई हैं, परंतु उनकी शिवाबावनी में उपर्युक्त गुणों की पराकाष्ठा देख पड़ती है। भूषण की सत्यप्रियता उनकी रचनाओं में स्पष्ट दिखाई देती है। राष्ट्रीयता की जिस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने वीर कविता की, वह तो उनके प्रत्येक छंद में वर्तमान है। शिवाजी का आतंक चारों ओर फैलाने और विपक्षियों में उनकी धाक जमाने में भूषण की कविता ने बड़ा काम किया। उनकी कविताएँ बहुत शीघ्र प्रचलित हुईं और उनका सम्मान भी सर्वत्र हुआ। कविता द्वारा जितनी ख्याति, जितना सम्मान और जितना धन भूषण को मिला, उतना बहुत थोड़े कवियों को प्राप्त हुआ। राजदरबारों में उनका बड़ा सम्मान था। कहा जाता है, एक बार छत्रसाल ने उनकी पालकी अपने कंधे पर रख ली थी। आदर-सम्मान की यह पराकाष्ठा ही कही जायगी।

भूषण की कविता के कुछ नमूने यहाँ दिए जाते हैं—

जै जयंति जै आदि सकति जै कालि कपर्दिनि ।
जै मधुकैटभ छलनि देवि जै महिष बिमर्दिनि ॥
जै चमुंड जै चंडमुंड भंडासुर खंडिनि ।
जै सुरक्त जै रक्तबीज बिड्डाल बिहंडिनि ॥
जै जै निसुंभ सुंभद्दलनि भनि भूषन जै जै भननि ।
सरजा समत्थ सिवराज कहँ देहि विजय जय जय जननि ॥

——

मिलतहि कुरुख चकत्ता को निरखि कीन्हों
सरजा सुरेस ज्यों दुचित ब्रजराज को ।
भूषन कुमिस गैर मिसिल खरे किए को
किए म्लेच्छ मुरछित करि कै गराज को ॥
अरे ते गुसुलखाने बीच ऐसे उमराय
लै चले मनाय महराज सिवराज को ।
दावदार निरखि रिसानो दीह दलराय
जैसे गड़दार अड़दार गजराज को ॥

——

गढनेर गढ चाँदा भागनेर बीजापुर
नृपन की नारी रोय हाथन मलति हैं ।
करनाट हबस फिरंगहू बिलायत
बलख रूम अरितिय छतियाँ दलति हैं ॥
भूषन भनत साहि तनै सिवराज एते
मान तव धाक आगे दिसा उबलति हैं ।
तेरी चमू चलिबे की चरचा चले ते
चक्रवर्तिन की चतुरंग चमू बिचलति हैं ॥

——

बचैगा न समुहाने बहलोल खाँ अयाने
भूषन बखाने दिल आनि मेरा बरजा।
तुझ ते सवाई तेरा भाई सलहेरि पास
कैद किया साथ का न कोई बीर गरजा॥
साहिन के साहि उसी औरंग के लीन्हें गढ़
जिसका तू चाकर औ जिसकी है परजा।
साहि का ललन दिलीदल का दलन
अफजल का मलन सिवराज आया सरजा॥

——

महाराज सिवराज चढ़त तुरग पर
ग्रीवा जाति नै करि गनीम अति बल की।
भूषन चलत सरजा की सैन भूमि पर
छाती दरकति है खरी अखिल खल की॥
कियो दौरि घाव उमरावन अमीरन पै
कटि गई नाक सिगरेई दिली दल की।
सूरत जराई कियो दाहु पातसाहु उर
स्याही जाय सब पातसाहि मुख झलकी॥

——

सक्र जिमि सैल पर अर्क तम फैल पर
बिघन की रैल पर लंबोदर लेखिए।
राम दसकंध पर भीम जरासंध पर
भूषन ज्यों सिंधु पर कुंभज बिसेखिए॥
हर ज्यों अनंग पर गरुड़ भुजंग पर
कौरव के अंग पर पारथ ज्यों पेखिए।
बाज ज्यों बिहंग पर सिंह ज्यों मतंग पर
म्लेच्छ चतुरंग पर सिवराज देखिए॥

——

मऊ (बुँदेलखंड) निवासी गोरेलाल पुरोहित उपनाम लाल कवि का छत्रप्रकाश प्रबंधकाव्य के रूप में दोहा-चौपाइयों में रचा गया है। इसमें संवत् १७६४ के उपरांत की घटनाओं का उल्लेख नहीं है जिससे जान पड़ता है कि कवि की मृत्यु उसके आश्रयदाता छत्रसाल के जीवन-काल में ही हो गई थी। इस प्रकार पूरी जीवनगाथा न होते हुए भी वीर छत्रसाल का यह चरित बड़ा ही उत्तम हुआ है। लंबे प्रबंधों में संबंध-निवाह और अरोचकता निवारण आदि का जो ध्यान रखना आवश्यक होता है, इसमें उसका पूरा पूरा पालन हुआ है। रसपरिपाक में भी त्रुटि नहीं होने पाई है। वीर छत्रसाल महाराज शिवाजी को अपना नेता और पथ-प्रदर्शक मानते थे। कवि ने उनके इस संबंध की रक्षा करके अपनी सत्यप्रियता का परिचय तो दिया ही है, साथ ही उस राष्ट्रोत्थान में सहायता भी पहुँचाई है जिसका संचालन शिवाजी कर रहे थे। कवि की इस बात में बड़ी महत्ता है क्योंकि उसमें जातीय उन्नायकों के प्रति पूर्ण सहानुभूति है, और वैयक्तिक ऊँच नीच भाव को अलग रखने की दूरदर्शिता भी है। उस युग के किसी कवि में ऐसी तत्त्वग्राही प्रवृत्ति नहीं देख पड़ती है।

लाल

भूषण और लाल दोनों ही कवियों में हम यह एक सामान्य प्रवृत्ति देखते हैं कि वे क्लिष्ट कल्पनाओं और टेढ़ी बातों के फेर में न पड़कर सीधी और सरल भावव्यंजना करते हैं। उनका यह गुण उन्हें उस युग के प्रायः सभी अन्य कवियों से अलग एक ऊँची श्रेणी में ला बैठाता है। वास्तव में जो कवि जनता के हितैषी होते हैं और जिन्हें अपने युग का कुछ संदेश देना होता है वे कभी वाणी का इंद्रजाल नहीं रचते, प्रत्युत सरल से सरल शब्दों में अपना संदेश कह सुनाते हैं। रीतिकाल के कवियों की

तो यह एक प्रसिद्ध विशेषता थी कि वे अत्यंत मधुर भाषा में पुरानी पिष्टपेषित बातों को एक नए ढंग से कह डालते थे। उन्हें मौलिक बहुत कम कहना रहता था; अतः सीधी और स्वाभाविक उक्तियों से उनके कथन में विशेषता नहीं आ सकती थी। भूषण और लाल की रचनाएँ रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्ति के अपवाद-स्वरूप हैं। उनमें न तो भाषा की स्वच्छता पर और न काव्योत्कर्ष की वृद्धि करनेवाले अन्य कृत्रिम साधनों पर उतना ध्यान दिया गया है। इन दोनों कवियों ने बड़े ही सीधे किंतु प्रभावशाली ढंग से अपने अपने चरित्रनायकों की यशोगाथा लिखी और राष्ट्र को इस प्रकार संघटन और स्वतंत्रता का दिव्य संदेश सुनाकर वे अपने युग के और हिंदू जाति के प्रतिनिधि कवि हुए।

लाल कवि के छत्रप्रकाश का कुछ अंश उदाहरणार्थ यहाँ उद्धृत किया जाता है—

सूबा ह्वै सुभकरन सिधायौ। हित सौं पातसाह पहिरायौ॥
सँग बाइस उमराउ पठाए। लै मुहीम चंपति पै आए॥
जोरि फौज सुभकरन बुँदेला। ऐरछ पर कीन्हौ वगमेला॥
वाजत सुनै जूझ के डंका। उमड़ि चल्यौ चंपति रन बंका॥
माची मार दुहूँ दिस भारी। रचनहार कौं मुसकिल पारी॥
चले हाथ चंपति के ऐसे। छूटै बान धनंजय कैसे॥
उतकट भट बखतर धर मारे। कूटे हय गय पक्खर वारे॥
सूखे कढ़े रुधिर नहिं छींवै। लागत प्रान परन के पीवै॥
ठिल्यौ कटक सुभकरन कौ ठिल्यौ खवास अडोल।
रन उमग में उमड़ि कै नच्यौ तुरंग अमोल॥
तबहिं बान चंपति कौ छूट्यौ। हठुआ लग्यौ पुठी है फूट्यौ॥
गिरौ तुरंग खवास हँकार्‌यौ। सो कासिम खाँ बरछी मार्‌यौ॥

उगर साह तहँ मार मचाई। साहि गढै अति ओप चढाई ॥
चंपतिराइ बिजै तहँ लीनौ। मुँह मुरकाइ अरिन कौ दीनौ ॥
विकट कटक झकझोरि झुलायौ। छाँते उमड़ि धरौनी धायौ ॥
निकट रायगिरि ते तहँ आयौ। तहाँ खोज बंकादल छायौ ॥
जानि कटक उमराइ करेरौ। दीनौ राति उमंडि दरेरौ ॥
सुभट बान गोलिना सौं कूटे। अरि के विकट मोरचा छूटे ॥
पैठे उदभट कटक में, कपटे बिकट पठान।
घाइन घालत चाव सौं, करि चंपति की आन ॥

आधुनिक समय की वीर कविताएँ

भारत पर ब्रिटिश शासन के प्रतिष्ठित हो जाने पर अँगरेजी की पढ़ाई प्रारंभ हुई। इसके परिणाम-स्वरूप अँगरेजी शिक्षा प्राप्त एक दल तैयार हुआ और धीरे धीरे उसमें राष्ट्रीय उन्नति के भाव उदित हुए। राष्ट्रीय उन्नति की कल्पना सर्वतोमुखी थी। सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आदि प्रत्येक क्षेत्र में सुधार का आयोजन होने लगा। यद्यपि अन्य प्रांतों में भी शीघ्र ही राष्ट्रोन्नायकों का प्रादुर्भाव हुआ पर बंगाल के राजा राममोहन राय ने पथप्रदर्शक का काम किया। हिंदी-भाषा-भाषी प्रांतों में स्वामी दयानंद का कार्य सर्वथा प्रशंसनीय था। उनके अन्य विचारों से चाहे कोई सहमत हो या न हो, पर इतना तो मानना ही पड़ता है कि सुषुप्त देश को जगाने और गिरी हुई दशा पर ध्यान दिलाने का उनका प्रयत्न हमारे लिये कल्याणकर हुआ। स्वामी दयानंद अँगरेजी भाषा के विद्वान् नहीं थे; फिर भी उनमें देशोन्नति की उच्चाकांक्षा किसी अँगरेजी शिक्षाप्राप्त व्यक्ति से कम नहीं थी; और उनका उद्योग तो सर्वाधिक सफल हुआ। हिंदी कविता के क्षेत्र में देशोन्नति-संबंधी उत्साहवर्द्धक वीररसात्मक कविता का प्रारंभ स्वामी दयानंद के कुछ काल उपरांत हो गया था; पर वीररस का कोई प्रसिद्ध उल्लेख योग्य कवि नहीं

हुआ। इस काल में थोड़ी सी फुटकर रचनाओं में वीरता की अच्छी झलक देख पड़ती है; पर किसी कवि को एकमात्र वीररस की कविता करने का श्रेय नहीं दिया जा सकता। थोड़े समय पीछे महात्मा गांधी के देशव्यापी असहयोग आंदोलन का प्रारंभ हुआ और हिंदी को राष्ट्रभाषा कहलाने का गौरव प्राप्त हुआ। जब हिंदी राष्ट्रभाषा मानी गई, तब उसमें राष्ट्र के विचारों और आकांक्षाओं की छाप अवश्य मिलनी चाहिए। इधर थोड़े दिनों से हिंदी में वीर कविता भी प्रारंभ हुई है। ये कविताएँ या तो वर्तमान परिस्थिति में प्रोत्साहन के रूप में हैं, या प्राचीन वीरों की प्रशस्तियों के रूप में हैं। आधुनिक समय के वीर कविताकारों के संबंध में यह बात स्वीकार करनी पड़ती है कि उनमें से अधिकांश ऐसे हैं जो कविता लिखकर ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ बैठते हैं, वास्तविक कार्यक्षेत्र में साहसपूर्वक प्रवेश करने की प्रवृत्ति उनमें नहीं दिखाई पड़ती। आजकल ऐसे कवियों की एक अलग श्रेणी बन गई है, जिन्हें हम साहित्यिकों की श्रेणी कह सकते हैं और जिनका राष्ट्र की वर्तमान कार्य-प्रणाली से केवल मौखिक संबंध है। वीर कवियों के लिये यह बात वांछनीय नहीं। उनकी कविताओं का विशेष प्रचार न होने का यही कारण है। जनता के हृदय में तो वे ही स्थान पा सकते हैं जो उसके सुख-दुःख के साथी हों, उसकी स्थिति अपनी आँखों से देखते और समझते हों। कविता द्वारा प्रोत्साहन देना तभी सार्थक हो सकता है जब कार्यक्षेत्र में आकर वास्तविक प्रोत्साहन भी दिया जाय। यूरोप के आधुनिक राष्ट्रोन्नायकों में महात्मा टालसटाय ऐसे महापुरुष हो गए हैं जिनकी वाणी और उपदेश स्वयं उन्हीं के कार्यों में चरितार्थ होते थे। वे जो कुछ कहते थे वही करते भी थे। फलतः उनके देशनिवासियों ने उनकी कृतियों का सम्मान धार्मिक पुस्तकों का सा किया और वे

स्वयं सबकी दृष्टि में पूजनीय हुए। हमको इस समय ऐसे ही कवियों की आवश्यकता है। हिंदी में अभी ऐसे कवि नहीं हैं। वीर-कविताकारों में उल्लेख योग्य नाम माखनलालजी चतुर्वेदी, बालकृष्णजी शर्मा, गयाप्रसादजी शुक्ल, अनूप, वियोगी हरि, लाला भगवानदीन, माधव शुक्ल, सुभद्राकुमारी चौहान, रामधारी सिंह 'दिनकर', श्यामनारायण पांडेय आदि के हैं। लाला भगवानदीन का वीर-पंचरत्न और वियोगी हरि की वीर-सतसई इस प्रकार के काव्यों के उत्तम उदाहरण हैं। इस प्रकार की आधुनिक रचनाओं का थोड़ा-बहुत प्रभाव राष्ट्रीय जीवन पर पड़ा है, पर अभी इस क्षेत्र में विशेष उन्नति की आवश्यकता है।

———

पाँचवाँ अध्याय

योग-धारा

वीर काव्य के साथ ही साथ हमारे साहित्य के इतिहास में एक धारा और बहती रही जिसका पाट आध्यात्मिकता के जल से भरा था। विदेशियों के भीषण आक्रमणों से भी भारतीय योगियों की शांति भंग नहीं हुई। उनके यमनियम, आसन-प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि बिना किसी विघ्न-बाधा के चलते रहे। बाहरी दुनिया को छोड़कर ध्यानावस्थित होकर वे भीतरी दुनिया को देखते रहे। आत्मा की स्वतंत्रता के आगे देश की स्वतंत्रता का महत्त्व उनके मन में बैठ नहीं सकता था। आत्मा को परतंत्रता में डालने के बहुत से उपादान उस समय की स्थिति में विद्यमान थे। सांसारिक माया-मोह के बंधन से मुक्ति पाना स्वत: ही बहुत कठिन कार्य है, उस पर यदि स्वयं धर्म में उन उपायों को ग्रहण करना विधेय बताया जाय जो सामान्यत: माया-मोह के दृढ़ बंधन माने जाते हैं तो मुक्ति का प्रश्न उठ ही नहीं सकता। हिंदी के उस आरंभिक युग में भारतीय धार्मिक स्थिति वस्तुत: ऐसी ही थी। बुद्ध के कट्टर विरक्ति-विधायक नियमों के प्रत्यावर्तन में बौद्धों ने अश्लील बातों को धर्म में ग्रहण कर लिया। जिन बातों से बुद्ध भगवान् अपने गिने चुने विरक्त अनुयायियों को बचाए रखना चाहते थे, उन्हीं को उनके अनुयायी धर्म समझकर करने लगे थे। मंत्रयान के मार्ग से बौद्ध धर्म ने वह विरूप आकृति

धार्मिक लहर

वज्रयान

धारणा की जिसमें अकरणीय भी करणीय और निषिद्ध भी विधेय ठहराया गया। यम-नियमादि का उल्लंघन किया जाने लगा। हिंसा, असत्य-भाषण, मद्यपान, स्त्रियों से दुराचार, अध्यात्म-सिद्धि के लिये आवश्यक उपादान समझे जाने लगे थे (गुह्य समाज तंत्र, पृष्ठ १२०, गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज)। और तो और, साधन मार्ग में माता, सास, बहिन, पुत्री आदि भी वर्जनीय नहीं समझी जाती थीं। दुराचारी राजा इस धर्म के प्रसार में सहायक हुए। मनुष्य की निम्न प्रकृति को उभाड़नेवाला यह धर्म दावाग्नि की तरह फैला। पाप को पुराय का रूप देनेवाले इन 'सिद्धों' को जनसाधारण की नजर में सिद्ध बनने के लिये योग की साधारण सी प्रक्रियाओं का ही जान लेना काफी था। यह धर्म वज्र-यान कहलाया।

योगमार्ग

इस वज्रयानी 'सिद्धई' से जनता का उद्धार करना भारतीय आध्यात्मिक जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता थी। जान पड़ता है कि वज्रयान की प्रतिक्रिया स्वरूप एक ऐसे आंदोलन ने जन्म लिया जिसने योग-सिद्धि के लिये स्त्री को आवश्यक उपादान नहीं प्रत्युत परीक्षा का साधन बत-लाया। मछंदरनाथ योग की क्रियाओं में निपुणता प्राप्त कर अपनी 'सिद्धि' की पूर्णता के प्रदर्शन के उद्देश से सिंहल की पद्मिनी स्त्रियों के बीच गए पर पूरे न उतरे। अपने गुरु की शिक्षा का पूर्ण प्रदर्शन गोरखनाथ के द्वारा संभव हुआ। गोरखनाथ ही ने भोग-लिप्सा में पड़े हुए अपने गुरु को इस मायिक निद्रा से उठाकर अपनी योगशक्ति को उद्बुद्ध किया। "जाग मछंदर गोरख आया" एक बहुत प्रसिद्ध उक्ति है जो इसी घटना की ओर संकेत करती है। कैवल्य की प्राप्ति के उद्देश से साधना करनेवालों के लिये गोरख ने ऐसी जीवन-शैली का उपदेश दिया जिसमें योग की नेती, धोती,

आसन, बंध, मुद्रा इत्यादि के साथ साथ बिंदु-धारण का विशेष महत्त्व था। सामान्य जीवन-व्यवहार तथा रहन-सहन के लिये भी उन्होंने अपने अनुयायियों के लिये जो नियम बनाए उनमें विनम्रता और सौम्य तथा निष्काम भाव का विशेष महत्त्व रहता था। युक्तायुक्त विहार का गोरखनाथ को अत्यधिक ध्यान था। अध्यात्म-जगत् में असंयम और दुराचार के विरुद्ध उन्होंने जो घोर युद्ध छेड़ा वह उस भयंकर युद्ध से किसी दशा में कम नहीं था जो पश्चिमोत्तर प्रदेशों से बढ़कर आते हुए शत्रु-दलों को रोकने के लिये हिंदू नृपतियों को करना पड़ रहा था।

योगियों का यह संप्रदाय, जो महात्मा गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ से आरंभ होकर फैला, हठयोगियों का संप्रदाय कहलाता है। यह हठयोग यद्यपि प्राचीन शास्त्रों में प्रतिपादित योग-मार्ग से भिन्न नहीं है और मौलिक रूप से महात्मा पतंजलि के योग-शास्त्र के ही अंतर्गत है तथापि एक शाखा के रूप में इसका स्वतंत्र विकास भी सांप्रदायिक तथा ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टियों से स्वीकार किया गया है। इस हठयोग के प्रवर्तकों ने प्रारंभ से ही हिंदी भाषा के तत्कालीन रूप को अपने मार्ग के विकास के लिये प्रयुक्त किया और उनकी परंपरा में भी हिंदी भाषा का त्याग नहीं किया गया। इस कारण हठयोग हिंदी का आश्रय लेकर अपनी स्वतंत्र सत्ता और भी अधिक प्रतिष्ठित कर सका। योग-संबंधी अन्य संप्रदाय संस्कृत, पाली तथा प्राकृत आदि भाषाओं का आधार लेकर बढ़े परंतु हठयोग की अभिव्यक्ति हिंदी भाषा द्वारा ही हुई।

यह हठयोग क्या वस्तु है और अन्य योग-सिद्धान्तों से किस प्रकार भिन्न है इसका भी संक्षिप्त परिचय पाठकों को प्राप्त कर लेना चाहिए। हठयोग वास्तव में योग-संबंधी साधना का एक व्यावहारिक मार्ग है। योग का अर्थ यद्यपि भिन्न भिन्न विद्वान् अपनी अपनी

दृष्टि से करते हैं परंतु प्राय: सभी इस बात में सहमत हैं कि मनुष्य की सांसारिक सत्ता और तत्संबंधी द्वैत भाव का खो जाना तथा उसे खोकर परमात्म सत्ता या अद्वैत में युक्त हो जाना ही योग की व्यापक व्याख्या हो सकती है। जब तक मनुष्य संसार के कार्यों में लिप्त होकर जीवन का उच्च उद्देश नहीं समझता तब तक वह योगी नहीं कहा जा सकता। जब तक उसका मन और इंद्रियाँ उसके वश में नहीं हैं तब तक मनुष्य के कार्य योग-सम्मत नहीं हो सकते। इसलिये महात्मा पतंजलि ने अपने सुप्रसिद्ध योगशास्त्र के आरंभ में ही योग की व्याख्या करते हुए चित्त-वृत्ति के निरोध अर्थात् मन, बुद्धि अथवा इंद्रियों के संयमपूर्वक साधन को ही योग की संज्ञा दी है।

संसार की अनेकमुखी प्रवृत्तियों के अनुसार योग की भी अनेक शाखाओं का होना स्वाभाविक है परंतु उनके मूल में यह साम्य अथवा लक्ष्य अवश्य रहता है कि मनुष्य सांसारिक विकारों के बंधन से छूटकर निर्बंध हो जाय। जो मनुष्य प्रवृत्ति-प्रधान या कर्मी हैं उनके लिये कर्मयोग की व्यवस्था की गई है। संसार के कार्य करते हुए भी किस प्रकार उनसे अपनी आत्मा को स्वतंत्र रखा जाय और अंत में किस प्रकार कर्म-बंधन से विनिर्मुक्त होकर मनुष्य मोक्ष प्राप्त करे यह इस कर्मयोग में उपदिष्ट है। इसी प्रकार जो भावना-प्रधान व्यक्ति हैं उनके लिये भक्ति-योग की व्यवस्था की गई है। ऐसी ही अनेक योग-शाखाएँ भारतवर्ष में प्रचलित हुईं तथा फलीं-फूलीं। इन्हीं में एक हठयोग की शाखा भी है।

यह हठयोग एक प्रकार से योग-संबंधी निवृत्ति-प्रधान या संन्यास मार्ग है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, बौद्ध तांत्रिक मतों की बढ़ती हुई काम-प्रेरणा के विरुद्ध इसका आविर्भाव हुआ।

अतः प्रतिक्रिया-स्वरूप इसका निवृत्ति-प्रधान होना स्वाभाविक ही था। यह योगमार्ग ब्रह्मचर्य या बिंदुरक्षा का उत्कट उपदेश देता है और स्त्री-संसर्ग को दूषित ठहराता है। योग की प्रक्रियाओं में हठयोगी जिन यम-नियम, प्राणायाम-प्रत्याहार आदि का उपदेश करते हैं उनमें स्त्री-संग-त्याग का प्राधान्य है। एक प्रकार से उन्होंने काम-लिप्सा के आत्यंतिक त्याग को ही अपने योग की कसौटी स्वीकार किया है। महात्मा गोरखनाथ के गुरु मत्स्येंद्रनाथ पूरे सिद्ध होते हुए भी सिंहल की कामिनियों से अपने योग की रक्षा न कर सके थे। यह उनकी त्रुटि कही गई है।

परंतु नाथ-पंथ या हठयोगियों के कतिपय सांप्रदायिक ग्रंथों और वाणियों के निरीक्षण से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि उनकी निवृत्ति-मूलक साधना बहुत कुछ परिस्थितियों का ही परिणाम थी, एकांत मत न था। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि नाथमतावलंबियों ने सांसारिक योग-क्षेम का तिरस्कार नहीं किया वरन् अत्यधिक शारीरिक आयास या कष्ट-सहन को वे योग-मार्ग में अनावश्यक समझते थे। इस दृष्टि से हम उन्हें आत्यंतिक प्रवृत्ति और निवृत्ति के मध्य-मार्ग का अवलंबन करने-वाले मान सकते हैं। तथापि परिस्थितिवश उन्होंने निवृत्ति का अधिक उपदेश किया।

यद्यपि योग व्यक्तिगत साधना का मार्ग कहा गया है परंतु उसका यह अर्थ नहीं है कि संसार के कार्यों से अलग होकर वनों में जा रहना ही सच्चा या एकमात्र योग है। योग वास्तव में व्यक्तिगत साधना उसी अर्थ में है जिस अर्थ में सभी विद्याओं की साधना व्यक्तिगत होती है। अन्य सांसारिक विद्याओं की साधना और योग की साधना में अंतर यह है कि सांसारिक विद्याएँ अपना लक्ष्य संसार को ही मानती हैं परंतु योग-विद्या

अपना लक्ष्य संसार से पृथक्, परमात्मा या अलौकिक सत्ता को मानती है। उस अलौकिक सत्ता की प्राप्ति के अनेक उपाय भारतीय शास्त्रों में कहे गए हैं। वे सभी योग के अंतर्गत हैं। उन्हीं में एक हठयोग भी है।

हठयोग का अर्थ आग्रहपूर्वक अथवा अविचलित भाव से योगमार्ग की साधना करना है। जिस विशेष प्रकार की योग-साधना का आग्रह हठयोगियों ने किया वही उस संप्रदाय की विशेषता स्वीकार की जा सकती है। चित्त को एकाग्र करना, विशिष्ट यम-नियमों का पालन करना, स्थिर आसन की साधना करना, ये अत्यंत व्यापक शास्त्रीय प्रवचन हैं जो सभी योगों के लिये अनिवार्य हैं। हमें देखना यह चाहिए कि किस संप्रदाय ने किन आचरणों को अपने यहाँ प्रधानता दी है।

अत्यंत विपरीत प्रकार के आचरण भी भिन्न भिन्न योग-संप्रदायों में पाए जाते हैं और वे उन संप्रदायों से समर्थित भी हुए हैं। एक प्रकार से समस्त साधना अथवा संसार के सभी क्रिया-कलाप, जिनका लक्ष्य सांसारिक द्विविधाओं के ऊपर उठने का है, योग कहे जा सकते हैं; परंतु उनका स्वरूप, उनकी प्रवृत्तियाँ आदि जानकर ही हम उनके संबंध में अपना मत निरूपित कर सकते हैं।

गुरु गोरखनाथ का यह हठ-वादी योग-संप्रदाय कबीर आदि परवर्ती साधकों के मार्ग से भिन्न है। इस योगाश्रयी शाखा तथा कबीर की ज्ञानाश्रयी शाखा में सबसे प्रधान अंतर यह है कि योग-मार्ग उपाय या आचरण या जीवन की साधना का मार्ग है जो उन साधनाओं को पार करता हुआ अलौकिक सत्ता की ओर ले जाता है परंतु ज्ञान-मार्ग योग की चरम-कोटि पर पहुँचकर ही प्रतिष्ठित होता है। जब योगी अपनी साधना के परिणाम-स्वरूप ज्ञान प्राप्त कर लेता है तब

योग-मार्ग और निर्गुण-मार्ग में भेद

योग की क्रिया छूट जाती है। कबीर ने स्थान स्थान पर योग या साधना की प्रशंसा की है परंतु जहाँ वे ज्ञानी की दृष्टि से देखते हैं वहाँ योग की निंदा भी करते हैं। इस योग की निंदा से उनके दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो मिथ्या योगियों की प्रवंचना से जनता को सावधान करना और दूसरे तात्त्विक रूप से भी योग या क्रिया मात्र का मायिक रूप सिद्ध करना। यद्यपि कबीर स्वयं अपने को योगी समझते थे तथापि ज्ञान के उच्च स्तर से वे योग की विगर्हणा भी करते थे।

यह तो हुई ज्ञानी कबीर की बात। योग या साधना के मार्ग में भी उनकी प्रणाली हठयोगियों से भिन्न थी। कबीर की साधना में प्रेम और भक्ति की प्रधानता थी। यद्यपि योग और भक्ति, दोनों ही मार्ग पूर्णत: भारतीय हैं और दोनों ही का लक्ष्य परमात्म सत्ता के साथ योग है, तथापि कबीर का जितना अधिक संसर्ग वैष्णव संप्रदाय तथा भक्ति की आवेगपूर्ण धारा से था उतना इन साधुओं का नहीं था। वैष्णव मत का यह भक्ति-प्रवाह अपने साथ सरल और सात्त्विक जीवन के तथ्यों को लेकर तो आया ही था, साथ ही वह सांख्य और वेदांत शास्त्रों की दार्शनिक दिव्यता भी दिखा रहा था। इससे भी कबीर ने यथेष्ट लाभ उठाया और अपने उद्गारों को अधिक दार्शनिक तथा व्यापक स्वरूप देने में वे समर्थ हुए। गोरखनाथ आदि का योग-संप्रदाय इस व्यापक क्षेत्र में न बढ़ सका। इसलिये इन योग-मार्गियों की चर्चा इस पुस्तक के एक स्वतंत्र प्रकरण में करना अनुचित न होगा, तथापि कबीर के 'निर्गुण' मत की इस नाथसप्रदाय के योग-मार्ग से एकदम भिन्नता ही नहीं है, जैसा कि हम आगे देखेंगे, दोनों में पारस्परिक सामंजस्य भी है। दोनों ही संसार-त्यागी संन्यास-मार्ग की साधना की शिक्षा देते हैं। अहिंसा और स्वच्छाचरण का पाठ दोनों ही

पढ़ाते हैं। योगांगों के निरूपण में गोरखनाथ प्रभृति हठयोगी प्राणायाम की पद्धति को प्रमुख स्थान देते हैं। शास्त्रों के श्रवण-कीर्तन के द्वारा प्राप्त होनेवाले वैराग्य का अधिक उल्लेख नहीं करते। इससे स्पष्ट है कि इस हठयोगी नाथ-संप्रदाय के अनुयायी शास्त्रज्ञ और पंडित न होकर साधक ही अधिक हुए। जड़ी-बूटी और मंत्रों का भी अभ्यास इसमें किया गया है परंतु एक ओर जहाँ रस या ओषधि को ही मुक्ति का हेतु माननेवाले 'रसेश्वर-संप्रदाय' से यह हठयोग भिन्न है वहाँ संसार के व्यापक और सार्व-जनीन जीवन से निवृत्ति पाकर तटस्थ हो जाने से भी यह कुछ दूर ही रहा। इस दृष्टि से भी हठयोग मध्यमार्ग ही ठहरता है। कबीर के संप्रदाय में जड़ी-बूटी और मंत्र-तंत्र का प्रवेश उनके जीवन-काल में संभवतः नहीं हुआ था, यद्यपि पीछे से कुछ ग्रहण अवश्य किया गया।

गुरु गोरखनाथ ने हिंदी के ही द्वारा अपने योग-मार्ग के प्रसार का अनुष्ठान किया। उनके दिल की मस्ती सीधे गानों के रूप में व्यक्त हुई जिनमें कैवल्यानुभूति के आनंदोद्रेक के साथ साथ उन उपायों तथा क्रियाओं की भी महिमा गाई जिनके द्वारा उसकी प्राप्ति संभव हुई थी।

गोरखनाथ अपने ढंग के एक ही कवि नहीं हुए हैं। उनके साथ हिंदी साहित्य की एक धारा-विशेष का जन्म होता है जो लगातार शताब्दियों तक चलती चली और संभवतः अब भी रुकी नहीं है। इस धारा का पूर्ण दर्शन कराने का श्रेय मेरे शिष्य डा० पीतांबरदत्त बड़थ्वाल* को

योग-धारा

* यह अत्यंत शोक का विषय है कि डाक्टर बड़थ्वाल का देहावसान २४ जुलाई १६४४ को हो गया और हिन्दी को एक उत्कृष्ट साहित्यिक को हमने सदा के लिये खो दिया।

है जो गोरखनाथ का समय विक्रम के ग्यारहवें शतक में मानते हैं। श्री राहुल सांकृत्यायन तथा श्री काशीप्रसाद जायसवाल का मत है कि योग की यह धारा हिंदी-काव्यक्षेत्र में गोरखनाथ के काल के पहले ही से बहती चली आ रही है। वे सरह-पा अर्थात् सरोज वज्र से इस धारा का आरंभ मानते हैं जिनका समय विक्रमाब्द ६९० के आसपास माना जाता है। परंतु मैं समझता हूँ कि ऐसा करने से वे हिंदी के क्षेत्र को छोड़कर अपभ्रंश के क्षेत्र में प्रवेश करेंगे। उनकी रचनाओं में से चुन चुनकर जैसे उदाहरण दिए गए हैं वैसे अंश उनकी कविताओं में अधिक नहीं हैं, इसमें संदेह नहीं है कि हिंदी के वर्तमान रूपों का बनना उस समय आरंभ हो गया था, परंतु इतने ही के आधार पर हम उनकी रचनाओं को हिंदी की नहीं मान सकते। यदि अपभ्रंश और हिंदी में भेद ही न मानें तो बात दूसरी है। परंतु भाषा-विकास के इतिहास में अलग अलग अवस्थाओं के अलग अलग नामकरण हुए हैं जिनकी मर्यादा की रक्षा, विचारों के सौकर्य तथा स्पष्टता के लिये आवश्यक है। अतएव गोरखनाथ ही से हम हिंदी की योग-धारा का आरंभ मानने को बाध्य हैं।

नागरी-प्रचारिणी सभा की रिपोर्ट में उस समय तक प्राप्त तथ्यों के आधार पर गोरखनाथ का समय विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी माना गया है। डाक्टर शहीदुल्ला उनका समय आठवीं शताब्दी मानते हैं और डाक्टर फर्कुहर बारहवीं शताब्दी। परंतु उपलब्ध प्रमाणों को देखते हुए उनका समय ग्यारहवीं शताब्दी का मध्य भाग मानना उचित जान पड़ता है। गोरखनाथ ऐसे समय में हुए थे जब कि शंकराचार्य का अद्वैतमत बहुत कुछ प्रचार पा चुका था। शंकराचार्य का समय ८४५ से ९४७ तक माना जाता है। अतएव गोरखनाथ को उनसे सौ डेढ़ सौ वर्ष

पीछे का मानना अनुचित नहीं। गोरखनाथ के उपलब्ध ग्रंथों की भाषा भी इसी मत की पुष्टि करती है। वह न इतनी अर्वाचीन है कि पंद्रहवीं शताब्दी में रखी जा सके और न इतनी प्राचीन कि आठवीं शताब्दी में पहुँच जाय।

मछंदर और गोरख

गोरखनाथ के गुरु मछंदरनाथ ने भी हिंदी में कविता की या नहीं इसका कुछ पता नहीं। एक पद इनके नाम का मिलता अवश्य है, पर उसकी भाषा आदि से यह इनकी रचना नहीं मालूम होती। बाद में किसी ने उनके नाम से उसे बनाया होगा, या संभव है कोई दूसरे मछींद्रनाथ रहे हों। उस पद को हम यहाँ उद्धृत कर देते हैं—

पंखेरू उड़ि आइ लियौ बिसराम।
ज्यूं ज्यूं नर स्वारथ करै वाकौ सरै न एकौ काम॥
स्वारथ कौ यौ जीवड़ौ स्वारथ छाँड़ै नाहिं।
जब गोविंद कृपा करै, तब मनवौ समझै माहिं॥
जल कूं चाहै माछली घन कूं चाहै मोर।
यूं हरिजन चाहै राम कूं चितवत चंद चकोर॥
जोगी सोई जाणिए जुग सूं रहै उदास।
तत निरंजन पाईया जन भणै मछिंदरनाथ॥

मछंदरनाथ आसाम के रहनेवाले मछुए थे। मछली मारकर अपना निर्वाह करते थे। अभ्यास से ये बड़े प्रसिद्ध योगी हुए और गोरखनाथ सदृश शिष्य को पाकर यश के भागी भी हुए। 'मछंदर गोरखबोध' नाम के एक ग्रंथ में मछंदर और गोरखनाथ का संवाद दिया हुआ है। गोरखनाथ प्रश्न करते हैं और मछंदर उसका उत्तर देते हुए योग का उपदेश देते हैं। यह ग्रंथ भी मछंदर का न होकर गोरखनाथ का बतलाया जाता है। मीननाथ के नाम से संस्कृत के कुछ ग्रंथों का उल्लेख 'केटेलोगस केटेले-

गोरस' में किया गया है; परंतु ये भी मछंदरनाथ के हैं या नहीं, नहीं कहा जा सकता। क्योंकि जहाँ कुछ लोग मीननाथ और मछंदरनाथ को एक मानते हैं, वहाँ कुछ ऐसे भी हैं जो उन्हें अलग अलग मानते हैं और उनके बीच में भाई भाई अथवा पिता-पुत्र का संबंध स्थापित करते हैं। मछंदरनाथ नैपाल में अधिदेवता के रूप में पूजे जाते हैं। स्वयं गोरखनाथ ने हिंदी में कई ग्रंथों की रचना की। सबदी पद, अभैमात्रा जोग, संख्या प्रदर्शन, प्राण संकली, आत्मबोध, मछींद्र गोरखबोध, जाती भौरांवली, गोरख-गणेश संवाद, गोरखदत्त-संवाद, सिद्धांत जोग, ज्ञानतिलक, कंथड़-बोध उनके ग्रंथ माने जाते हैं जिनमें कुछ तो—गोरख-गणेश-संवाद, गोरखदत्त-संवाद तथा कंथड़बोध—स्पष्ट ही उनके नहीं जान पड़ते।

गोरखनाथ की रचनाओं में ससिहर, महियल, पयाल, अजराबर आदि शब्द उनकी प्राचीनता के द्योतक हैं। इनकी भाषा में कई प्रांतों का प्रभाव दिखलाई पड़ता है। 'पायल नी डीबी सुन्न चढ़ाई' में 'नी' गुजराती का है। 'सर्वे कमाई खोई गुरु बाघनी चै बोलै' में 'चै' मराठी का है। इसके अतिरिक्त राजस्थानीपन उसमें सर्वत्र दिखलाई देता है। 'पवन गोटिका रहणि अकास' की 'रहणि' में का 'ण' उसी का द्योतक है। बोलिबा, चलिबा, रहिबा, करिबा राजस्थानीपन और प्राचीनता दोनों के द्योतक हैं—

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा धीरे धरिबा पावँ।
गरब न करिबा, सहजैं रहिबा, भणत गोरख रावँ॥

इसका कारण यह जान पड़ता है कि योगियों को नित्य भ्रमण करना पड़ता था। वे स्नेह-बंधन के डर से अधिक समय तक एक स्थान पर नहीं रहा करते थे। उन्हें प्रांत प्रांत में घूमना पड़ता था,

जिसके फलस्वरूप अन्य प्रांतों की भाषा का भी उनकी रचनाओं में अपने आप मिश्रण हो गया। हिंदी उस समय की सामान्य भाषा हो रही थी और अन्य प्रांतों में भी उसका प्रचार था, अतः उस पर इस प्रकार का प्रांतीय प्रभाव सर्वथा स्वाभाविक था। यह भी संभव है कि यह प्रभाव गोरखनाथ के अनुयायी अन्य प्रांत के लेखकों की करतूत हो।

गोरखनाथ की रचनाओं से कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं--

गोरखबोध--

गोरख उवाच—

स्वामी जी कूंण देखिबा कूंण बिचारिबा कूंण ले धरिबा सारं।
कूंण देखि मस्तग मुंडायबा कूंण ग्यान ले उतरिबा पारं॥

श्री मछिंद्र उवाच—

अवधू आपा देखिबा अनंत बिचारिबा तत ले धरिबा सारं।
गुरु का सबद ले मस्तग मुंडायबा ब्रह्मग्यान ले उतरिबा पारं॥

अभै मात्रा जोग—

ओं अकल पंथ अकलिका मारग। सति भोमि सहज आसण। प्राननाथ जोगी पवन गोटिका। निज भवन गुफाँ सहज संजम कोपीन। मरजादा मेषली निहकेवल जो गोटा। जुगति उडाँणी सील कंथा। छिमां टोपी जरणां आधारी। अंतरि गति झोली सांच मुद्रा।...सार मात्रा ततसार अलष निरंजन निराकार। कथंतं श्री गोरखनाथ जोगी सति सति भाषंत बाबा मछिद्रप्रसादे॥

पद—

हूं तोहिं पूछूं पांड्या देव कूंण ठांई रे।
निजतत निहारतां अम्हे तुम्हे नाहीं रे॥ टेक॥
पाषाण का देहुरा पाषाण का देव रे,
पाषाण कूं पूजि पूजि कीटीला सनेह रे।

सरजीव तोड़ीला निरजीव पूजीला पाप की करणी पार कैसे उतरीला ॥
तीरथि तीरथि जाईला अस्नान करीला बाहरि कै धोयैं भीतरि कैसैं भेदीला ॥
आदिनाथ नाती मछींद्रनाथ पूता, निज तत निहारै गोरष अवधूता ॥

गोरखनाथ के ही समय में जालंधरनाथ, कणेरीपाव, चौरंगीनाथ तथा सिद्ध घोड़ाचोली आदिकों ने भी योग-काव्य की रचना की। चौरंगीनाथ और घोड़ाचोली गोरखनाथ के गुरुभाई थे। जालंधरनाथ मछंदरनाथ का गुरुभाई और कणेरी जालंधर का शिष्य था। भोटिया परंपराओं में जालंधरनाथ को आदिनाथ की उपाधि दी गई है और वे गोरखनाथ के गुरु मछंदरनाथ के गुरुभाई माने गए हैं। कहते हैं कि तंजूर में इनके मगही भाषा के सात ग्रंथ मिले हैं।

जालंधर, कणेरी आदि

इनकी रचना का उदाहरण—

थोड़ो खाइ तो कलपै झलपै घणो खाइ तो रोगी।
दहूँ पखा की संधि विचारै ते को बिरला जोगी ॥

घोड़ाचोली—

रावल ने जे चालै राह। उलटि लहरि समावै माँह।
पंचतत्व का जाणै भेव। ते तो रावल परतिख देव ॥

चौरंगीनाथ—

मारिबा तौ मन मारिबा लूटिबा पवन भडारं।
साधबा तो पंचतत साधबा निरंजन निराकारं ॥
माली लौ भल माली लौ सींचै सहज कियारी।
उनमनि कियारी एक पहूप न पाईले आवागमन निवारी ॥

कणेरी का असली नाम आर्यदेव था। ये बिहार के रहनेवाले थे। भिक्षु होने के बाद कुछ समय तक नालंदा में भी रहे थे। ये नागार्जुन के शिष्य थे। हो सकता है कि मछंदरनाथ से भी इन्होंने

उपदेश ग्रहण किया हो। इनकी एक कविता में ये गोरखनाथ की भाँति 'आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता' कहे गए हैं। आजकल के सँपेरे इन्हीं की शिष्य-परंपरा में बतलाए जाते हैं।

समरह लहरयां पार पाइए मनवानी लहरयां पार न पाइए रे लो।
आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता जती कणेरी हम बोल्या रे लो॥

इन लोगों की कविता के संबंध में भी वही बातें कही जा सकती हैं जो गोरखनाथ की कविता के संबंध में ऊपर कही गई हैं। अन्य प्रांतीय भाषाओं के प्रयोग इत्यादि इनमें भी पाए जाते हैं।

चर्पट

चरपटनाथ—मराठी परंपराओं में चरपटनाथ गोरखनाथ के शिष्य (?) गहनीनाथ (१२८०—१३३०) के समकालीन तथा गुरुभाई माने गए हैं। गोरख-शतक में वे मछंदरनाथ के शिष्य (१०५०) बतलाए गए हैं, और भोटिया परंपराओं में मछंदरनाथ के पिता मीननाथ के गुरु और पाल राजा देवपाल (८६६—९०६ वि०) से पहले के। इनकी कविता की भाषा से इनको गहनीनाथ का समकालीन मानना ही उचित प्रतीत होता है। भोटिया परंपरा में ये चंपादेश के निवासी कहार माने गए हैं। परंतु भारतीय संत परंपरा में ये जाति के चारण कहे गए हैं—

चारणी मधे उतपनो चरपटनाथो महामुनी।
उतिम जोग धारणं तस्मात् किं ज्ञातिकारणम्॥

इनकी कविता संस्कृत चर्पटमंजरी की ही तरह प्रांजल तथा मोहक है। पता नहीं कि उसके भी रचयिता यही हैं कि नहीं। जो लोग योग को भोग का आवरणमात्र बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं तथा मौज के लिये योग धारण करते हैं उनको इन्होंने आड़े हाथों लिया है। योग को ये पूर्ण संन्यास व्रत मानते हैं।

चर्पटनाथ की सबदी—

कर परि भिछ्या वृष तलि बास। कामनि अंग न मेलै पास ॥
बनषंड रहै मसाणां भूत। चर्पट बोलै ते अवधूत ॥
रूंष वृष गिर कंदलि बास। दोइ जन अंग न मेलै पास।
पलटै काया षंडै रोग। चर्पट बोलै ते धनि जोग ॥

चुणकरनाथ भी चरपट के ही समकालीन जान पड़ते हैं। उन्होंने योग-मार्ग में सिद्धि प्राप्त करने के साधन-स्वरूप प्राण-वायु की बड़ी महिमा गाई है।

बालानाथ और देवलनाथ की भी थोड़ी सी फुटकर रचनाएँ मिलती हैं। इन्होंने योग मार्ग में से पाखंड के निष्कासन का बड़ा प्रयत्न किया। इसी बात पर इन्होंने अपनी वाणी में जोर दिया है। वार्धक्य में इंद्रियों के थक जाने पर योग धारण करनेवालों की ये हँसी उड़ाते थे। ये दोनों भी तेरहवीं अथवा चौदहवीं शताब्दी के मालूम होते हैं। सोलहवीं शताब्दी में जायसी ने बालानाथ के टीले का उल्लेख किया है।

बालानाथ

बालानाथ—

पहिली कीए लड़का लड़की अब ही पंथ में पैठा ॥
बूढ़ै चमड़े भसम लगाई वज्रजती ह्वै बैठा ॥

देवलनाथ—

देवल भएं दिसंतरी, सब जग देख्या जोइ।
नादी बेदी बहु मिलैं, भेदी मिलैं न कोइ ॥

सिद्ध धूँधली और गरीबनाथ—इन गुरु-चेले का उल्लेख नैणसी ने लाखड़ी में घोघाओं के राज्य के नष्ट होने पर जाड़ेचा भीम के राज्य की स्थापना के संबंध में किया है। घोघा करन की मृत्यु का कारण गरीबनाथ का शाप बताया गया है, जो धीणोद में आश्रम बनाकर रहता था। जाड़ेचा

धूँधलीमल

भीम की विजय का कारण धूँधलीमल का आशीर्वाद कहा जाता है। भीम का १४४२ वि० में वर्तमान होना निश्चित है। इसी के आसपास इन दोनों गुरु-शिष्य का भी समय होना चाहिए।

धूँधलीमल—

आइस जे आवौ बाबा आवत जात बहुत जुग बीता कछू न चढ़ीया हाथं।
अब का आवण सूफल फलीया पाया निरंजन सीधा का साथं॥
बाबा जे जाया ते जाइ रहैगा ताकी कैसी आसा।
बिछरयाँ पाछै बहोरि न मिलवा को जानै कित बासा॥
बाबा बैठा उठी उठा बैठी बैठि ऊठि जग देखा।
घरि घरि भिष्या माँगै अमी महारस मीठा॥

गरीबनाथ—

काया नगरी बसै मन रावल। अह निसि सीझै निरमल चावल॥
चावल सीझ्या पकाई डीब। सत-भाषंत सिद्ध गरीब॥

पृथ्वीनाथ—पृथ्वीनाथजी उन योगियों में सबसे अंतिम हैं जिनकी वाणी प्रसिद्ध है। इन्होंने कबीर के उपदेशों पर चलने का उपदेश दिया है। इससे स्पष्ट है कि ये कबीर के पीछे हुए थे।

पृथ्वीनाथ

कबीर का समय सोलहवीं शताब्दी है। अतएव पृथ्वीनाथजी का समय यदि सत्रहवीं शताब्दी मानें तो अनुचित न होगा। साध-प्रकास जोग नाम का एक ग्रंथ इनका बताया जाता है। साधुओं की इन्होंने खूब महिमा गाई है और योग की रहनि पर अच्छा प्रकाश डाला है।

इनकी रचना का उदाहरण—

हंस चढ्या साहर तिरूं, सिंह चढ्या बन मांहि।
हस्ती पाषर मेलि कै, मन सूं झूझै नांहि॥

सोऊं तौ हाथि न आवई, जागूं तौ भागा जाइ ।
मन ही सेती झूझणा, बाघ हुआ जग खाइ ॥

पृथ्वीनाथजी के बाद योग-काव्य की रचना बंद हो गई हो, सो बात नहीं। परंतु हिंदी के आध्यात्मिक साहित्य-क्षेत्र में उसकी वह प्रधानता न रही जो उस समय तक थी। पृथ्वीनाथजी के पहले ही कबीर ने आध्यात्मिक साहित्य की धारा को एक नया वेग तथा रूप दे डाला था। यही नवीन रूप हिंदी साहित्य-जगत् में निर्गुण काव्य के नाम से प्रसिद्ध है। इन दोनों धाराओं में जो अंतर है वह हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं। योग की अनेक बातें निर्गुण काव्य में आ गई हैं। किंतु इसके साथ साथ वैष्णव संप्रदाय तथा सूफी विचार-प्रणाली से भी उसमें कुछ ग्रहण किया गया है। जिन लोगों का यह विचार है कि कबीर आदि संतों ने योग से घृणा दिखलाई है और उसका बहिष्कार किया है, उन्होंने संत-विचार-धारा का अच्छी तरह अध्ययन नहीं किया है। कबीर-पंथ में स्वीकृत वे जनश्रुतियाँ, जिनके अनुसार कबीर और गोरखनाथ के बीच शास्त्रार्थ हुआ था जिसमें गोरखनाथ की हार हुई थी, न ऐतिहासिक दृष्टि से सही हैं न तात्त्विक दृष्टि से। उनकी गढ़ंत सांप्रदायिक दंभ के कारण हुई जान पड़ती है। कबीर की निर्गुण शाखा वास्तव में योग का ही परिवर्त्तित रूप है जो सूफी, इस्लामी तथा वैष्णव मतों से भी प्रभावित हुई थी। कबीर ने वास्तव में योग का खंडन नहीं किया है।

छठा अध्याय

भक्तिकाल की ज्ञानाश्रयी शाखा

मध्यकालीन धार्मिक उत्थान के संबंध में लिखते हुए हम उस समय की राजनीतिक, सामाजिक आदि स्थितियों का पहले उल्लेख कर चुके हैं, और यह भी बतला चुके हैं कि शंकर स्वामी के अद्वैतवाद को इने गिने चिंतनशील महात्माओं के ही उपयुक्त मानकर स्वामी रामानुज ने लोकोपयोगी भक्ति का आविर्भाव किया था। साथ ही हम यह भी दिखला चुके हैं कि शंकराचार्य के अद्वैत मत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत मत में कोई तात्त्विक अंतर नहीं है। रामानुज के उपरांत भक्ति का एक व्यापक आंदोलन उठ खड़ा हुआ जिसके मुख्य उन्नायकों में मध्वाचार्य, निंबार्काचार्य, चैतन्य, रामानंद, वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ जैसे महात्मा हुए। इनके स्निग्ध सरस हृदय का अवलंबन पाकर भक्ति की एक प्रखर और पवित्र धारा बह चली। भक्ति की इस धारा में अनेक उपास्य देवों और उपासनाभेदों के रूप में अनेक स्रोतों का प्रादुर्भाव हुआ, परंतु मूल धारा में कुछ भी अंतर न पड़ा, वह एकरस बहती रही। विष्णु, गोपाल, कृष्ण, हरि, राम, बालकृष्ण आदि विभिन्न उपास्य देवों के सम्मिलित प्रभाव से भक्ति अधिकाधिक शक्तिसम्पन्न होती गई, साथ ही जनता का विशेष मनोरंजन और दुःख-निवारण भी होता गया। इन अनेक भक्तिसंप्रदायों का हमारे साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा, और वीरगाथा काल की एकांगिता दूर होकर हिंदी में एक प्रकार की व्यापकता और आध्यात्मिकता का समावेश

भक्ति-प्रवाह

हुआ। मध्य युग का हिंदी साहित्य हिंदी के इतिहास में तो उत्कृष्टता की दृष्टि से अतुलनीय है ही, उसकी तुलना संसार के अन्य समृद्ध साहित्यों से भी भली भाँति की जा सकती है। हिंदी के इस उत्कर्षवर्द्धन में तत्कालीन भक्ति-अभ्युत्थान ने विशेष सहायता पहुँचाई थी।

तत्कालीन भक्ति-आंदोलन के साथ हिंदी साहित्य का संबंध ढूँढ़ लेना विशेष कठिन नहीं है। सार्वजनिक कल्याण मार्ग के प्रवर्तक महात्मागण प्राचीन काल से ही अपनी अमृत वाणी का प्रचार लोक-प्रचलित भाषा में ही करते आ रहे थे। बुद्धजी ने छंदस् की भाषा को छोड़कर लोकवाणी का आदर किया था। सिद्धों और नाथों ने भी अपनी रचनाएँ सर्वसाधारण की प्रचलित भाषा में की थीं। वैष्णव धर्म जनता का धर्म था, अतः वह लोकवाणी का तिरस्कार कैसे कर सकता था? हिंदी उस समय जनता-जनार्दन की सामान्य भाषा थी, इसलिये वैष्णव भक्ति का अमर संदेश वहन करने का श्रेय उसी को प्राप्त हुआ। आरंभ में तो वैष्णव धर्म उतना व्यापक न था। रामानुज और मध्वाचार्य का प्रचार क्षेत्र अधिकतर दक्षिण में ही था, और उन्होंने संस्कृत भाषा में ही अपने उपदेश दिए थे, अतः हिंदी साहित्य पर उनका कोई स्पष्ट और प्रत्यक्ष प्रभाव नहीं देख पड़ता। महात्मा नामदेव ने देशभाषा का आश्रय लिया था परंतु वे महाराष्ट्र प्रांत के निवासी थे, इसलिये हिंदी में उनकी बहुत थोड़ी वाणी मिलती है। हिंदी में वैष्णव साहित्य के प्रथम कवि प्रसिद्ध मैथिल कोकिल विद्यापति हुए जिनकी रचनाएँ उत्कृष्ट कोटि की हुईं। परंतु जब महात्मा रामानंद ने भक्ति को लोकव्यापक बनाकर और जाति-पाँति का भेद मिटाकर जनता की भाषा में अपने उपदेश दिए, तब हिंदी साहित्य की श्रीवृद्धि का विशेष अवसर प्राप्त हुआ और बड़े बड़े

महाकवियों के आविर्भाव से उसका उत्कर्ष साधन हुआ। महात्मा रामानंद की शिष्य-परंपरा में एक ओर तो कबीर हुए, जिन्होंने अपने भक्ति-रसपूर्ण वचनों एवं उपदेशों द्वारा हिंदी को अमरत्व प्रदान किया, और दूसरी ओर कुछ दिनों बाद महात्मा तुलसीदास हुए जिनकी दिव्य वाणी का हिंदी को सबसे अधिक गर्व है। इसी समय भारतीय अद्वैतवाद तथा सूफी प्रेमवाद के सम्मिश्रण से हिंदी में कुतुबन, जायसी आदि प्रेमगाथाकारों का भी आविर्भाव हुआ जिनकी रचनाओं से हिंदी साहित्य को कम लाभ नहीं पहुँचा। महात्मा वल्लभाचार्य और उनके पुत्र विट्ठलनाथ की प्रेरणा से सूरदास आदि कृष्ण-भक्त कवियों का आविर्भाव भी इसी काल में हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ओर तो कबीर आदि संत कवियों की परंपरा चली और दूसरी ओर महात्मा तुलसीदास की राम-भक्ति का मार्ग प्रशस्त हुआ। साथ ही जायसी आदि की प्रेमगाथाएँ भी रची गईं और महाकवि सूरदास जैसे कृष्ण-भक्त कवियों का संप्रदाय भी चला। यद्यपि इस अध्याय में हम कबीर आदि संत कवियों की निर्गुण भक्तिपरंपरा का ही विवेचन करेंगे, पर इसके पहले हम संक्षेप में हिंदी के भक्तियुग के मुख्य मुख्य कवि-संप्रदायों और उनकी मुख्य मुख्य विशेषताओं पर विचार कर लेंगे।

काल की पूर्वापरता का ध्यान रखते हुए हम यह कह सकते हैं कि विद्यापति ही हिंदी में भक्ति काव्य के प्रथम बड़े कवि हैं। उनकी

विद्यापति

रचनाएँ राधा और कृष्ण के पवित्र प्रेम से ओत-प्रोत हैं जिनसे कवि की भावमग्नता का परिचय मिलता है। यद्यपि संयोग शृंगार का वर्णन करते हुए सामान्य दृष्टि से विद्यापति कहीं कहीं असंयत भी हो गए हैं, पर उनकी अधिकांश रचनाओं में भाव-धारा बहुत ही निर्मल

और सरस हुई है। यह सब होते हुए भी विद्यापति के पीछे हिंदी में थोड़े दिनों तक कृष्णभक्ति की कविता नहीं हुई। हमारा अनुमान है कि उस समय विद्यापति की कविता का उत्तर भारत में उतना प्रचार नहीं हुआ जितना बंगाल आदि में हुआ। उनकी कविता से बंगाल के वैष्णव-भक्ति-आंदोलन को बहुत कुछ सहायता पहुँची, पर हिंदी भाषा-भाषी प्रांतों में उसका अधिक प्रचार उस समय नहीं हुआ। विद्यापति की भाषा में मैथिली का पुट बहुत गहरा चढ़ा हुआ है। इससे कुछ लोग हिंदी कवियों में उन्हें गिनने में आगा-पीछा करते हैं। दूसरे लोगों का यह कहना है कि जब वीरगाथा काल के राजस्थानी कवियों को हम हिंदी साहित्य के अंतर्गत मानते हैं, तब कोई कारण नहीं है कि विद्यापति की रचनाओं को भी हम हिंदी साहित्य में सम्मिलित न करें। हिंदी भाषा के विकास का विवेचन करते समय मैथिली को उपभाषा मानने में संकोच हो सकता है, परंतु भावों और विचारों की दृष्टि से तो विद्यापति की रचनाओं को हिंदी साहित्य के अंतर्गत मानने में संकोच नहीं होना चाहिए। यह तो पूर्वी हिंदी का एक रूप है। बँगला भाषा से उसका जितना मेल है उसकी अपेक्षा कहीं अधिक हिंदी से उसका मेल है; और इसी लिये विद्यापति की रचनाओं के लिये बँगला साहित्य की अपेक्षा हिंदी साहित्य में कहीं अधिक उपयुक्त और न्यायसंगत स्थान है।

ज्ञानाश्रयी संत

विद्यापति के उपरांत हिंदी में दूसरे बड़े भक्त कवि महात्मा कबीरदास हुए जिनकी उपासना निर्गुण उपासना कही जाती है और जिनकी प्रेरणा से हिंदी के ज्ञानाश्रयी भक्त कवियों की एक शाखा चल पड़ी। कबीर, नानक, दादू, जगजीवन, सुंदर आदि इस शाखा के प्रधान कवि हुए थे। ये सब संत और महात्मा थे। इन्होंने पारमार्थिक सत्ता की

एकता निरूपित करके केवल बाह्य आचारों में धर्म की प्रतिष्ठा समझनेवाले हिंदू और मुसलमान दोनों धर्मों के लोगों को फटकारा और अपनी उपासना, व्यवहार तथा बानियों के द्वारा दोनों के बाह्य भेदों की व्यर्थता सिद्ध की। ये संत सभी जातियों के थे और इनके उपदेशों में भी जाति-पाँति के भेद मिटाकर "हरि को भजे सो हरि को होई" के आधार पर मानव मात्र की एकता स्थापित करने की चेष्टा की गई। अध्यात्म पक्ष में तो इन संतों ने निर्गुण ब्रह्म को ही ग्रहण किया, पर उपासना के लिये निर्गुण में भी गुणों का आरोप करना पड़ा। तात्त्विक दृष्टि से ऐसा करने में कोई हानि नहीं है। उपासना में निर्गुण की प्रतिष्ठा करके तथा परमार्थ-सिद्धि में वेदों, पुराणों तथा कुरान आदि की गौणता दिखलाकर इन संतों ने एक ऐसी भूमिका तैयार की जिस पर हिंदू और मुसलमान दोनों समान भाव से खड़े हो सकते थे। इन संत कवियों ने लौकिक जीवन को भी अत्यंत सरल, निर्मल और स्वाभाविक बनाने के उपदेश दिए तथा सदाचार आदि पर विशेष जोर डाला। इस सबका फल यह हुआ कि एक सामान्य भक्ति-मार्ग उठ खड़ा हुआ जिसका आधार परोक्ष सत्ता की एकता और लौकिक जीवन की सरलता हुआ। जनता इस ओर बहुत कुछ खिंची।

प्रेममार्गी संत

इन संत कवियों के संप्रदाय से भक्ति का जिस रूप में विकास हुआ, उससे लोकरंजन न हो सका। इनका उपास्य निर्गुण ब्रह्म स्वयं लोक-व्यवहार से अलग था; निराकार और ज्ञानगम्य होने के कारण सबके हृदय में स्थित तथा दया आदि गुणों से युक्त होकर भी वह सर्वसाधारण के लिये पर्याप्त आकर्षण का विषय न बन सका। कबीर आदि की वाणी से उसकी जटिलता दूर न हो सकी। इन संत कवियों में विधि-

विरोध की जो धुन थी उससे भी रूढ़िवादी हिंदुओं और मुसलमानों के द्वारा इनका विरोध ही हुआ। सभ्य समाज वेदों और पुराणों की निंदा सुनने को तैयार नहीं था, संभवतः इसी लिये संतों को निम्न समाज में ही अपनी वाणी का विस्तार करना पड़ा। यह सब होते हुए भी हमको यह न भूल जाना चाहिए कि हमारे संत कवियों ने परमार्थ तत्त्व की एकता का प्रतिपादन करके और सरल तथा सदाचारपूर्ण सामाजिक जीवन की व्यवस्था देकर हिंदुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर किया और उनमें परस्पर हेल-मेल बढ़ाया। इन संत कवियों के ही समय से हिंदी में सूफी कवियों की भी एक परंपरा चली जिसमें अधिकतर मुसलमान संत कवि ही सम्मिलित हुए। इन कवियों ने भारतीय अद्वैतवाद में प्रेम का संयोग करके बड़ी ही सुंदर और रहस्यमयी वाणी सुनाई। इस श्रेणी के कवियों ने अधिकतर प्रबंधकाव्य के रूप में प्रेमगाथाएँ लिखी हैं। वे प्रेमगाथाएँ हिंदुओं से ही संबंध रखती हैं और पूरी सहानुभूति के साथ गाई गई हैं। व्यावहारिक जीवन में हिंदुओं और मुसलमानों में एकता स्थापित करने में इन कवियों ने विशेष सहायता पहुँचाई। इनकी रचनाओं में मानवमात्र को स्पर्श करनेवाली, मानवमात्र से सहानुभूति रखनेवाली उदार भावनाएँ थीं, जिनसे तत्कालीन सामाजिक संकीर्णता बहुत कुछ कम हुई। ये सूफी संत कवि भी यद्यपि निर्गुण सत्ता को ही माननेवाले थे, पर इन्होंने अपने आध्यात्मिक प्रेम की अभिव्यक्ति सरस और लोकप्रिय कहानियों के द्वारा लौकिक प्रेम की पराकाष्ठा दिखलाकर की, इसलिये रहस्यमूलक होने पर भी इनके भावों में कबीर आदि की सी जटिलता नहीं रही।

जहाँ एक ओर हिंदू और मुसलमान संतों तथा फकीरों की कृपा से हिंदुओं में नीच कहलानेवाली जातियों के प्रति उदारता

बढ़ी और मुसलमानों के प्रति द्वेष कम हुआ, वहाँ दूसरी ओर प्राचीन भक्ति-परंपरा का आश्रय लेकर कृष्णभक्ति और रामभक्ति का विकास भी उनमें हुआ। हम पहले ही कह चुके हैं कि महात्मा रामानंद ने "सीताराम" को अपना उपास्य देव माना था और अपनी अलग शिष्य-परंपरा चलाई थी, जिसमें रामोपासना का ही आश्रय लिया जाता रहा। इसी प्रकार हम वल्लभाचार्य की कृष्णभक्ति का भी ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। वल्लभाचार्य के पुत्र और उत्तराधिकारी गोसाईं विट्ठलनाथ हुए। प्रसिद्ध है कि इन्हीं गोसाईंजी ने चार अपने और चार अपने पिता के शिष्यों को लेकर अष्टछाप की स्थापना की। यही हिंदी साहित्य के इतिहास में अष्टछापवाले कवि कहलाते हैं जिनमें से प्रधान कवि महात्मा सूरदास कहे जाते हैं। अष्टछाप के कवियों ने यद्यपि कृष्ण की पूरी जीवनचर्या अंकित की है, पर प्रधानता उनके लोकरंजक बालस्वरूप की ही पाई जाती है। इसका कारण यह है कि स्वामी वल्लभाचार्य स्वयं कृष्ण के बालरूप के उपासक थे। भक्त कवियों ने कृष्ण का वह मधुर मनोरंजक स्वरूप हृदयंगम किया था जो बाललीलाएँ करनेवाला और गोपिकाओं को रिझाने-खिझानेवाला था। कृष्ण के उस स्वरूप की इन कवियों ने सर्वथा उपेक्षा की जिसका मनोरम चित्र महाभारत में उपस्थित किया गया है। कृष्ण के लोकरक्षक स्वरूप की जो अभिव्यक्ति पूतना-संहार, बकासुर-वध, कंस-नाश आदि में देख पड़ती है, उसकी ओर कृष्णभक्त कवियों का बहुत कम ध्यान गया, फलतः उसके वर्णन भी कम हैं और वे भी नीरस, मानो कवियों की वृत्ति उनमें रमी ही न हो। इन कृष्णभक्त कवियों की कृपा से हिंदू

कृष्णभक्त कवि

जनता का अभूतपूर्व मनोरंजन हुआ, पर इनसे उसकी तत्कालीन निराशा का पूरा पूरा परिहार न हो सका।

इसी समय मानों हिंदू जनता की निराशा का उन्मूलन करने तथा हिंदी कविता के उत्कर्ष को चरम सीमा तक पहुँचाने के लिये महात्मा रामानंद की शिष्यपरंपरा में महाकवि गोस्वामी तुलसीदास का आविर्भाव हुआ।

रामभक्त कवि

गोस्वामीजी राम-भक्त थे और उन्होंने अपने उपास्य देव श्रीराम को निस्सीम शील, सौंदर्य और शक्ति से संपन्न अंकित किया है। रामचरितमानस में श्रीरामचंद्र के इस स्वरूप के हमको पूरे पूरे दर्शन मिलते हैं, यद्यपि गोस्वामीजी की अन्य रचनाओं में भी राम की वही मूर्त्ति देख पड़ती है। लोकव्यवहार में राम को खड़ा करके और उनमें शक्ति, शील तथा सौंदर्य को चरम सीमा तक पहुँचाकर गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्ति को अत्यंत उदार तथा कल्याणकर और आकर्षक बना दिया। यदि वे चाहते तो कृष्णभक्त कवियों की भाँति राम की बालक्रीड़ाओं को ही प्रधानता देकर उन्हें केवल नेत्ररंजक बना सकते थे; पर गोस्वामीजी के उदार हृदय में जो लोक-भावना समाई हुई थी, उसकी अवहेलना वे कहाँ तक कर सकते थे? राम के उत्पन्न होते ही "भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी" आदि कहकर गोस्वामीजी ने मानों राम का लोकरंजक स्वरूप उनके लोकरक्षक तथा अनिष्ट-नाशक स्वरूप के पीछे रख दिया है। जो समालोचक गोस्वामीजी का यह भाव न समझकर उनकी वर्णित राम की बाल-लीला की तुलना सूरदास आदि कवियों के बाल-लीला वर्णन से करते हैं, वे गोस्वामीजी के साथ अन्याय करते हैं। गोस्वामीजी लोक-धर्म के कट्टर समर्थक थे और उनके राम भी वैसे ही प्रदर्शित किए गए हैं। जनता इस नवीन भक्ति-मार्ग की ओर बड़ी उत्सुकता से

खिंची और रामभक्त कवियों की परंपरा भी चली। परंतु यह कहना पड़ता है कि गोस्वामीजी ने अपनी अद्भुत प्रतिभा से हिंदू जनता तथा हिंदी साहित्य में जो आलोक फैला दिया था, उसके कारण अन्य रामभक्त कवि चकाचौंध में पड़ गए और जनता उन्हें बहुत कम देख और समझ सकी।

कबीर आदि के आविर्भाव काल की परिस्थिति

प्रसिद्ध वीरशिरोमणि हम्मीरदेव के पतन के उपरांत हिंदुओं की सारी आशाएँ मिट्टी में मिल गई थीं। बढ़ती हुई मुसलमानी शक्ति का सामूहिक रूप से सामना करके अपने धर्म और स्वातंत्र्य की रक्षा करने का साहस उनमें नहीं रह गया था। तैमूर के आक्रमण ने देश को जहाँ तहाँ उजाड़ कर नैराश्य की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। इसमें संदेह नहीं कि राजस्थान में वीर राजपूत जाति समय समय पर स्वातंत्र्य-रक्षा का उद्योग करती रही और इसी से वहाँ चारण कवियों के द्वारा वीररस की रचनाएँ भी होती रहीं, परंतु व्यापक रूप से वीरगाथाओं की रचना शिथिल पड़ गई थी। देश के भीतरी राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक संघटन के ढीले पड़ जाने से हिंदू जनता एक ओर तो अपनी शक्ति का ह्रास प्रत्यक्ष देख रही थी और दूसरी ओर विदेशी विधर्मियों का निरंतर अभ्युदय। ऐसी अवस्था में आत्मविश्वास के साथ धर्म और परमात्मा पर से भी उसका विश्वास हट रहा था। जब वह अधर्म का अभ्युदय तथा अपने धर्म का ह्रास और कष्टों की वृद्धि प्रत्यक्ष देख रही थी और त्राण का कोई उपाय नहीं पा रही थी तो उसमें धार्मिक दृढ़ता रह भी कब तक सकती थी? कबीर आदि संतों के जन्म के समय हिंदू जाति की ऐसी अवस्था हो रही थी। यह हिंदू जाति का परम सौभाग्य और परमात्मा की असीम कृपा थी कि उसी समय दक्षिण से भक्ति की एक प्रबल

धारा उत्तर भारत में आई और कबीर आदि संतों ने जनता को भक्ति मार्ग की ओर प्रवृत्त कर भक्ति भाव का प्रचार किया। परंतु प्रत्येक प्रकार की भक्ति के लिये परिस्थिति इस समय अनुकूल नहीं थी। मूर्तियों की अशक्तता वि० सं० १०८१ में बड़ी स्पष्टता से प्रकट हो चुकी थी, जब कि महमूद गजनवी ने आत्मरक्षा से विरत, हाथ पर हाथ रखे हुए श्रद्धालुओं के देखते देखते सोमनाथ का मंदिर नष्ट करके उनमें से हजारों को तलवार के घाट उतारा था और लूट में अपार धन प्राप्त किया था। गजेंद्र की एक ही टेर सुनकर दौड़ आनेवाले और ग्राह से उसकी रक्षा करनेवाले सगुण भगवान् जनता के घोर से घोर संकट-काल में भी उसकी रक्षा के लिये आते हुए न दिखाई दिए। अतएव उनकी ओर जनता को सहसा प्रवृत्त कर सकना असंभव ही सा था। उधर योग-प्रधान नाथ पंथ का प्रभाव देश में बहुत बढ़ा हुआ था जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। सूफी फकीर भी अपने प्रेम और उदारता के कारण जनता को अपनी ओर आकृष्ट कर रहे थे। इस कारण लोगों ने सगुण भक्ति का उस समय वैसा अनुसरण न किया जैसा आगे चलकर कबीर आदि संत कवियों का किया और अंत में नामदेव जैसे सगुण भक्त को ज्ञानाश्रित निर्गुणभक्ति की ओर झुकना पड़ा। उस समय परिस्थिति केवल निराकार और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति के ही अनुकूल थी, यद्यपि निर्गुण की शक्ति का भली भाँति अनुभव नहीं किया जा सकता था, उसका आभास मात्र मिल सकता था। संत कवियों ने अपनी निर्गुण भक्ति के द्वारा भारतीय जनता के हृदय में अपूर्व आशा उत्पन्न की और उसे कुछ अधिक समय तक विपत्ति की अथाह जलराशि के ऊपर बने रहने की उत्तेजना दी, यद्यपि सहायता की आशा से आगे बढ़े हुए हाथ को वास्तविक सहारा सगुण भक्ति से ही मिला और केवल रामभक्ति ही उसे

किनारे पर लगाकर सर्वथा निरापद कर सकी। पर इससे जनता पर होनेवाले कबीर, दादू, रैदास आदि संतों के उपकार का महत्त्व कम नहीं हो जाता। कबीर यदि जनता को भक्ति की ओर न प्रवृत्त करते तो क्या यह संभव था कि लोग इस प्रकार आँखें मूँद करके सूर और तुलसी को ग्रहण कर लेते? सारांश यह कि इन संत कवियों का आविर्भाव ऐसे समय में हुआ जब मुसलमानों के अत्याचारों से पीड़ित भारतीय जनता को अपने जीवित रहने की आशा तक नहीं रह गई थी और उसे मृत्यु या धर्मपरिवर्तन के अतिरिक्त और कोई उपाय ही नहीं देख पड़ता था। यद्यपि धर्मशील तत्त्वज्ञों ने सगुण उपासना से आगे बढ़ते बढ़ते निर्गुण उपासना तक पहुँचने का सुगम मार्ग बतलाया है और वास्तव में यह तत्त्व युक्तिसंगत भी जान पड़ता है, पर उस समय जनता को सगुण उपासना की निस्सारता का परिचय मिल चुका था और उस पर से उसका विश्वास भी उठ चुका था। मुसलमान मूर्तिपूजा और सगुणोपासना के विरोधी तथा निर्गुण निराकार के उपासक थे। हिंदू जनता भी सगुणोपासना से ऊबी हुई थी। अतः कबीर ने ऊँच नीच और हिंदू मुसलमान का भेद दूर कर जिस निर्गुण उपासना का मार्ग ग्रहण किया वह तत्कालीन हिंदू जनता को संतोष और शांति प्रदान करने के लिये विशेष अनुकूल था। यद्यपि यह मार्ग जनता की वृत्ति को पूर्ण रूप से लीन नहीं कर सका तथापि यह तो स्पष्ट है कि राम, अल्लाह और अलख निरंजन के बाह्य नाम भेदों के भीतर की तात्त्विक एकता का दर्शन कराके उन्होंने जो निर्गुण और निराकार राम की भक्ति की ओर लोगों का मन आकृष्ट किया उससे आगे चलकर तुलसी और सूर के सगुण राम और कृष्ण की भक्ति के लिये मार्ग प्रशस्त हुआ।

जिस समय निर्गुण संत कवियों का आविर्भाव हुआ था, वह समय ही भक्ति की लहर का था। उस लहर को बढ़ाने के प्रबल कारण प्रस्तुत थे। भारत में मुसलमानों के आ बसने से परिस्थिति में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया था। हिंदू जनता को अपना नैराश्य दूर करने के लिये भक्ति का आश्रय ग्रहण करना आवश्यक था। इसके अतिरिक्त कुछ लोगों ने हिंदू और मुसलमान दोनों विरोधी जातियों को एक करने की आवश्यकता का भी अनुभव किया। इस अनुभव के मूल में एक ऐसे सामान्य भक्तिमार्ग का विकास गर्भित था जिसमें परमात्मा की एकता के आधार पर मनुष्यों की एकता का प्रतिपादन हो सकता और जिसके परिणाम-स्वरूप भारतीय ब्रह्मवाद तथा मुसलमानी खुदावाद की स्थूल समानता स्थापित हो सकती। भारतीय अद्वैतवाद और मुसलमानी एकेश्वरवाद में तात्त्विक भेद रहते हुए भी दोनों की स्थूल समानता के लिये निर्गुण मार्ग में जगह थी। रामानंद के बारह शिष्यों में से कुछ इस मार्ग के प्रवर्तन में प्रवृत्त हुए जिनमें से कबीर प्रमुख थे। शेष में सेना, पन्ना, भवानंद, पीपा और रैदास थे परंतु उनका उतना प्रभाव न पड़ा, जितना कबीर का।

मुसलमानों के आगमन से हिंदू समाज पर एक और प्रभाव पड़ा। पददलित शूद्रों की दृष्टि का उन्मेष हो गया। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में द्विजों और शूद्रों का भेद नहीं है। सहधर्मी होने के कारण वे सब एक हैं, उनके व्यवसाय ने उनमें कोई भेद नहीं डाला है; उनमें न कोई छोटा है और न कोई बड़ा। यद्यपि नाथपंथ तथा अन्य योगमार्गों में भी बड़े छोटे का भेद नहीं था, पर उनमें जनता के लिये विशेष आकर्षण नहीं था। जैसे शंकर के अद्वैतवाद के प्रभाव से बौद्धमत का अंत हुआ उसी प्रकार उस समय भक्ति के प्रताप से योगमार्ग का प्रभाव भी नष्ट हो रहा था।

अतः एक ओर तो अपनी हीन सामाजिक स्थिति से ऊबकर और दूसरी ओर प्राणरक्षा अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा के लोभ से निम्न-वर्ग की जनता के लिये विदेशी धर्म ग्रहण करने के अतिरिक्त कोई उपाय न था। ऐसे समय में स्वामी रामानंदजी ने पूर्ण उदारता के साथ भेद भाव दूर कर शूद्रों और मुसलमानों के लिये भी भक्ति का मार्ग खोल दिया। नामदेव दरजी, रैदास चमार, दादू धुनिया, कबीर जुलाहा आदि समाज की नीची श्रेणी के ही थे पर उनका नाम आज तक आदर से लिया जाता है।

इस निर्गुण भक्ति ने वर्णभेद से उत्पन्न उच्चता और नीचता को ही नहीं, वर्ग-भेद से उत्पन्न उच्चता-नीचता को भी दूर करने का प्रयत्न किया। स्त्रियों का पद स्त्री होने के ही कारण नीचा न रह गया। पुरुषों के ही समान वे भी भक्ति की अधिकारिणी हुईं। रामानंद के शिष्यों में से दो स्त्रियाँ थीं, एक पद्मावती और दूसरी सुरसरी। आगे चलकर सहजोबाई और दयाबाई भी भक्त संतों में से हुईं। वर्णाश्रम की मर्यादा के पक्षपाती और 'न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति' के सिद्धांत के पोषक उच्च-वर्गीय समाज के प्रतिनिधि तुलसीदासजी भी जो मीराबाई को "जिनके प्रिय न राम बैदेही। तजिए तिन्हें कोटि वैरी सम जद्यपि परम सनेही" का उपदेश दे सके, उसे निर्गुण भक्ति के ही अलक्ष्य और अनिवार्य प्रभाव का प्रसाद समझना चाहिए। ज्ञानी संतों ने स्त्री की जो निंदा की है वह दूसरी ही दृष्टि से। वहाँ उनका अभिप्राय स्त्री-पुरुष के कामवासनापूर्ण संसर्ग से है। कबीर से बढ़कर कदाचित् ही और किसी ने स्त्री की निंदा की हो, परंतु फिर भी उनकी पत्नी लोई का आजन्म उनके साथ रहना प्रसिद्ध है।

सामाजिक उदारता

कबीर इस निर्गुण भक्तिप्रवाह के प्रवर्त्तक थे, परंतु भक्त नामदेव इनसे भी पहले हो गए थे। नामदेवजी जाति के दरजी थे और

दक्षिण के सतारा जिले में नरसी वमनी नामक स्थान में उत्पन्न हुए थे। पंढरपुर में विठोवाजी का मंदिर है। ये उनके बड़े भक्त थे। पहले ये सगुणोपासक थे। परंतु आगे चलकर इनका झुकाव निर्गुण भक्ति की ओर हो गया, जैसा कि इनके कुछ पदों से प्रकट होता है। कबीर के पीछे तो संतों की मानो बाढ़ सी आ गई और अनेक मत चल पड़े। पर सब पर कबीर का प्रभाव परिलक्षित होता है। नानक, दादू, शिवनारायण, जगजीवनदास आदि जितने प्रमुख संत हुए, सबने कबीर का अनुकरण किया और अपना अपना अलग मत चलाया। इनके विषय की मुख्य बातें ऊपर आ गई हैं, फिर भी कुछ बातों पर ध्यान दिलाना आवश्यक है। सबने नाम, शब्द, सद्गुरु आदि की महिमा गाई है और मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का विरोध किया है, तथा जाति-पाँति का भेद-भाव मिटाने का प्रयत्न किया है। परंतु हिंदू जीवन में व्याप्त सगुण भक्ति और कर्मकांड के प्रभाव से इनके प्रवर्तित मतों के अनुयायियों द्वारा वे स्वयं परमात्मा के अवतार माने जाने लगे हैं, और उनके मतों में भी कर्मकांड का आडंबर भर गया है। कई मतों में केवल द्विज लिए जाते हैं। केवल नानकदेवजी का चलाया सिख संप्रदाय ही ऐसा है जिसमें जाति-पाँति का भेद नहीं आने पाया, परंतु उसमें भी कर्मकांड की प्रधानता हो गई है और ग्रंथ साहब का प्रायः वैसा ही पूजन किया जाता है, जैसा मूर्तिपूजक मूर्ति का करते हैं। कबीर-पंथी मठों में भी कबीरदास के मनगढ़ंत चित्र बनाकर उनकी पूजा होने लगी है और सुमिरिनी आदि का प्रचार हो गया है।

धार्मिक सिद्धांत

यद्यपि आगे चलकर निर्गुण संत मतों का वैष्णव संप्रदायों से बहुत भेद हो गया, तथापि इसमें संदेह नहीं कि

संतधारा का उद्गम भी वैष्णव भक्तिरूपी स्रोत से ही हुआ है। श्रीरामानुज ने संवत् ११४४ में यादवाचल पर नारायण की मूर्ति स्थापित करके दक्षिण में वैष्णव धर्म का प्रवाह चलाया था, पर उनकी भक्ति का आधार ज्ञानमार्गी अद्वैतवाद था। उनका अद्वैत, विशिष्टाद्वैत हुआ। गुजरात में मध्वाचार्य ने द्वैतमूलक वैष्णव धर्म का प्रवर्तन किया। जो कुछ कहा जा चुका है, उससे पता चलेगा कि संतधारा अधिकतर ज्ञानमार्ग के ही मेल में रही। पर उधर बंगाल में महाप्रभु चैतन्यदेव और उत्तर भारत में वल्लभाचार्यजी के प्रभाव से भक्ति के लिये परमात्मा के सगुण रूप की प्रतिष्ठा की गई, यद्यपि सिद्धांत रूप से ज्ञान मार्ग का त्याग नहीं किया गया। वस्तुत: निर्गुण ज्ञानमार्ग और सगुण भक्ति में कोई अंतर नहीं है, दोनों से भवजनित दुःखों का नाश होता है, दोनों ही मुक्तिप्रद हैं। तुलसीदासजी ने 'भगतिहि ज्ञानहि नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥' कहकर ज्ञानमार्ग की कठिनाई का ही बड़े विस्तृत रूपक के द्वारा वर्णन किया है, उसे व्यर्थ नहीं बतलाया है। सच बात यह है कि कबीर आदि संतों का निर्गुण मार्ग भी शुद्ध ज्ञान मार्ग नहीं है। वे भक्त थे और भक्ति सगुण की ही की जा सकती है। अत: भक्ति के लिये उन्हें निर्गुण में भी गुणों का आरोप करना पड़ा है। शुद्ध ज्ञानाश्रयी उपनिषदों तक में उपासना के लिये ब्रह्म में गुणों का आरोप किया गया है। फिर भी तथ्य की बात यह जान पड़ती है कि जब वैष्णव संप्रदायों ने आगे चलकर व्यवहार में सगुण भक्ति का आश्रय लिया, तब भी संत मतों ने ज्ञानाश्रयी निर्गुण भक्ति से ही अपना संबंध रखा।

संत कवियों के धार्मिक सिद्धांतों और सामाजिक व्यवस्था के संबंध में उपर्युक्त बातें कहकर उनके व्यावहारिक सिद्धांतों पर भी

ध्यान देना आवश्यक है; क्योंकि इन कवियों ने इतने प्रभावोत्पादक ढंग से सरल सदाचारपूर्ण लौकिक जीवन का उपदेश दिया और स्वयं इतनी सचाई से उसका पालन किया कि जनता पर उन उपदेशों का विशेष प्रभाव पड़ा और तत्कालीन सामाजिक दंभ बहुत कुछ कम हुआ। उन्होंने देखा कि लोग नाना प्रकार के अंधविश्वासों में फँसकर हीन जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इसी से उन्हें मुक्त करने का उन्होंने प्रयत्न किया। मुसलमानों के रोजा, नमाज, हज, ताजिएदारी और हिंदुओं के श्राद्ध, एकादशी, तीर्थव्रत, मंदिर सबका उन्होंने विरोध किया। इस बाहरी आडंबर के लिये उन्होंने हिंदू मुसलमान दोनों को खूब फटकार बतलाई। धर्म को वे आडंबर से परे एकमात्र सत्य सत्ता मानते थे जिसमें हिंदू मुसलमान आदि विभाग नहीं हो सकते। उन्होंने किसी नामधारी धर्म के बंधन में अपने आपको नहीं डाला और स्पष्ट शब्दों में संकीर्ण सांप्रदायिकता का खंडन किया। पर समय पाकर हिंदुओं के पौराणिक विचारों का प्रभाव इन सब संत महात्माओं के संप्रदायों पर पड़ा। क्रमशः इन आचार्यों के कल्पित या वास्तविक चित्र बनाए गए और विधिवत् उनकी पूजा अर्चा होने लगी, साथ ही सगुणोपासना के अन्य उपचारों—जैसे, माला, आसन, कमंडल आदि—का भी इन संप्रदायों में उपयोग होने लगा। सारांश यह कि हिंदू धर्म की जिन बातों का इन संत-संप्रदायों के आचार्यों ने बड़ा तीव्र खंडन किया उन्हें ही पीछे से उनके अनुयायियों ने ग्रहण किया और उन्हें भिन्न भिन्न संप्रदायों के अंग के रूप में प्रतिष्ठित किया।

व्यावहारिक सिद्धांत

क्रमशः कबीर, दादू आदि संतों के अनेक संप्रदाय चल पड़े जिनमें धार्मिक संकीर्णता का पूरा पूरा प्रवेश हुआ। यद्यपि संत कवियों के उपदेशों में बड़ी उदारता और तात्त्विक व्यापकता है,

परंतु उनके अनुयायियों की दृष्टि उसे ग्रहण नहीं कर सकी। इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। इन महात्माओं की वाणी में वैयक्तिक साधना के उपयुक्त ऊँचे से ऊँचे सिद्धांत हैं, पर वैयक्तिक साधना के उपयुक्त होने के कारण ही वे लोकबाह्य भी हैं। सामान्य सामाजिक व्यवस्था में जो ऊँच-नीच के भेद होते हैं, उसमें जो अनेक विधि-निषेध रखे जाते हैं, उनसे समाज के संचालन में सहायता ही नहीं मिलती, राष्ट्रीय विकास के लिये भी वे परमोपयोगी हैं। उनका समुचित पालन न होने से समाज में उच्छृंखलता फैल जाती है जिससे उसका ह्रास होता है। संत कवियों की वाणी में लोकभावना पर उतनी दृष्टि नहीं रखी गई है जितनी व्यक्तिगत विकास पर। परंतु व्यक्तिगत विकास का वास्तविक आशय थोड़े से लोग ही समझ सकते हैं, सारा समाज उसका अधिकारी नहीं होता। भक्त संतों के उपदेशों से अनुचित लाभ उठाकर "हरि को भजे सो हरि का होई" के सिद्धांत को साधारण सामाजिक जीवन में व्यवहृत करने की चेष्टा की जाने लगी जिससे कोई शुभ परिणाम नहीं निकल सका। गोस्वामी तुलसीदास ने इस प्रकार की चेष्टाओं का तीव्र प्रतिवाद किया था।

अलोकोपयोगी प्रवृत्ति

इन संत कवियों की उपासना निराकारोपासना थी; अतएव उनकी वाणी में अपने उपास्य के प्रति जो संकेत मिलते हैं, वे केवल आभास के रूप में हैं और रहस्यात्मक हैं। जब भक्ति का आलंबन व्यक्त होता है, तब तो भक्त की वाणी स्वभावतः स्पष्ट और निश्चित होती है, क्योंकि भक्त स्वयं व्यक्त मनुष्य है और व्यक्त और दृश्य को देखने, सुनने और उसकी अनुभूति का वर्णन करने का मनुष्य को जीवन में अभ्यास होता है। अतः भक्त जब भगवान् के रूप का अपने

रहस्यवाद

नेत्र, श्रवणादि के विषय रूप में वर्णन करता है तो उसमें स्वभावतः अस्पष्टता और रहस्यात्मकता नहीं रह सकती। परंतु जब भक्त चिंतन के क्षेत्र में प्रवेश करके आकार का परित्याग कर अगोचर की ओर अग्रसर होता है तब उसे रहस्यात्मक शैली का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। कारण यह है कि वास्तव में जो निराकार और अगोचर है उसका इंद्रियानुभूत पदार्थों की भाँति स्पष्ट वर्णन हो ही नहीं सकता। परंतु भक्त को भगवान् की इंद्रियातीत अनुभूति होती है और उसका आनंद छलककर उसकी वाणी द्वारा प्रकट हुए बिना रह नहीं सकता। इसलिये गिरातीत अव्यक्त को व्यक्त वाणी में बाँधने के प्रयत्न में रहस्यात्मकता अनिवार्य हो जाती है। इस प्रकार काव्य में रहस्यवाद की उत्पत्ति होती है। रहस्यवाद के मूल में अज्ञात शक्ति की जिज्ञासा काम करती है। इस बात का अनुभव मनुष्य अनादि काल से करता चला आया है कि संसार-चक्र का प्रवर्तन किसी अज्ञात शक्ति के द्वारा होता है, परंतु वह शक्ति उस प्रकार स्पष्टता से नहीं दिखाई देती, जिस प्रकार जगत् के अन्य दृश्य रूप दिखाई पड़ते हैं, और न उसका ज्ञान ही उस प्रकार साधारण विचारधारा के द्वारा हो सकता है जिस प्रकार इन दृश्य रूपों का होता है। जो लोग अपनी लगन से इस क्षेत्र में सिद्ध हो चुके हैं, उन्होंने जब जब अपनी अनुभूति के निरूपण करने का प्रयत्न किया है, तब तब उन्होंने अपनी उक्तियों को स्पष्टता देने में अपने आपको असमर्थ पाया है। कबीर ने स्पष्ट कह दिया है कि परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गूँगे का सा गुड़ है। यही रहस्यवाद का मूल है। वेदों और उपनिषदों में रहस्यवाद की झलक विद्यमान है। जहाँ कहीं ब्रह्म की निर्गुण सत्ता का उल्लेख किया गया है, वहाँ बराबर इसी रहस्यात्मक शैली का प्रयोग किया

गया है। गीता में भगवान् के मुँह से उनकी विभूति का जो वर्णन कराया गया है, वह अत्यंत रहस्यपूर्ण है।

संतों की रहस्यमयी उक्तियाँ स्थान स्थान पर बड़ी ही मनोमोहिनी हुई हैं। प्रकृति के नाना रूपों में एक नित्य चेतन शक्ति की झलक देखकर भावमग्न होने की कल्पना भी कितनी मधुर और कितनी मोहक है। समस्त दृश्य जगत् आनन्द के प्रवाह से आप्लावित हो रहा है, इसके अणु अणु उस आनंद से अपना संबंध चरितार्थ कर रहे हैं, आदि भावनाएँ जितनी रहस्यमयी हैं, उतनी ही हृदयहारिणी भी हैं। प्रसिद्ध भक्त कवयित्री मीराबाई ने संसार को पुरुष-विहीन बतलाकर सबके एकमात्र स्वामी "गिरधर गोपाल" को ही अपना पति स्वीकार किया है। परमात्मा पुरुष है, प्रकृति उसकी पत्नी है। यह कल्पना बड़ी ही रहस्यात्मक परंतु अत्यंत सत्य है। संतों ने इसकी अनुभूति की थी। कबीर ने भी एक स्थान पर अपने को "राम की बहुरिया" बतलाया है। संसार ने स्त्री-पुरुष के जो भेद बना रखे हैं, तात्त्विक दृष्टि से उनका विशेष मूल्य नहीं, वे कृत्रिम हैं। वास्तव में यही तथ्य है। सारी प्रकृति—सारा दृश्य जगत् परम पुरुष की पत्नी है। इसी प्रकार परमात्मा की माता, पिता, स्वामी, सखा तथा पुत्र आदि रूपों में भी उपासना की गई है। "हरि जननी मैं बालिक तेरा" कहकर कबीर ने हरि को माता बतलाया है। इसी भाँति अन्य रूपकों द्वारा भी ब्रह्म और जीव के संबंधों की व्यंजना की गई है। ये सभी संबंध भावना में रहस्यात्मक हैं क्योंकि लौकिक अर्थ में तो परमात्मा पिता, माता, प्रिया, प्रियतम आदि कुछ भी नहीं। ऐसे ही कहीं "वै दिन कब आवैंगे भाइ। जा कारनि हम देह धरी है मिलिबौ अंग लगाइ" कहकर परमात्मा से जीवात्मा के वियुक्त होने, और कहीं "मो को कहाँ ढूँढ़ै

बंदे मैं तो तेरे पास में "कहकर दोनों के मिल जाने आदि का संत कवियों ने बड़े ही रहस्यात्मक ढंग से वर्णन किया है।

शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से देखने पर भी हम संत कवियों का एक विशेष स्थान पाते हैं। यह ठीक है कि बिहारी और केशव आदि की सी भाषा की प्रांजलता का अभिमान ये कवि नहीं कर सकते; और न सूर और तुलसी की सी सरसता और व्यापकता ही इनकी कविता में पाई जाती है। जायसी ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हृदय की जैसी एकरूपता दिखाई है, अनेक निर्गुण संत कवि उतनी सफलता से वह नहीं दिखा सके। यह सब होते हुए भी इन कवियों का स्थान हिंदी साहित्य में अत्यंत उत्कर्षपूर्ण तथा उच्च समझा जायगा। भाषा की प्रांजलता कम होते हुए भी उसमें प्रभावोत्पादकता बहुत अधिक है और उनकी तीव्रता से भावों में व्यापकता की बहुत कुछ कमी हो जाती है। उनके संदेशों में जो महत्ता है, उनके उपदेशों में जो उदारता है, उनकी सारी उक्तियों में जो प्रभावोत्पादकता है वह निश्चय ही उच्च कोटि की है। कविता के लिये उन्होंने कविता नहीं की है। उनकी विचारधारा सत्य की खोज में बही है, उसी का प्रकाश करना उनका ध्येय है। उनकी विचारधारा का प्रवाह जीवन-धारा के प्रवाह से भिन्न नहीं। उसमें उनका हृदय घुला मिला है। उनकी प्रतिभा हृदय-समन्वित है। उनकी बातों में ऐसा बल है जो दूसरों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकता। हार्दिक उमंग की लपेट में जो सहज विदग्धता उनकी उक्तियों में आ गई है, वह अत्यंत भावापन्न है। उसी में उनकी प्रतिभा का चमत्कार है। शब्दों के जोड़-तोड़ से चमत्कार लाने के फेर में पड़ना उनकी प्रकृति के प्रतिकूल था। दूर की सूझ जिस अर्थ में केशव बिहारी आदि

साहित्यिक समीक्षा

कवियों में मिलती है, उस अर्थ में उनमें मिलना असंभव है। प्रयत्न उनकी कविता में कहीं देख नहीं पड़ता।

अब हम कुछ प्रसिद्ध प्रसिद्ध संत कवियों की वैयक्तिक विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख करते हैं।

कबीर

अब तक के अनुसंधानों के अनुसार महात्मा कबीरदास का जन्म संवत् १४५६ और मृत्यु संवत् १५७५ माना जाता है। यद्यपि निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, फिर भी सब बातों पर विचार करने से इस मत के ठीक होने की अधिक संभावना है कि ये ब्राह्मणी या किसी हिंदू स्त्री के गर्भ से उत्पन्न और मुसलमान परिवार में लालित पालित हुए। कदाचित् उनका बाल्यकाल मगहर में बीता था और वे पीछे से काशी में आकर बसे थे जहाँ से अंतकाल से कुछ पहले उन्हें पुनः मगहर जाना पड़ा हो। प्रसिद्ध स्वामी रामानंद को उन्होंने अपना गुरु स्वीकार किया था। कुछ लोगों का यह भी मत है कि उनके गुरु शेख तकी नामक कोई सूफी मुसलमान फकीर थे। धर्मदास और सुरत गोपाल नाम के उनके दो प्रधान चेले हुए। कबीर की मृत्यु के पीछे धर्मदास ने छत्तीसगढ़ में कबीरपंथ की एक अलग शाखा चलाई और सुरत गोपाल काशीवाली शाखा की गद्दी के अधिकारी हुए। कबीर के साथः प्रायः लोई का नाम भी लिया जाता है। संभवतः लोई उनकी पत्नी और कमाल उनका पुत्र था।

कबीर बहुश्रुत थे। उनको सत्संग से वेदांत, उपनिषदों और पौराणिक कथाओं का थोड़ा बहुत ज्ञान हो गया था परंतु वेदों का ज्ञान उन्हें नहीं था। योग की क्रियाओं के विषय में उन्हें जानकारी थी। इंगला, पिंगला, सुषुम्ना, षट्चक्र आदि का उन्होंने उल्लेख किया है, पर योग को प्रधानता नहीं दी है। उन्होंने योग को भी माया में सम्मिलित किया है। वे भक्त थे और भक्ति के

बिना योग और ज्ञान आदि को व्यर्थ समझते थे। उन्होंने केवल हिंदू और मुसलमान धर्मों का मुख्यतया उल्लेख किया है, पर अन्य धर्मों से भी उनका परिचय था। कबीरदास सरल जीवन के पक्षपाती तथा अहिंसा के समर्थक थे। सांसारिक व्यवहारों में फँसा रखने तथा सच्चे धर्म और परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग में बाधक होने के कारण उन्होंने वेद शास्त्रादि के ज्ञान की निंदा की है।

जैसे कबीर का जीवन संसार से ऊपर उठा हुआ था, वैसे ही उनका काव्य भी साधारण कोटि से ऊँचा है। अतएव सीखकर प्राप्त की हुई रसिकता को उनमें काव्यानंद नहीं मिलता। परंपरा से बँधे हुए लोगों को काव्य-जगत् में भी इंद्रिय-लोलुपता का अखाड़ा खड़ा करना अच्छा लगता है। कबीर ऐसे लोगों की परितुष्टि की परवा कैसे कर सकते थे जिनको निरपेक्षी के प्रति होनेवाला उनका प्रेम भी शुष्क लगता है? प्रेम की पराकाष्ठा आत्मसमर्पण का मानों काव्य-जगत् में कोई मूल्य ही नहीं है!

कबीर ने अपनी उक्तियों पर बाहर बाहर से अलंकारों का मुलम्मा नहीं लगाया है। जो अलंकार उनमें मिलते भी हैं वे उन्होंने खोजकर नहीं बैठाए हैं। मानसिक कलाबाजी और कारीगरी के अर्थ में कला का उनमें सर्वथा अभाव है, परंतु सच्ची कला के लिये तो तथ्य की आवश्यकता है। भावुकता के दृष्टिकोण से कला आडंबरों के बंधन से निर्मुक्त तथ्य है। एक विद्वान् कृत इस परिभाषा को यदि काव्यक्षेत्र में प्रयुक्त करें तो बहुत कम कवि सच्चे कलाकारों की कोटि में आ सकेंगे। परंतु कबीर का आसन उस ऊँचे स्थान पर अविचल दिखाई देता है। यदि सत्य के खोजी कबीर के काव्य में तथ्य को स्वतंत्रता न मिली हो, तो और कहीं नहीं मिल सकती। कबीर के महत्त्व का अनुभव इसी से हो सकता है।

कबीरदास छंदशास्त्र के ज्ञाता न थे, यहाँ तक कि वे दोहों को भी पिंगल की खराद पर न चढ़ा सके। डफली बजाकर गाने में जो शब्द जिस रूप में निकल गया, वही ठीक था। वस्तुत: छंदशास्त्र के नियमों का पालन वे आवश्यक ही नहीं समझते थे, अत: मात्राओं के घट बढ़ जाने की चिंता उनके लिये व्यर्थ थी। परंतु साथ ही कबीर में प्रतिभा थी, मौलिकता थी। उन्हें कुछ संदेश देना था और उसके लिये शब्द की मात्रा या वर्णों की संख्या गिनने की आवश्यकता न थी। उन्हें तो इस ढंग से अपनी बातें कहने की आवश्यकता थी जिसमें वे सुननेवालों के हृदय में पैठ जायँ और पैठकर जम जायँ। इसके अतिरिक्त वह काल भाषा के प्राथमिक विकास का था, तब तक उसमें विशेष मार्जन नहीं हो पाया था।

कबीर की भाषा का निर्णय करना सरल कार्य नहीं है; क्योंकि वह कई भाषाओं की खिचड़ी सी प्रतीत होती है। कबीर की रचना में कई भाषाओं के शब्द मिलते हैं परंतु भाषा का निर्णय प्राय: शब्दों से नहीं होता। भाषा के आधार क्रियापद, संयोजक शब्द तथा कारक-चिह्न हैं जो वाक्यविन्यास की विशेषताओं के कारण होते हैं। कबीर में केवल शब्द ही नहीं, क्रियापद, कारक-चिह्नादि भी कई भाषाओं के मिलते हैं। क्रियापदों के रूप अधिकतर ब्रजभाषा और खड़ी बोली के हैं। कारक-चिह्नों में से, कै, सन, सा आदि अवधी के हैं, कौ ब्रज का है और थै राजस्थानी का। यद्यपि उन्होंने स्वयं कहा है—"मेरी बोली पूरबी," तथापि खड़ी, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी-फारसी आदि अनेक भाषाओं का पुट उनकी उक्तियों पर चढ़ा हुआ है। "पूरबी" से उनका क्या तात्पर्य है, यह नहीं कह सकते। वे काशीनिवासी थे अत: उनकी मातृभाषा काशी की ही बोली होनी चाहिए। काशी की

बोली इस समय भोजपुरी है जो पूर्वी भाषाओं में बिहारी के अंतर्गत मानी जाती है। अधिकांश में इसका मेल अवधी से है, पर इसकी एक मुख्य विशेषता है भूत कृदंत क्रियापद में लकार का प्रयोग, जो केवल पूर्वी भाषाओं में ही पाया जाता है। जैसे आयल, गयल, खइलन, पियलन आदि। काशी का पूर्व से संबंध बहुत प्राचीन है और कबीर के समय में भी इसकी भाषा पूर्वी (भोजपुरी) ही थी। अतः कबीर की पूरबी बोली का अर्थ काशी की बोली अर्थात् भोजपुरी ही ठीक जान पड़ता है। यदि पूरबी का प्रादेशिक अर्थ न लेकर आध्यात्मिक अर्थ लिया जाय तो भी कबीर की भाषा के भोजपुरी होने की संभावना में कोई बाधा नहीं है। परंतु प्रश्न की जटिलता यह है कि कबीर की प्राप्त रचनाओं की भाषा 'पूरबी' नहीं है। बीजक में अवश्य ऐसे कई पद हैं जिनकी भाषा पूर्वी है, परंतु सामान्य रूप से जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उनकी भाषा खड़ी व्रज राजस्थानी आदि की खिचड़ी है। इसका कारण यही हो सकता है कि कबीर ने सामान्य रूप से जिस भाषा का प्रयोग किया है वही उस समय की बोलचाल की हिंदी का सामान्य रूप था। हिंदी उस समय भी भारत की राष्ट्रभाषा के स्थान पर थी। वह दूर दूर के प्रांतों में भी बोली समझी जाती थी। उसमें भाषा और व्याकरण की अस्थिरता का कारण यह है कि एक तो उस समय हिंदी अभी अपने आरंभकाल में थी, दूसरे इस प्रकार की सामान्य भाषा में अन्य प्रांतों की भाषाओं के संपर्क से उनके शब्दों और रूपों का समावेश स्वभावतः हो जाता है।

यह भी संभव है कि उन्होंने जान बूझकर अनेक प्रांतों के शब्दों का प्रयोग किया हो, अथवा अपने भावों को व्यक्त करने की धुन में जब जिस भाषा का चलता हुआ शब्द उनके सामने आ गया तब वही उन्होंने अपनी कविता में रख दिया हो। उनकी रचना में

शब्दों के रूप बहुत तोड़े मरोड़े हुए मिलते हैं। इसका कारण एक तो यह है कि कबीर को साहित्य और व्याकरण के नियमानुसार शब्दों को साधु रूप में सजाने की उतनी परवाह नहीं थी जितनी भावों को व्यक्त करने की। अत: जो शब्द जिस रूप में बैठा उसी रूप में उन्होंने गाया। दूसरे उन पदों को लिखनेवालों ने भी कितने ही शब्दों को अपनी रुचि के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों में लिख दिया होगा। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में एक प्रकार का अक्खड़पन है और साहित्यिक कोमलता का सर्वथा अभाव है। कहीं कहीं उनकी भाषा बिलकुल गँवारू लगती है, पर उनकी बातों में खरेपन की मिठास है, जो उन्हीं की विशेषता है और उसके सामने यह दोष खटकता नहीं।

कबीर ही हिंदी के सर्वप्रथम रहस्यवादी कवि हुए। सभी संत कवियों में थोड़ा बहुत रहस्यवाद मिलता है, पर उनका काव्य विशेष-कर कबीर का ही ऋणी है। बँगला के कवींद्र रवींद्र पर भी कबीर का ऋण स्वीकार करना पड़ेगा। अपने रहस्यवाद का बीज उन्होंने कबीर में ही पाया। परंतु उनमें पाश्चात्य भड़कीली पालिश भी है। भारतीय रहस्यवाद को उन्होंने पाश्चात्य ढंग से सजाया है। इसी से यूरोप में उनकी इतनी प्रतिष्ठा हुई है। हिंदी की वर्तमान काव्यप्रगति में भी कबीर के रहस्यवाद की कुछ छाप देख पड़ती है।

कबीर पहुँचे हुए ज्ञानी थे। उनका ज्ञान पोथियों की नकल नहीं था और न वह सुनी सुनाई बातों का बेमेल भांडार ही था। पढ़े लिखे तो वे थे नहीं, परंतु सत्संग से भी जो बातें उन्हें मालूम हुईं, उन्हें वे अपनी विचारधारा के द्वारा मानसिक पाचन से सर्वथा अपनी ही बना लेने का प्रयत्न करते थे। उन्होंने स्वयं कहा है 'सो ज्ञानी आप विचारै'। फिर भी कई बातें उनमें ऐसी मिलती

हैं जिनका उनके सिद्धांतों के साथ मेल नहीं मिलता। उनकी ऐसी उक्तियों को समय और परिस्थितियों का तथा भिन्न भिन्न मतावलंबियों के संसर्ग का अलक्ष्य प्रभाव समझना चाहिए।

निर्गुण संत कवियों में प्रचार की दृष्टि से, प्रतिभा की दृष्टि से तथा कवित्व की दृष्टि से भी कबीर का स्थान सर्वोपरि है। उनके पीछे के प्रायः सब संतों ने अधिकतर उनका ही अनुगमन किया है। कबीर की रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं :—

बाप राम सुनि बीनती मोरी
तुम्ह सूं प्रगट लोगनि सूं चोरी ॥

पहलैं काम मुगध मति कीया, ता भै कंपै मेरी जीया ॥
राम राइ मेरा कह्या सुनीजै, पहले बकसि अब लेखा लीजै ॥
कहै कबीर बाप राम राया, अब हूँ सरनि तुम्हारी आया ॥

× × × ×

सो मेरा राम कबै घरि आवै, ता देखे मेरा जिय सुख पावै ॥
बिरह अगिनि तन दिया जराई, बिन दरसन क्यूँ होइ सराई ॥
निस बासुर मन रहै उदासा, जैसैं चातिग नीर पियासा ॥
कहै कबीर अति आतुरताई, हमकौं बेगि मिलौ राम राई ॥

× × × ×

राजा राम कवन रंगैं, जैसैं परिमल पुहुप संगैं ॥
पंचतत ले कीन्ह बँधान, चौरासी लख जीव समान ॥
बेगर बेगर राखिले भाव, तामैं कीन्ह आपकौ ठाँव ॥
आया पर सब एक समान, तब हम पाया पद निरबांण ॥
कहै कबीर मन्य भया संतोष, मिले भगवंत गया दुख दोख ॥

× × × ×

कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहे भला होइगा, नहिंतर भला न होइ॥
मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आहि।
अब मन रामहिं है रह्या, सीस नवावौं काहि॥
लूटि सकै तौ लूटि यौं, राम नाम है लूटि।
पीछैं ही पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि॥
राम पियारा छाँड़ि करि, करै आन का जाप।
बेस्वां केरा पूत ज्यूँ, कहै कौन सूँ बाप॥

नानकदेव

प्रसिद्ध सिख संप्रदाय के संस्थापक तथा प्रथम गुरु नानकजी जाति के खत्री थे। इनका जन्म १५२६ में और मृत्यु १५९६ में हुई। इनके पिता कालूचंद खत्री लाहौर के निवासी थे। इन्होंने प्रारंभ में वैवाहिक जीवन व्यतीत किया था और इन्हें श्रीचंद और लक्ष्मीचंद नाम के दो पुत्र भी हुए थे। गुरु नानक ने घर बार छोड़कर जब संन्यास ग्रहण किया, तब कहा जाता है कि उनकी भेंट महात्मा कबीर से हुई थी। कबीर के उपदेशों का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था। उनके ग्रंथ साहब में कबीर की वाणी भी संगृहीत है। नानकजी पंजाब के निवासी थे और पंजाब मुसलमानों का प्रधान केंद्र था। इसलाम और हिंदू धर्म के संघर्ष के कारण पंजाब में जो अशांति फैलने की आशंका थी, उसे नानकजी ने दूर करने का सफल प्रयास किया। उनकी वाणी में हिंदुओं और मुसलमानों के विचारों का मेल प्रशंसनीय रीति से हुआ है।

कबीर की ही भाँति नानक भी अधिक पढ़े लिखे नहीं थे, पर साधुओं के संसर्ग तथा पर्यटन के अनुभव से नानक के उपदेशों में एक प्रकार की विशेष प्रतिभा तथा प्रभावोत्पादकता पाई जाती है। वास्तव में इन संत कवियों की वाणी उनकी आत्मा

की वाणी है; अतः उसका प्रभाव सीधा हृदय पर पड़ता है। यह ठीक है कि काव्य की कृत्रिम दृष्टि से नानक की कविता साधारण कोटि की ही समझी जायगी, परंतु कला में जो स्वाभाविकता तथा तीव्रता अपेक्षित होती है, नानक में उसकी कमी नहीं है। महात्मा नानक की भाषा में पंजाबीपन स्पष्ट देख पड़ता है, जो उनके पंजाबनिवासी होने के कारण है। परंतु साथ ही अन्य प्रांतीय प्रयोग भी कम नहीं हैं, जो उनके पर्यटन के परिचायक हैं। नानक के पद प्रसिद्ध सिख ग्रंथ "ग्रंथ साहब" में एकत्र किए गए हैं। यह ग्रंथ सिखों का धर्मग्रंथ है और अत्यंत पूज्य दृष्टि से देखा जाता है। कबीर की भाँति इन्होंने भी भगवान् की भक्ति, साधु-संगति, जीवन की क्षणभंगुरता आदि पर अनेक पद्र कहे हैं :—

रे मन राम सों कर प्रीत

श्रवण गोविंद गुण सुनो अरु गाउ रसना गीत।
कर साधुसंगति सुमिर माधो होय पतित पुनीत॥
काल व्याल ज्यों ग्रस्यो डोलै मुख पसारे मीत।
कहे नानक राम भज ले जात अवसर बीत॥

संत के लक्षण उन्होंने इस प्रकार बताए हैं—

एक नाम संतन आधारू। होइ रहै सभ की पग छारू॥
संत रहत सुनहु मेरे भाई। उआ की महिमा कथणु न गाई॥
बरतणि जाकै केवल नाम। अनँद रूप कीरतनु बिसराम॥
मित्र सत्रु जाकै एक समानै। प्रभु बिणु अपने अवस न जानै॥

× × × ×

ताका संग बांछहि सुर देव। अमोघ दरस सफल जाकी सेव॥
कर जोड़ि नानकु करे अरदासि। मोहि संत टहल दीजै गुण तासि।

दादूदयाल का जन्म संवत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में बतलाया जाता है। इनकी जाति का ठीक ठीक पता नहीं चलता। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण बतलाते हैं और कुछ इन्हें मोची या धुनिया मानते हैं। संभवत: ये नीची जाति के ही थे। ये स्पष्टत: कबीर के शिष्य तो नहीं थे, पर इन्होंने अपने सभी सिद्धांतों को कबीर से ही ग्रहण किया है। दादू का एक अलग संप्रदाय चला था और अब भी अनेक दादूपंथी पाए जाते हैं। इनकी मृत्यु जयपुर प्रांत के अंतर्गत भराने की पहाड़ी नामक स्थान में हुई थी और यही स्थान अब तक दादूपंथियों का मुख्य केंद्र बना हुआ है।

दादूदयाल

दादू का प्रचारक्षेत्र अधिकतर राजपूताना तथा उसके आसपास का प्रांत था, अत: उनकी भाषा में राजस्थानी का पुट पाया जाता है। संत कवियों की भाँति दादू ने भी साखियाँ तथा पद आदि कहे हैं जिनमें सतगुरु की महिमा, ईश्वर की व्यापकता, जाति-पाँति की अवहेलना आदि के उपदेश दिए गए हैं। यद्यपि ये कबीर के समान प्रतिभाशाली नहीं थे पर इनकी वाणी में सरसता और भावों में सचाई है। कबीर तर्कप्रिय थे; अत: उन्हें तार्किक की सी कठोरता भी धारण करनी पड़ी थी, परंतु दादू ने हृदय की सच्ची अनुभूतियों का ही अभिव्यंजन किया है। इनकी मृत्यु संवत् १६६० में हुई थी। आरंभ काल के संत कवियों में ये पढ़े-लिखे जान पड़ते हैं।

दादूदयाल की कविता के उदाहरण निम्नलिखित हैं —

जिस घटि बिरहा राम का उस नींद न आवै।
दादू तलफै बिरहनी उस पीड़ जगावै ॥
दादू बिरह बियोग न सह सकौं मो पैं सह्या न जाइ।
कोई कहौ मेरे पीव सौं दरस दिखावै आइ ॥

सबद दूध घृत रामरस मथि करि काढ़ै कोइ।
दादू गुर गोबिंद बिन घटि घटि समझि न होइ॥
घीव दूध मैं रमि रह्या ब्यापक सबही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं मथि काढैं ते और॥

पूरि रह्या परमेस्वर मेरा। अणमांग्या देवै बहुतेरा॥टेक॥
सिरजनहारा सहज मैं देइ। तो काहे धाइ माँगि जन लेइ॥
बिसंभर सब जग कूं पूरै। उद्र काजि काहे नर झूरै॥
पूरिक पूरा है गोपाल। सबकी चिंत करै दर लाल॥
समरथ सोई है जगनाथ। दादू देखू रहो पीव साथ॥
कौण जनम कहाँ जाता है। राम छाँड़ि कहाँ राता है॥
मैं मैं मेरी इनसौं लागि। स्वादि पतंग न सूझै आगि॥
बिखिया सौं रति गरब गुमानि। कुंजर काम बँधे अभिमान॥
दादू यहु तन योंही जाइ। राम बेमुष मरि गए बिलाइ॥

मलूकदास औरंगजेब के समकालीन निर्गुण भक्त-कवि थे। "अजगर करै न चाकरी पंछी करै न काम" वाला प्रसिद्ध दोहा इन्हीं की रचना है। इनकी भाषा साधारण संत कवियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और संस्कृत होती थी और इनको छंदों का भी ज्ञान था। रत्नखान तथा ज्ञानबोध नाम की इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं, जिनमें वैराग्य तथा प्रेम आदि की मनोहर वाणी व्यक्त की गई है। एक सौ आठ वर्ष की अवस्था में इनकी मृत्यु सं० १७३९ में हुई थी। ये कड़ा जिला इलाहाबाद के निवासी थे। ये सच्चे भक्त और राम पर पूरा भरोसा करनेवाले थे तथा उन्हीं के दर्शन के मद से सदा छके रहते थे—

मलूकदास

औरहिं चिंता करन दे, तू मत मारे आह।
जाके मोही राम से, ताहि कहा परवाह॥

तेरा मैं दीदार दीवाना।

घड़ी घड़ी तुझे देखा चाहूँ सुन साहेब रहमाना ॥
हुआ अलमस्त खबर नहिं तन की पीया प्रेम पियाला।
ठाढ़ होहुं तो गिर गिर परता तेरे रंग मतवाला ॥
कहै मलूक अब कजा न करिहैं दिल ही सों दिल लाया।
मक्का हज हिये में देखा पूरा मुरसिद पाया ॥

इन संत कवियों में सबसे अधिक विद्वान् तथा पंडित कवि सुंदरदास हुए। सुंदरदास दादूदयाल की शिष्य-परंपरा में थे। इनका अध्ययन विशेष विस्तृत था। इन्होंने काशी में आकर शिक्षा प्राप्त की थी। सुंदरदास की भाषा शुद्ध काव्य-भाषा है और उनकी वाणी में उनके उपनिषदों आदि से परिचित होने का पता चलता है, परंतु कबीर आदि की भाँति उनमें स्वभावसिद्ध मौलिकता तथा प्रतिभा अधिक नहीं थी, इससे उनका प्रभाव भी विशेष नहीं पड़ा।

सुंदरदास

सुंदरदास की कविता के कुछ उदाहरण यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

तिल में तेल दूध मैं घृत है दार मांहि पावक पहिचानि।
पुहप मांहि ज्यौं प्रगट वासना इक्षु मांहि रस कहत वषानि।
पोसत मांहि अफीम निरंतर बनस्पती मैं सहत प्रवानि।
सुंदर भिन्न मिल्यौ पुनि दीसत देह मांहि यौं आतम जानि ॥

दोहा—सतगुरु पायनि परत हौं, मोहि दिखायो पंथ।
तातें सुंदर कहत है; रचिकर अदभुत ग्रंथ ॥
परमातम सुत आतमा, ताकौ सुत मन धूत।
मन के सुत ये पंच हैं, पाचौ भये कपूत ॥

रवि समान परमातमा, दर्पन बुद्धिहि जानि।
ता महि प्रतिबिंबित भयो, जीवातम पहिचानि ॥
दर्पन कौ आभास ज्यौं, कंस पात्र मैं होइ।
त्यौं आतम प्रकाश मन, देह मध्य है सोइ ॥

सुंदरदास के अतिरिक्त संतों में अक्षर अनन्य, धर्मदास, जगजीवन आदि का नाम भी लिया जाता है। साथ ही तुलसी साहब, गोविंद साहब, भीखा साहब, पलटू साहब, आदि अनेक संत हुए जिनमें से अधिकांश का साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। परंतु संतों की परंपरा का अंत नहीं हो गया और न्यूनाधिक रूप में वह बराबर चलती रही, और अब तक चली जा रही है।

यद्यपि साहित्यिक समीक्षा में निर्गुण संत कवियों को उच्चतम स्थान नहीं दिया जाता, पर इससे हम उनके किए हुए उपकार को नहीं भूल सकते। मुसलमान और हिंदू संस्कृतियों के उस संघर्ष-काल में जिस शांतिमयी वाणी की आवश्यकता थी, संतों ने उसी की अभिव्यंजना की। यह ठीक है कि हिंदू समाज के उच्च वर्ण इस निर्गुण संप्रदाय की ओर अधिक आकृष्ट नहीं हुए, प्रत्युत उसके विरोध में ही बने रहे, पर समाज की निम्न श्रेणी का जो भारी कल्याण इन कवियों ने किया, वह इस देश के इतिहास में स्मरणीय रहेगा। अब भी हिंदी के प्रधान कवियों में कबीर आदि का उच्च स्थान है और प्रचार की दृष्टि से तो महात्मा तुलसीदास के बाद इन्हीं का नाम लिया जा सकता है। एक बात और ध्यान देने की है। अब तक समस्त धार्मिक आंदोलन केवल संस्कृत भाषा का ही आश्रय लेकर होता था, यहाँ तक कि वल्लभाचार्य और रामानंद ने भी जो कुछ लिखा, संस्कृत में ही लिखा था। इनके अनंतर यह प्रवृत्ति बदली और देश-भाषाओं का अधिकाधिक उपयोग होने लगा। इसी का यह परिणाम हुआ कि साधारण

जनता इस ओर आकृष्ट हुई और उसमें जागति उत्पन्न हुई। संत महात्माओं के उद्योग का यह फल हुआ कि दलित और अस्पृश्य जातियों में भी जीवन के आदर्श को ऊँचा करने और उच्च जातियों के समकक्ष होने की कामना हुई। जिस प्रकार आजकल एक अस्पृश्य जाति का पुरुष मुसलमान या क्रिस्तान होने पर समाज में सम्मान का भाजन होता है उसी प्रकार मध्य युग में नीच से नीच जाति का व्यक्ति भी संत होकर और भगवद्भक्ति में लीन होकर समाज में आदर-सत्कार का अधिकारी हो जाता था। पर यह संस्कार सामूहिक रूप में न हो सका। इसका मुख्य कारण अंत्यजों की व्यावसायिक परिस्थिति ही जान पड़ती है। जो हो, इसमें संदेह नहीं कि इस युग में इन संत महात्माओं के कारण हिंदी साहित्य और भारतीय समाज का महान् उपकार हुआ।

सातवाँ अध्याय

प्रेममार्गी भक्ति शाखा

आविर्भाव-काल

जब एक जाति किसी देश से आकर अन्य देश की किसी दूसरी जाति से मिलती है तब दोनों के भावों, विचारों तथा रीति-नीति का विनिमय ऐसी विलक्षण रीति से होने लगता है कि उन जातियों की सभ्यता तथा संस्कृति में बड़े बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। कभी कभी तो विजयिनी जाति शक्तिमती होती हुई भी अपनी अल्प संख्या अथवा हीन संस्कृति के कारण विजित जाति की बहु संख्या में विलीन हो जाती है और अपना संपूर्ण अस्तित्व खोकर विजित जाति की सभ्यता आदि ग्रहण कर लेती है। भारत पर आक्रमण करनेवाली हूण, कुशन और यूची आदि जातियों की ऐसी ही अवस्था हुई थी। कभी कभी विजेताओं के उत्साह अथवा उच्चाकांक्षाओं में विजितों के अस्तित्व को दबा देने की भी क्षमता देखी जाती है। प्राचीन यूनान पर डोरियन तथा आईयोनियन आक्रमणों का यही प्रभाव पड़ा था। इसी प्रकार कभी कभी ऐसा भी देखा जाता है कि यद्यपि दोनों जातियों के संघर्ष से दोनों की रीति-नीति में अंतर पड़ते हैं, पर दोनों ही अपनी सभ्यता तथा अन्य विशेषताओं को अक्षुण्ण रखती हैं और अलग अलग अपना विकास करती हैं। ऐसा अधिकतर उस समय होता है जब दोनों ही जातियाँ अपनी सभ्यता तथा संस्कृति को उन्नत कर चुकी हों और परिस्थिति के अनुसार उनमें साधारण परिवर्तन करके अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाए रखने की क्षमता रखती हों। भारतवर्ष पर मुसलमानों की विजय के अनंतर जब

हिंदू और मुसलमान सभ्यताओं का संयोग हुआ तब हिंदू अपनी प्राचीन तथा उच्च सभ्यता के कारण दृढ़ बने रहे और मुसलमानों के नवीन धार्मिक उत्साह तथा विजयगर्व ने उन्हें हिंदुओं में मिल जाने से रोक रखा।

हिंदू और मुसलमान यद्यपि अलग अलग बने रहे, परंतु उनमें भावों और विचारों की एकता अवश्य स्थापित हुई। दोनों ही जातियों ने अपने धार्मिक आदि विभेदों को वहीं तक बना रहने दिया जहाँ तक उनके स्वतंत्र अस्तित्व के लिये उनकी आवश्यकता थी। इसके आगे दोनों धीरे धीरे मिलने लगे। वास्तव में मनुष्य सामाजिक जीव है। उसके हृदय में शांति के प्रति अनुराग होता है। उसे विरोध उतना अच्छा नहीं लगता। जहाँ तक हो सकता है, मनुष्य विपत्तियों से भी प्रेम-पूर्वक व्यवहार करता है। यही मनुष्य की मनुष्यता है। इसी मनुष्यता का परिचय कबीर आदि महात्माओं ने मुसलमानी शासन के आदि-काल में दिया था। जब हिंदू और मुसलमान दोनों साथ ही बस गए और साथ ही रहने लगे, तब विरोध के आधार पर सामाजिक प्रगति नहीं हो सकती थी। दोनों को मिलकर रहने की उत्सुकता हुई। यद्यपि विजयी मुसलमान शासक अपने विजयोन्माद में धार्मिक नृशंसता के पक्के उदाहरण बन रहे थे, पर साधारण जनता उनकी सी कठोर मनोवृत्ति धारण न कर मेल की ओर बढ़ रही थी। कबीर ने मेल की बड़ी प्रबल प्रेरणा की थी। उन्होंने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को यह समझाने का प्रयत्न किया कि हमको उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर एक है, केवल नामभेद से अज्ञानवश हम उसे भिन्न भिन्न समझा करते हैं। धार्मिक विवाद व्यर्थ है, सब मार्ग एक ही स्थान को जाते हैं। इस प्रकार कबीर ने परोक्ष सत्ता की एकता स्थापित की। थोड़े

समय पीछे कवियों का एक समुदाय ऐसा भी उदय हुआ जिसने व्यावहारिक जीवन की एकता की ओर अधिक ध्यान दिया।

यह समुदाय सूफी कवियों का था जो प्रेमपंथ को लेकर चला था। सूफियों का प्रेम लौकिक नहीं था, परोक्ष के प्रति था। यद्यपि इसलाम धर्म के अनुसार सूफियों के परोक्ष को भी निराकार ही रहना पड़ा, परंतु अपने उत्कट प्रेम तथा उदार हृदय के कारण सूफी संप्रदाय में अव्यक्त परोक्ष सत्ता को बहुत कुछ व्यक्त स्वरूप भी मिला। सूफी उस परमेश्वर की उपासना करते थे जो निर्गुण और निराकार तो है परंतु अनंत प्रेम का भांडार भी है। साथ ही धार्मिक प्रतिबंध के कारण सूफी कवि अपने उपास्य देव के प्रेम के संबंध में स्पष्टत: कुछ भी नहीं कह सकते थे, अत: उन्होंने प्रेम-संबधी अनेक आख्यानों का सृजन किया और उन लौकिक आख्यानों की सहायता से ईश्वर के प्रेम की अभिव्यंजना की। यह अभिव्यंजना संकेत के ही रूप में की गई, और इसी से हिंदी में रहस्यात्मक कविता की सृष्टि हुई। सूफियों के रहस्यवाद के संबंध में तो हम आगे चलकर कहेंगे, यहाँ इतना समझ लेना चाहिए कि सूफी कवियों के आख्यान अधिकतर कल्पित होते थे पर कभी कभी उनमें ऐतिहासिक घटनाओं का भी समावेश होता था। वास्तव में वे अव्यक्त के प्रति प्रेमाभिव्यंजन के उपयुक्त कथानक का इच्छानुसार सृजन करते थे, और ऐतिहासिक तथ्यों का वहीं तक समावेश करते थे जहाँ तक उनसे अलौकिक प्रेम की अभिव्यक्ति में सहायता मिलती थी अथवा बाधा नहीं पड़ती थी। यहाँ यह कह देना भी उचित होगा कि सूफी कवियों के अधिकांश आख्यान हिंदू समाज से लिए गए हैं और हिंदू जीवन से पूरी सहानुभूति रखते हैं। यह उन कवियों के उदार हृदय और सामंजस्य बुद्धि का परिचायक है।

कबीर आदि संतों की बानी अटपटी है। उसमें ब्रह्म की निराकार उपासना का उपदेश दिया गया है और वेदों पुराणों आदि की निंदा करके एक प्रकार के दंभरहित सरल सदाचारपूर्ण धर्म की स्थापना का लक्ष्य रखा गया है। राम और रहीम को एक ठहराकर हिंदू तथा मुसलमान मतों का मेल मिलाया गया है। इसी प्रकार हिंसा और मांस भक्षण का खंडन कर नमाज और पूजा का विरोध करके इन संतों ने किस मार्ग का अनुसरण किया किसका नहीं, यह साधारण जनता की समझ में नहीं आ सकता था। फिर भी कबीर आदि का देश के साधारण जन-समुदाय पर जो महान् प्रभाव पड़ा, वह कहने सुनने की बात नहीं है। वे संत पढ़े लिखे न थे, उनकी भाषा में साहित्यिकता न थी, उनके छंद ऊटपटांग थे तथापि उन्हें जनता ने स्वीकार किया और उनकी विशेष प्रसिद्धि हुई। इसके विपरीत सूफी कवियों के उद्गार अधिकतर शृंखलित और शास्त्रानुमोदित थे, उनकी भाषा भी अच्छी मँजी हुई थी और छंद आदि का भी उन्हें ज्ञान था। इन कवियों की संख्या भी कम न थी। फिर भी यह स्वीकार करना पड़ता है कि देश में सूफी कवियों की न तो अधिक प्रसिद्धि ही हुई और न उनका अधिक प्रचार ही हुआ। इनमें से अनेक कवि तो नामावशेष ही थे। और कठिनाई से उनके ग्रंथों का पता लगा है। संभवतः साहित्यिक समाज में भी इन कवियों का विशेष महत्त्वपूर्ण स्थान कभी नहीं माना गया। इनकी कविताओं के उद्धरण न तो लक्षण ग्रंथों में मिलते हैं और न धार्मिक संग्रहों में ही उन्हें स्थान दिया गया है। संभवतः सूफियों की रहस्योन्मुख भावनाएँ इस देश की जलवायु के उतनी भी अनकूल नहीं थीं जितनी कबीर आदि की अटपटी वाणी थी।

सूफियों की परंपरा

प्रेमाख्यानक सूफी कवियों की धारा के दो प्रसिद्ध कवियों का वर्णन मिलता है, एक तो दाऊद और दूसरे रज्जन। पर इनके काव्य के कोई उदाहरण नहीं मिलते। ऐसा कहा जाता है कि मुल्ला दाऊद ने 'चंदाबन' का काव्य लिखा जिसमें नूरक और चंदा नाम के प्रेमियों की कथा मसनवी ढंग पर कही गई। मुल्ला दाऊद कब हुए इसका पता नहीं, पर पहले पहल फीरोजशाह मुगल के राज्य में उनका उल्लेख मिलता है जिससे अनुमानत: उनका समय १४२७ वि० के पूर्व माना जा सकता है। रज्जन का जन्म १४९२ वि० और मृत्यु १५८१ में हुई। इनकी प्रेमबन जोब निरंजन की रचना कही जाती है। पर इन कवियों की परंपरा हिंदी में कुतबन से आरंभ मानी जाती है। कुतबन शेरशाह के पिता हुसैनशाह के आश्रित थे और चिश्ती वंश के शेख बुरहान के शिष्य थे। इनके प्रेमकाव्य का नाम मृगावती है जो इन्होंने सन् ९०९ हिजरी में लिखा था। चंद्रनगर के अधिपति गणपतिदेव के राजकुमार तथा कंचन नगर की राजकुमारी मृगावती की प्रेमगाथा इसमें अंकित की गई है। प्रेम-मार्ग के कष्ट तथा त्याग आदि का वर्णन करते हुए कुतबन ने अज्ञात की प्राप्ति के कष्टों का आभास दिया है। मृगावती के उपरांत दूसरी प्रेमगाथा मधुमालती लिखी गई जिसकी एक खंडित प्रति खोज में मिली है। इसके रचयिता मंझन बड़े ही सरसहृदय कवि थे। इन्होंने प्रकृति के दृश्यों का बड़ा ही मर्मस्पर्शी वर्णन किया है और उन दृश्यों के द्वारा अव्यक्त की ओर बड़े ही मधुर संकेत किए हैं। प्रेमगाथाकारों में सबसे प्रसिद्ध कवि जायसी हुए जिनका पद्मावत काव्य हिंदी का एक जगमगाता रत्न है। इस काव्य में कवि ने ऐतिहासिक तथा काल्पनिक कथानकों के संयोग से बड़ी ही रोचकता ला दी है। इसमें मानव हृदय के उन सामान्य भावों के चित्रण में

बड़ी ही उदारता तथा सहानुभूति का परिचय दिया गया है जिनका देश और जाति की संकीर्णताओं से कुछ भी संबंध नहीं। प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन करते हुए कवि की तन्मयता इतनी बढ़ जाती है कि वह अखिल दृश्य जगत् को एक निरंजन ज्योति से आभासित पाता और आनंदातिरेक के कारण उसके साथ तादात्म्य का अनुभव करता है। जायसी के उपरांत उसमान, शेख नबी, नूरमुहम्मद आदि अनेक प्रेमगाथाकार हुए पर पद्मावत का सा विशद काव्य फिर नहीं लिखा गया। सगुणोपासक तुलसी, सूर आदि भक्त कवियों के आविर्भाव से प्रेमगाथाकारों की शक्ति बहुत कुछ क्षीण पड़ गई थी।

उपर्युक्त प्रेमगाथाओं में बहुत सी बातें परस्पर मिलती जुलती हैं। एक तो इनकी रचना भारतीय चरितकाव्यों की सर्गबद्ध शैली में न होकर फारसी की मसनवियों के ढंग पर हुई है। जिस प्रकार फारसी की मसनवियों में ईश्वरवंदना, मुहम्मद साहब की स्तुति, तत्कालीन राजा की प्रशंसा आदि कथारंभ के पहले होती थी, उसी प्रकार इनमें भी हैं। प्रेमगाथाओं की भाषा भी प्रायः एक सी है। यह भाषा अवध प्रांत की है। इन प्रेम की पीर के कवियों का प्रधान केंद्र अवध की भूमि ही थी। छंदों के प्रयोग में भी इस समुदाय के कवियों में समानता पाई जाती है। सबने प्रायः दोहों और चौपाइयों में ही ग्रंथरचना की है। ये छंद अवधी भाषा के इतने उपयुक्त हैं कि महाकवि तुलसीदास ने भी अपने प्रसिद्ध रामचरितमानस में इन्हीं छंदों का प्रयोग किया है। चौपाई छंद तो जैसे अवधी भाषा के लिये ही बनाया गया हो, क्योंकि व्रजभाषा के कवियों ने इस छंद का सफलतापूर्वक उपयोग कभी किया ही नहीं। समता की अंतिम बात यह है कि प्रेमगाथाकार सभी कवि मुसलमान थे। एक तो यह संप्रदाय ही मुसल-

मानों के सूफी मत को लेकर खड़ा हुआ था, दूसरे हिंदू कवियों में उसी समय के लगभग सगुणोपासना चल पड़ी और वे व्यक्त के भीतर अव्यक्त का रहस्यमय साक्षात्कार करने की अपेक्षा व्यक्त को ही सब कुछ मानने और अवताररूप में राम और कृष्ण की जीवन-गाथा अंकित करने में प्रवृत्त हुए। मुसलमान प्रारंभ से ही मूर्ति-द्वेषी थे अतः उन्हें सूफियों की शैली के प्रचार का विशेष सुभीता था।

सूफियों की भारतीयता

प्रेममार्गी सूफी कवियों ने प्रेम का चित्रण जिस रूप में किया है, उसमें विदेशीयता ही नहीं है, प्रत्युत भारतीय शैलियों का भी प्रभाव है। एक तो इस देश की रीति के अनुसार नायक उतना प्रेमोन्मुख नहीं होता जितनी नायिका होती है, परंतु जायसी आदि ने फारस की शैली का अनुसरण करते हुए नायक को अधिक प्रेमी तथा प्रेमपात्र की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील दिखाया है। वास्तव में इन कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। सूफी अपने प्रियतम ईश्वर की कल्पना स्त्री के रूप में करते थे। इसलिये जायसी आदि को भी नायक के प्रेम को प्रधानता देनी पड़ी। परंतु भारतीय शैली के अनुसार असंख्य गोपिकाएँ कृष्ण के प्रेम में लीन, उनके विरह में व्याकुल और उनकी प्राप्ति में प्रयत्नशील रहती हैं। वास्तव में यह प्रेम भी अपने शुद्ध रूप में ईश्वरोन्मुख है; क्योंकि भारतीय दृष्टि में कृष्ण भगवान् पूरी कलाओं के अवतार, जगदुद्धारक, योगीश्वर आदि माने जाते हैं—उनके प्रति गोपिकाओं का प्रेम, परमात्मा के प्रति आत्मा का प्रेम समझा जाता है। सूफी कवियों पर इस भारतीय शैली का प्रभाव पड़ा था और उन्होंने प्रारंभ में नायक को प्रियतमा की प्राप्ति के लिये अत्यधिक प्रयत्नशील दिखाकर ही संतोष नहीं कर लिया, वरन् उपसंहार में नायिका (प्रियतमा) के प्रेमोत्कर्ष को भी

दिखाया। दूसरी बात यह भी है कि देश में प्रेम की कल्पना अधिकतर लोकव्यवहार के भीतर ही की जाती है और कर्तव्यबुद्धि से उच्छृंखल प्रेम का नियंत्रण किया जाता है। राम और सीता का प्रेम ऐसा ही है। कृष्ण और गोपिकाओं के प्रेम में ऐकांतिकता आ गई है, परंतु सूफियों के प्रेम की तरह वह भी बिलकुल लोकबाह्य नहीं है। भारतीय सूफी कवियों ने इस देश की प्रेम-परंपरा का तिरस्कार नहीं किया, उनका प्रेम बहुत कुछ लोकव्यवहार के परे है, पर फिर भी असंयत नहीं। जायसी ने तो पद्मावत में नायिका के सतीत्व तथा उत्कट पतिप्रेम आदि का दृश्य दिखाकर अपने भारतीय होने का पूरा परिचय दिया है। इन दो मुख्य बातों के अतिरिक्त प्रेमवर्णनों में अश्लील दृश्यों को भरसक बचाकर, प्रकृति के सुरम्य रूपों को चित्रित कर यहाँ के प्रेममार्गी कवियों ने अपने काव्यों को भारतीय जल-वायु के बहुत कुछ अनुकूल कर दिया।

सूफी सिद्धांत के अनुसार अंत में आत्मा परमात्मा में मिल जाता है। इसी लिये उनकी कथाओं का अंत या समाप्ति दुःखांत हुई है। आरंभ में तो यह बात बनी रही, पर आगे चलकर इस संप्रदाय के कवि यह बात भूल गए; अथवा भारतीय पद्धति का, जो आदर्शवादी थी और जिसके अनुसार दुःखांत नाटक तक नहीं बने, उनपर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उन्होंने नायक और नायिका को भोग-विलास और सुख-चैन में रखकर ही अपने ग्रंथ की समाप्ति की है।

सूफी कवियों का प्रेम ईश्वरोन्मुख था। उन्होंने अपने प्रेम प्रबंधों में यद्यपि लौकिक कथा ही कही है परंतु वह लौकिक

प्रस्तुत में अप्रस्तुत

कथा उनकी हृदयानुभूति के व्यक्त करने का साधन मात्र है। उस कथा से उनका संबंध वहीं तक है जहाँ तक वह उनके ईश्वरोन्मुख प्रेम के अभिव्यंजन में

समर्थ होती है। सूफियों का प्रेम ईश्वर के प्रति होता है; परंतु ईश्वर तो निराकार है, निगुण है, अतः अवर्णनीय है। हाँ, उसका आभास देने के लिये लौकिक कथाओं की सहायता लेनी पड़ी है। पद्मावत की ही कथा को ले लीजिए। उसमें यद्यपि चित्तौड़ के अधिपति रत्नसेन और सिंहलद्वीप की राजकन्या पद्मावती की कथा कही गई है; परंतु जायसी ने कथा के अंत में स्पष्ट कह दिया है कि उनकी यह कथा तो रूपकमात्र है, वास्तव में वे उस ईश्वरीय प्रेम की अभिव्यक्ति कर रहे हैं जो प्रत्येक साधक के हृदय में उत्पन्न होती है और उसे ईश्वर-प्राप्ति की ओर प्रवृत्त करती है। यही नहीं, जायसी ने तो अपने रूपक को और भी खोल दिया है और अपनी कथा के विविध प्रसंगों तथा पात्रों को ईश्वर-प्रेम के विविध अवयवों का व्यंजक बतलाया है। इस प्रकार उनकी पूरी कथा एक महान् अन्योक्ति ठहरती है। सभी प्रत्यक्ष वर्णन अप्रत्यक्ष की ओर संकेत करते हैं, वस्तुतः मुख्य वर्ण्य विषय वे स्वयं नहीं वरन् उनके द्वारा व्यक्त होनेवाला अप्रत्यक्ष है। यह ठीक है कि कवि की दृष्टि ही समीक्षक की भी दृष्टि नहीं होती, अतः साहित्य-समीक्षक सारे वर्णनों को अप्रस्तुत न मानकर बीच बीच में अप्रस्तुत की ओर संकेतमात्र मानते हैं, परंतु संत सूफियों का ठीक आशय समझने में हम भूल नहीं कर सकते। कवि जब पद्मावती के लौकिक रूप-सौंदर्य का वर्णन करता है तो उसका महत्त्व इसी लिये है कि वह उस परम प्रियतम के सौंदर्य का आभास देनेवाला तथा उसके प्रति हृदय में अलौकिक प्रेम को जगानेवाला है। कथा-प्रसंगों में, बीच बीच में, प्रेमी के कष्ट और त्याग आदि के वर्णन मिलते हैं, और अव्यक्त से विशाल प्रकृति के विरह तथा मिलन का ऐसा मर्मस्पर्शी चित्रण मिलता है कि हमारी दृष्टि लौकिक सीमा से ऊँचे उठकर उस

ओर जाती देख पड़ती है जिस ओर ले जाना प्रेममार्गी संत कवियों का लक्ष्य था।

यद्यपि प्रेममार्गी कवियों का उद्देश एक लौकिक कथा के आवरण में अलौकिक प्रेम प्रकट करना था परंतु इस उद्देश की प्रधानता देखते हुए भी हम उन कथाओं को कहीं उखड़ी हुई या अनियमित नहीं पाते। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जब कथा कहने के उद्देश से भिन्न किसी अन्य उद्देश से प्रबंध रचना की जाती है, तब वह प्रबंध आवश्यकतानुसार घुमा फिराकर बनाया जाता अथवा तोड़ मरोड़कर बिगाड़ा जाता है। हिंदी के कवि केशवदास इसके प्रमुख उदाहरण हैं। उनकी रामचंद्रिका यद्यपि रामायण की कथा को ही लेकर चलती है परंतु उसमें प्रबंध की वह एकता नहीं है जो राम की जीवनी में थी। रामचंद्रिका के विविध पात्र जब जो इच्छा होती है कहते हैं; न तो चरित्र-चित्रण की ओर ध्यान दिया जाता है और न कथा की रचना की ओर। उसमें तो कभी राम कौशल्या को पातिव्रत्य आदि की शिक्षा देते हैं, कभी पंचवटी वनधूर्जटी के गुण धारण करती और कभी प्रकृति के रमणीय दृश्य प्रलयकाल की भाँति भयानक देख पड़ते हैं। केशवदास का उद्देश रामायण की कथा लिखना नहीं था; अपने पांडित्य का प्रदर्शन करना था; इसी लिये जो कथा रामचरितमानस में आकर एक सर्वोत्तम प्रबंध के रूप में बन गई है, वही रामचंद्रिका में पड़कर पूर्वापर-संबंध-रहित फुटकर पद्यों का संग्रह मात्र रह गई है। प्रेमगाथाकारों की भी यद्यपि केशवदास की सी परिस्थिति थी, उन्हें भी कथा के बहाने आध्यात्मिक तत्त्व के निरूपण की चिंता थी, परंतु केशव की भाँति उन्होंने कथा का अंग-भंग कर अपनी 'हृदय-हीनता' का परिचय नहीं दिया है, वरन् बड़ी ही सरस संघटित कथाओं का सृजन किया है और

उनके निर्वाह का समुचित ध्यान रखा है। उनकी यह विशेषता प्रशंसनीय है। ऐतिहासिक कथाओं में काल्पनिकता का पुट देकर यद्यपि इतिहास की दृष्टि से इन कवियों ने कुछ अन्याय किया है परंतु साहित्यिक दृष्टि से उन्हें इसके लिये भी साधुवाद ही मिलना चाहिए; क्योंकि ऐसा करके कथा में रोचकता और रमणीयता ही लाई गई है जो साहित्य के लिये गौरव की बात है।

सूफी प्रेममार्गी कवियों के ग्रंथ अधिकतर प्रबंधशैली में ही लिखे गए थे अतः उनमें कथानक की रमणीयता तथा संबंध-निर्वाह की ओर ध्यान दिया गया था। साथ ही हमको यह भी देखना होगा कि उन कथाओं के बीच बीच में दिया हुआ वस्तुवर्णन कैसा है और प्रसंगानुकूल भावों की व्यंजना कैसी हुई है।

वस्तुवर्णन और भावव्यंजन

वस्तुवर्णन की दो मुख्य शैलियाँ हो सकती हैं। एक में तो कवि अत्यंत साधारण रूप से वस्तु का उल्लेख कर देता है और आगे अपनी कथा कह चलता है, दूसरी में वह सूक्ष्मता से वस्तुओं का चित्रण करता है और उनका एक चित्र सा खड़ा कर देता है। पहली शैली में घटनाओं को प्रधानता दी जाती है और वस्तुओं का वर्णन गौण स्थान पाता है, दूसरी में वस्तुवर्णन अपना अलग अस्तित्व रखता और स्वतंत्र रीति से काव्यत्व का अधिकारी होता है। दोनों ही अपना अपना महत्त्व रखती हैं। पहली में कवि वस्तुवर्णन की ओर अधिक ध्यान न देकर घटनाओं को अधिक मर्मस्पर्शी बनाता है और पाठक भी अधिक तन्मयता से कथा सुनता है, दूसरी में कवि का काव्यचमत्कार अधिक परिलक्षित होता है और पाठक का ध्यान वर्णित वस्तुएँ भी उतना ही खींचती हैं जितना वर्णित घटनाएँ। प्रबंधकाव्यों में कुछ महान् घटनाओं का होना आवश्यक होता है, अतः उन्हें यथासंभव मर्मस्पर्शी बनाकर पाठकों का ध्यान

उन्हीं की ओर खींचना जिन कवियों को अभीष्ट होता है, वे अपनी सारी शक्ति उसी ओर लगाते हैं; और कथाप्रसंग में आई हुई प्रत्येक वस्तु का स्वरूप प्रत्यक्ष करने की उतनी अभिलाषा नहीं रखते। साथ ही जिन कवियों को पद पद पर सरलता और काव्यत्व लाने का ध्यान रहता है, वे बड़ी ही सूक्ष्म दृष्टि से सृष्टि की सभी वस्तुओं का निरीक्षण करते और अपने ग्रंथों में उनका संश्लिष्ट चित्रण करते हैं। अवश्य ही ऐसा करने से उनके ग्रंथ रमणीय हो जाते हैं; पर प्रबंधकाव्य के अनुकूल जीवन की गंभीर समस्याओं से पाठकों का ध्यान बटकर वर्णित वस्तुओं की ओर चला जाता है, जो अनेक कवियों को अभीष्ट नहीं होता। प्रेममार्गी कवियों का वस्तुवर्णन विशेष आकर्षक नहीं बन सका। उन्हें तो कथा के भीतर से किसी अन्य ही सत्य की व्यंजना करनी थी; अतः वस्तुएँ ही नहीं, सारा कथानक ही उनके लिये उसी सीमा तक महत्त्व रखता था जहाँ तक उनके उस सत्य के अभिव्यंजन में वह सहायक या उपयोगी होता। ऐसी अवस्था में उनसे रमणीय वस्तुवर्णन की आशा भी नहीं रखी जा सकती। हाँ जहाँ कथा-प्रसंग के बीच में प्रेम के त्याग, कष्ट अथवा ईश्वरीय विरह-मिलन आदि के संकेत हैं, वहाँ वस्तुओं का वर्णन भी विशेष रोचक कर दिया गया है।

दूसरी बात भाव-व्यंजना की है। भारतीय काव्य समीक्षा में रति, शोक, उत्साह, क्रोध आदि नौ स्थायी भाव माने गए हैं तथा इन्हें पुष्ट करनेवाले असूया, गर्व, व्रीड़ा आदि कई संचारी भावों की कल्पना की गई है। कवि की दृष्टि जितनी ही व्यापक होगी वह उतने ही अधिक विस्तृत तथा उत्कर्षपूर्ण ढंग से भावों की व्यंजना करेगा। किन प्रसंगों में कैसे भावों की कितनी तीव्रता दिखानी चाहिए, इसका ध्यान भी कवियों को रखना पड़ता है। हिंदी के सूफी कवियों की दृष्टि बड़ी व्यापक और तीव्र है।

वे कहीं कहीं बड़े ही सूक्ष्म भावों तक अपनी पहुँच दिखाते हैं। उनके रति तथा शोक आदि के वर्णन अधिक भावपूर्ण हुए हैं। जायसी ने युद्धोत्साह की भी अच्छी झलक दिखलाई है। फिर भी हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि जीवन को व्यापक रीति से देखकर विविध भावों का सन्निवेश करने में ये कवि उतने सफल नहीं हुए जितने महाकवि तुलसीदास हुए, और न उनकी अंतर्दृष्टि उतनी सूक्ष्म है जितनी महात्मा सूरदास की। परंतु इससे उनकी महत्ता कम नहीं होती; क्योंकि तुलसीदास और सूरदास तो हिंदी के दो अन्यतम कवि हैं। इनकी समता न कर सकने में सूफी कवियों के गौरव में कमी नहीं पड़ती। इन दोनों को छोड़कर विचार करने पर प्रेममार्गी कवियों की भाव व्यंजना हिंदी के अन्य बड़े कवियों की तुलना में उच्च स्थान की अधिकारिणी है।

अलंकार, छंद, भाषा आदि साहित्यिक समीक्षा के प्रश्नों पर हम पीछे विचार करेंगे, पहले प्रेममार्गी कवि-संप्रदाय के मतों और सिद्धांतों को संक्षेप में समझ लेना ठीक होगा। ये कवि मुसलमानों के सूफी मत के माननेवाले थे।

मत और सिद्धांत

यद्यपि सूफी लोग अपने मत का समर्थन कुरान से ही करते हैं परंतु उसका प्रचलन मुहम्मद की मृत्यु के उपरांत दूसरी या तीसरी शताब्दी में हुआ था। इस मत के विकास में अनेक बाहरी प्रभाव सहायक हुए थे जिनमें मुख्य भारतीय अद्वैतवाद था। प्रारंभ में सूफी संप्रदाय सामान्य मुसलमान धर्म की एक शाखा विशेष था जिसमें सरल जीवन व्यतीत करने की प्रवृत्ति थी। पीछे से इसमें चिंतनशीलता बढ़ी और इसके अनुयायी ईश्वर के संबंध में सूक्ष्म तत्त्वों का अनुसंधान करने लगे। मुसलमानों के मत में तो ईश्वर एक है, विश्व का स्रष्टा है और सबका मालिक है। स्रष्टा और मालिक होने में यद्यपि स्थूल साकारता का बोध होता है, पर

मुसलमानों के खुदा बराबर निराकार ही बने रहे। परंतु सूफियों के चिंतन से उनमें एक नए मत का सृजन हुआ। सूफी मुसलमानी एकेश्वरवाद से ऊँचे उठे और जीव तथा जगत् को भी ईश्वर या ब्रह्म ही समझने लगे। आत्मा और परमात्मा का अभेद प्रतिष्ठित हुआ। कट्टर मुसलमानों के मत में यह कुफ़्र ठहरा, पर सूफियों का यही मत था। "अनलहक" "अनलहक" कहता हुआ सूफी मंसूर सूली पर चढ़ा था।

प्रारंभ में जब सूफियों के मत का प्रचार हुआ था तब उन्हें अनेक प्रकार के अत्याचार सहने पड़े थे। जीव और जगत् को भी ब्रह्म मान लेने के कारण वे प्रकृति के अणु अणु में उसी चेतन सत्ता का साक्षात्कार करते और भाव-मग्न होते थे। मुसलमानों के खुदा तो बिहिश्त के निवासी, मनुष्यों के निर्माता और नाशकर्ता होते हुए भी निराकार निर्लेप बने रहे, पर सूफियों के नवीन संप्रदाय में प्रेम की इतनी प्रधानता हुई कि सृष्टि के रोम रोम में उन्हें आनन्द की झलक देख पड़ने लगी। जब सर्वत्र ब्रह्म है, तब बुत में भी ब्रह्म का होना अनिवार्य है, अतः सूफियों को हुस्ने-बुताँ के पर्दे में "वही" देख पड़ने लगा। यद्यपि खुदावाद की निराकार भावना सूफियों में बनी रही पर उनमें अत्यधिक सरसता और उदारता आदि वृत्तियाँ फैलीं और कट्टरपन का तो एकदम अंत हो गया।

नवोत्थित सूफी संप्रदाय में भारतीय अद्वैतवाद की गहरी छाप देख पड़ी। यह सूफी मत भारत में पहले-पहल सिंध प्रांत में फैला, फिर देश के अन्य भागों में भी इसका प्रचार हुआ। थोड़े समय के उपरांत जब इस देश में वैष्णव धर्म की लहर चली, तब सूफियों पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। प्रेमपूर्ण वैष्णव धर्म शाक्तों और शैवों के विरुद्ध उठ खड़ा हुआ था और उसने

अहिंसा आदि पर विशेष जोर डाला था। "हरि को भजै सो हरि को होई" के आधार पर मनुष्य मनुष्य का साम्य स्थापित हुआ था और यही साम्य अधिक विस्तृत होकर पशुओं पक्षियों पर दया दिखाने, उनका वध न करने आदि रूपों में भी फैला था। सूफियों ने वैष्णव धर्म की यह शिक्षा ग्रहण की थी और वे भी अहिंसावादी बन गए थे।

उपनिषदों के अन्य अनेक वादों को भी सूफियों ने ग्रहण किया था। प्रतिबिंबवाद के अनुसार नाम-रूपात्मक जगत् ब्रह्म का प्रतिबिंब है। ब्रह्म बिंब है और जगत् उसका प्रतिबिंब। जायसी ने पद्मावत में कई स्थानों पर प्रतिबिंबवाद से अपना मत-साम्य दिखलाया है। सृष्टि की उत्पत्ति के संबंध में यद्यपि प्रधानता मुसलमानी मतों को ही दी गई है, परंतु भारतीय शैली का भी बीच बीच में सम्मिश्रण हुआ है। भारतीय पंचभूतों के स्थान पर सूफियों को चार ही भूत मान्य थे। आकाश की गणना वे भूतों में नहीं करते थे। उनकी दृष्टि उतनी सूक्ष्मता को नहीं पहुँच सकी थी। इसी प्रकार पतंजलि द्वारा निरूपित योग की क्रियाओं को हठयोगियों आदि ने जो अपने मतानुसार विकसित किया था, उन्हें भी सूफियों ने ग्रहण किया। जायसी आदि में कबीर की ही भाँति स्थान स्थान पर इन क्रियाओं का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार कई प्रकार के सिद्धांतों के सम्मिश्रण से भारतीय सूफीमत की उत्पत्ति और उसका विकास हुआ। हिंदी के सूफी कवि शास्त्रों के उतने पंडित नहीं थे जितने वे उदारहृदय, सत्संगी तथा सारग्राही थे। उन्होंने अनेक संप्रदायों की अनेक बातें ग्रहण कीं और उनसे अपने प्रेममार्ग की पुष्टि की। उनकी ईश्वर की उपासना माधुर्य भाव की थी। ईश्वर उनका प्रियतम है, वे ईश्वर के प्रिय हैं। मनुष्य मनुष्य के बीच के व्यवहारों में

भी इन कवियों ने बड़ी उदारता दिखलाई है। हाँ, कहीं कहीं तत्कालीन सामाजिक स्थिति के कारण उनमें कुछ संकीर्णता भी देख पड़ती है; जैसे स्त्रियों के प्रति व्यवहार में, पर यह काल-दोष था। इसमें कवियों का उत्तरदायित्व अधिक नहीं।

रहस्यवाद

सूफियों की रहस्यप्रियता के संबंध में हम पहले भी कह चुके हैं। यहाँ हम स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि वास्तविक रहस्यवाद की कविता हिंदी में इसी कवि-संप्रदाय की मिलती है। मनुष्य की साधारण अनुभूतियों से ऊपर उठने पर साधक की भावना जब अज्ञात तत्त्वों को प्रत्यक्ष करने लगती है, तब अनेक रूपों में रहस्यवाद की सृष्टि होती है। कबीर आदि संतों का रहस्यवाद आत्यंतिक निर्गुण सत्ता का निर्देश करता है; अतः वह काव्य में उतना विस्तार न प्राप्त कर सका जितना जायसी आदि सूफियों का। कबीर का रहस्यवाद दार्शनिक रहस्यवाद कहा जा सकता है और जायसी का रहस्यवाद माधुर्य-भावना का रहस्यवाद कहा जा सकता है। साधकों के पक्ष में न तो यह रहस्यवाद है और न रहस्य-भावना में ही अंतर है। वे तो इस अनित्य जगत् की साक्षी स्वरूप नित्य और परोक्ष सत्ता का साक्षात्कार करते हैं और तन्मयता की अवस्था में जो कुछ उनके उद्गार होते हैं, वही रहस्यवाद की कविता बन जाते हैं। कबीर के लिये वह रहस्य नहीं है; क्योंकि वे उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। रहस्य तो वह साधारण पाठकों के लिये है। जायसी ने अपनी रहस्यात्मकता को दृश्य जगत् के नाना रूपों का अव्यक्त के साथ संबंध चरितार्थ करते हुए दिखाया है। कभी जब यह दृश्य जगत् अव्यक्त से वियुक्त होता है, तब वियोग के कितने ही व्यापक और रमणीय दृश्य दिखाई पड़ते हैं, कभी जब इसका उसके साथ संयोग होता है, तब सारी प्रकृति मानों आनंदोल्लास से

नाच उठती है। इस प्रकार प्रकृति की ही सहायता से जायसी का रहस्यवाद व्यक्त हुआ है। इसके विपरीत कबीर ने वेदांत के अनेक वादों तथा अन्य दार्शनिक शैलियों का अनुसरण करते हुए रहस्योद्गार व्यक्त किये हैं। कविता की दृष्टि से कबीर का रहस्यवाद ओज और प्रकाशपूर्ण है और सूफियों का माधुर्य और रसपूर्ण है। कबीर एकमात्र निर्गुणोपासक हैं और सूफी अव्यक्त के प्रेममूलक उपासक हैं। प्रेम से अव्यक्त को व्यक्त रूप में प्रकट करते हैं।

छंद और अलंकार

छंदों और अलंकारों के संबंध में संक्षेप में इतना कहा जा सकता है कि सभी सूफी कवियों के छंद अधिकतर दोहे और चौपाई तक ही सीमित रहे और अलंकार कहीं भी भार या आडंबर नहीं बन बैठे। इन दोनों ही बातों से इन कवियों की सरलता का पता चलता है और यह आभास भी मिलता है कि उन्हें भावों और विचारों को व्यक्त करने का सबसे अधिक ध्यान था और छंद अलंकार आदि भावों के उत्कर्ष में सहायक मात्र समझे गए थे, इससे अधिक उनका महत्त्व न था। प्रबंधकाव्य में विभिन्न छंदों का आधिक्य उचित होता है या नहीं, इस संबंध में मतभेद हो सकता है। संस्कृत के काव्यों में अनेक प्रकार के छंद व्यवहृत हुए हैं। कालिदास के रघुवंश, कुमारसंभव आदि काव्य इसके उदाहरण हैं। हिंदी में एक ओर केशवदास हैं जिनकी रामचंद्रिका बहुविध छंदों का आगार है और दूसरी ओर तुलसीदास का 'रामचरितमानस' है जिसमें दोहे और चौपाइयों के अतिरिक्त अन्य छंद बहुत थोड़ी संख्या में आए हैं। यदि रामचंद्रिका और रामचरितमानस में, किसी को छंदों की सुघरता और संगीतात्मकता की दृष्टि से प्रधानता देनी हो तो हम रामचरितमानस को ही

चुनेंगे। छंद एक-सा रहने से पाठक को रसस्रोत में बहने की एक अगाध धारा सी मिल जाती है। यद्यपि कभी-कभी उस धारा से निकलने के लिये जी उत्सुक होता है, कभी-कभी जी ऊब भी जाता है, पर पद पद पर नए नए छंदों के प्रवाह में टकराते हुए बहना तो किसी को कदाचित् ही पसंद हो। जहाँ भावधारा एक ही गति से बह रही है वहाँ नवीन छंदों का प्रयोग तो विक्षेप ही करता है। फिर सब कवि संगीत-विद्या के विशारद नहीं होते। वे प्रायः मनमाने छंदों का प्रयोग कर देते हैं और भावानुकूलता का विचार नहीं रखते। इस दृष्टि से सूफी कवियों ने केवल दोहे और चौपाई को चुनकर यद्यपि पाठकों के ऊबने की जगह रख छोड़ी है, फिर भी हमारी सम्मति में इसके लिये उन्हें दोषी ठहराना उचित न होगा। चौपाइयों के अंत में ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों का समावेश करके तथा दोहों में यति को विभिन्न स्थानों में रखकर मनोविनोद का साधन उपस्थित किया गया है। इसके अतिरिक्त छंदों की एकरूपता भावों की प्रचुरता के सामने बहुत कुछ दब जाती है।

एक और बात यहाँ जान लेना आवश्यक है। चौपाई में, जैसा कि उसके नाम से ही विदित होता है, चार पद होने चाहिए। पर इन मुसलमान कवियों ने उसे दो ही पदों का माना है क्योंकि प्रत्येक दोहे के बीच में जितनी चौपाइयाँ आई हैं, उनकी संख्या सम नहीं है। कहीं छः द्विपदियों पर, कहीं सात द्विपदियों पर और कहीं आठ द्विपदियों पर दोहे दिए गए हैं। तुलसीदास जी ने अपने रामचरितमानस में इन द्विपदियों की संख्या भी सब स्थानों पर एक सी नहीं रखी है।

अलंकारों में अर्थवाले अलंकार प्रधान हैं, शब्दवाले अप्रधान। प्रेममार्गी कवियों ने शब्दालंकारों पर बहुत ही कम ध्यान दिया

है—प्रायः कुछ भी नहीं। उनकी यह निरपेक्षता खटकने की सीमा तक पहुँच जाती है। परंतु इसकी कमी अर्थालंकारों में पूरी करने की चेष्टा की गई है जो सफल भी हुई है। इन कवियों ने सादृश्यमूलक उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का अधिक प्रयोग किया है। जायसी को हेतूत्प्रेक्षा सबसे अधिक प्रिय है। हेतूत्प्रेक्षा की सहायता से वे अपनी साधारण अनुभूतियों को व्यक्त करने में, अथवा उनकी ओर संकेत करने में सफल हुए हैं। कहीं कहीं अलंकारों का ऐसा सम्मिश्रण भी किया गया है जिससे उन कवियों में सूक्ष्म शास्त्रीय अभिज्ञता का अभाव लक्षित होता है पर अधिकांश स्थलों में सुंदर अलंकार आए हैं। शब्द की लाक्षणिक शक्ति का प्रचुर उपयोग भी मिलता है। इन कवियों के प्रायः सब काव्य व्यंजना से युक्त हैं। उनकी व्यंजना परमार्थ तत्त्व की ओर है, और कहीं-कहीं काव्य-धारा में आई हुई समासोक्तियाँ वास्तव में अनुपम हुई हैं। सारांश यह कि अर्थालंकार प्रायः प्रसंगानुकूल और उपयोगी हैं, केशव तथा अन्य शृंगारी कवियों की भाँति भरती के नहीं।

भाषा

सूफी कवियों की भाषा अवध की हिंदी है। हिंदी के वीरगाथा काल में कविता का क्षेत्र राजपूताने का पश्चिमी प्रांत तथा दिल्ली के आसपास की भूमि था, अतएव उस काल की रचनाओं में वहीं की भाषा का अधिक प्रयोग हुआ। वह भाषा शौरसेनी प्राकृत तथा नागर अपभ्रंश से निकलकर उसी समय हिंदी में आई थी; अतः तब तक वह बहुत कुछ उखड़ी हुई, असंयत और भद्दी थी। व्याकरण के नियमों का अनुशासन तो दूर रहा, उसमें बिलकुल बेठिकाने की उत्पत्ति के अनेक शब्दों का अनेक रूपों में प्रयोग हुआ है। भाषा की प्रारंभिक अवस्था में ऐसा होना स्वाभाविक भी है। धीरे धीरे

उस भाषा का विकास होने लगा। हिंदी में वीरगाथा काल के उपरांत जब वैष्णव आंदोलन की लहर चली और कबीर आदि संतों का आविर्भाव हुआ, तब हिंदी कविता का क्षेत्र राजपूताने आदि से हटकर पूर्व की ओर आया। कबीर की भाषा में राजस्थानीपन तो है, पर उसमें ब्रज और अवधी क्रियाओं के रूप तथा बिहारी प्रयोग भी कम नहीं हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि कबीर के द्वारा भाषा का भद्दापन दूर हुआ हो। हाँ, विकास-क्रम के अनुसार वीरगाथाओं की भाषा से कबीर की भाषा संयत और नियमित अवश्य है। भाषा का जैसा सुंदर सुधार सूफी कवियों ने किया वैसा हिंदी में पहले कभी नहीं हुआ था। सूफियों की भाषा अवध की थी, जिसकी उत्पत्ति अर्धमागधी से मानी जाती है। जायसी आदि ने उसे परिमार्जित कर अत्यंत शुद्ध बना दिया और उसमें व्याकरण-विरुद्ध प्रयोगों को न आने दिया। यद्यपि कहीं कहीं अरबी फारसी के शब्द भी आए हैं और कहीं कहीं अवधी तोड़ी मरोड़ी भी गई है परंतु अधिकांश कवियों ने यथा-संभव शुद्ध अवधी का ही प्रयोग किया है। अवधी का यह माधुर्य लोकभाषा का माधुर्य है, संस्कृत का नहीं। तुलसीदास के रामचरितमानस में जो भाषा है उसमें संस्कृत की प्रचुरता के कारण एक नवीन सौंदर्य आ गया है जो ठेठ अवधी के सौंदर्य से भिन्न है। हम कह सकते हैं कि सूफी कवियों की अवधी बोलचाल की परिमार्जित भाषा थी, तुलसीदासजी की अवधी ने साहित्यिक रूप धारण किया। एक का दूसरे के अनंतर विकास सर्वथा स्वाभाविक था। सूफी संप्रदाय के कुछ विशिष्ट कवियों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

ये विक्रम की सोलहवीं शताब्दी के मध्यभाग में शेरशाह के पिता हुसैनशाह के आश्रय में रहते थे। चिश्ती वंश के प्रसिद्ध

शेख बुरहान इनके गुरु थे। हिंदी के सूफी कवियों में ये ही सबसे पहले हुए और इनकी रचित "मृगावती" का नामोल्लेख जायसी ने अपने पद्मावत में किया है—"राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ।"

कुतबन

मृगावती का रचनाकाल सं० १५६६ है। इस पुस्तक में गणपतिदेव के पुत्र और मृगावती की प्रेमगाथा अंकित की गई है। गणपतिदेव चंद्रनगर के राजा हैं और मृगावती कंचनपुर की राज कन्या है। चंद्रनगर का राजकुमार कंचनपुर की राजकुमारी को देखकर मोहित हो गया पर राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी, इससे वह राजकुमार को मिल न सकी। अनेक कष्ट उठाने पर अंत में मृगावती से उसकी भेंट हुई। इसी बीच में उसने रुकमिनी नामक एक सुंदरी को राक्षस के हाथ से बचाकर अपनी प्रेमिका बना लिया था। मृगावती और रुकमिनी दोनों उसकी रानियाँ हुईं। एक दिन वह हाथी से गिरकर मर गया। मरने पर दोनों रानियों के सती होने का मर्मस्पर्शी चित्र दिखाया गया है। कुतबन की यह गाथा काल्पनिक है। इसके बीच बीच में प्रेममार्ग की कठिनाई का भीषण चित्र है और अनेक रहस्यात्मक स्थल हैं।

रुकमनि फुनि वैसेहि मर गई। कुलवंती सत सों सति भई।
बाहर वह भीतर वह सोई। घर बाहर को रहै न सोई।
विधि का चरित न जाने आनू। जो सिरजै सो नाहिं विरानू।
गंगतीर लैके सर रचा। पूजी अवध कहीं जो बचा।
राजा संग जरी रानी चौरासी। ते सबके गए इन्द्रकविलासी।

मृगावती औ रुकमिनी, लैके जरी कुँवर के साथ।
भसम भई जर विलक में, चिन्ह न रहा गात॥

जायसी ने अपने पद्मावत में मृगावती की भाँति मधुमालती की प्रेमगाथा का भी उल्लेख किया है। मधुमालती की अभी तक कोई संपूर्ण प्रति प्राप्त नहीं हुई है। इसकी रचना मंझन नाम के सूफी कवि ने पद्मावत की ही भाँति दोहे चौपाइयों में की। इसके रचनाकाल का ठीक पता नहीं, पर यह पद्मावत के पूर्व लिखी ही नहीं जा चुकी थी वरन् भली भाँति प्रसिद्ध भी हो चुकी थी और पद्मावत की रचना सं० १५९७ में हुई अतः उसके कुछ वर्ष पूर्व ही इसका रचा जाना निश्चित है। जायसी ने जिस क्रम से इनका उल्लेख किया है उससे मधुमालती का मृगावती के पीछे लिखा जाना विदित होता है। इस प्रकार हमारे विचार से मधुमालती की रचना सं० १५७५-८५ के लगभग हुई।

मंझन

मधुमालती की कथा मृगावती की अपेक्षा अधिक रोचक और जटिल है, वर्णन भी अधिक विशद है। इसमें राजकुमार मनोहर और राजकुमारी मधुमालती के प्रेम की कथा कही गई है। इस कथा की एक यह विशेषता है कि नायक और नायिका के साथ उपनायक ताराचंद और उपनायिका प्रेमा की भी कल्पना की गई है जो नायक तथा नायिका के मिलन में सहायक होते हैं। मनोहर ने एक राक्षस से प्रेमा का उद्धार किया था, अतः प्रेमा के माता-पिता ने उसका विवाह मनोहर से करना चाहा, पर प्रेमा ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि यह मेरा भाई है, और उसने मधुमालती से मिलाने में मनोहर की सहायता की। मधु-मालती की माता ने मनोहर से प्रेम करने के कारण उसे शाप देकर पक्षी बना डाला था और वह उड़ते उड़ते पक्षी के ही रूप में ताराचंद के हाथ में पहुँच गई थी। ताराचंद ने उसके विरह की कथा सुनकर उसे मनोहर से मिलाने में सहायता की और मधुमालती के माता-पिता की इच्छा होने पर भी उसने मधुमालती

से विवाह करना अस्वीकार किया। इस प्रकार मनोहर और मधुमालती का विवाह हो गया।

जायसी के अतिरिक्त उसमान ने अपनी चित्रावती में भी मधुमालती की कथा का उल्लेख किया है—

मधुमालति होइ रूप देखावा। प्रेम मनोहर होइ तहँ आवा॥

और दखिनी तथा फारसी में कई कवियों ने इसके आधार पर प्रेम कहानियाँ लिखीं। इससे विदित होता है कि इसकी पर्याप्त प्रसिद्धि हुई थी। मधुमालती का कुछ अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

कहा कुँवर जिन रोवहु माता। श्रवन सुनहु कछु कहूँ जो बाता॥
पंखि एक पकरि मैं पाई। बोलत सबद बिचित्र सोहाई॥
रही अोंक दिन जारा बोली। बहुरि कहेस मोहि दुख सब खोली॥
कहेस मोहि मधुमालति नाऊँ। बिक्रम पिता महारस ठाऊँ॥
मातहिं नाउँ रूपमंजरी। कठिन हियें अति निरदय धरी॥
और सबै दुख आपन कहेसि जो मोहि सें रोइ।
सुनत बात दुख वहिके गइ सुधि बुधि मम खोइ॥
सुनि वहि दुख उपजी चित मया। छाड्यों धरम लागि सब दया॥
कह्यों न मन चित चिंता करहू। करौं सोइ जाहीं औधरहू॥
अतोवन धरम पंथ चढ़ि सोई। तू अधार जाहि बुधि खोई॥
छाड़्यों राजपाट सुख चाऊ। उठ्यों दइय लागि बउसाऊ॥
बाचा बाँधि पिंजर सिर धरी। निसर्यों राजपाट परिहरी॥
फुनि रानी के आगे लेकर पिंजर धर्यो कुमार।
देखि दफार खाल कै रोई को कहि आगि कैं झार॥
फुनि पिंजर उर लायेस धाई। देख धधाकत रहे न रोआई॥
खिन खिन निरखि निरखि कत बारी। नैन नीर नहिं रहहिं पनारी॥
सखी कहहिं तजु रानी उदासा। करहु हरख मन पूजी आसा॥

अही जो दुख की दही निरासी । सूर उदै जिम कमल बिगासी ॥
दुख करार तरु निज तन भाजा । सुख मयूर सिखर चढ़ि गाजा ॥
घर घर नगर बधाई आनंदित सब परिवार ।
मधुमालति कर बहुरि जनि भा दुसरैं अवतार ॥
घर घर पर अस चाह जनाई । गई जो हुति मधुमालति आई ॥
हरषवंत सब नगर उछाहा । पुर आपन जहवाँ लहि आहा ॥
नगर जो अहा सबहि दुख बोरा । जनि बसंत नौ रितु बन मोरा ॥
रानि कुँवर पाँयनि सिर लावा । चरन रेनु लै सीस चढ़ावा ॥
कही कुँवर पुरषारथ तोरें । निसरत प्रान रहा घट मोरें ॥
बहुरि कुँअर कह रानी सभी सहित समुदाय ।
तजि मालिन की बारीं राजगृह ले आय ॥
हरषित सभी कुटुम परिवारा । जानहु आज औतरी बारा ।
खस चंदन सब मँदिर लिपावा । रात पटोर ताहि पर लावा ।
आनि अनूप दसावन दासी । सुरंग सुहाइ सुवासित बासी ।
कुँवर पाट बइसारयो आनी । धारी चँवर सीस पर रानी ।
फुनि मधुमालति राजदुलारी । रानी आनि आगे बैसारी ॥
रूपमंजरी फुनि पढ़ि छिरक्यो मधुमालति मुख नीर ।
पहिले रूप भई बर कामिनि परिहरि पंछि सरीर ॥
जब उधरी पंछि सें बारा । ले दरपन तब बदन निहारा ॥
पहिल रूप आपन जब पायो । हाथ जोरि हरकेउ सिर नायो ॥
फुनि ले सखिन्ह तुरत अन्हवाई । बसन अनूप आनि पहिराई ॥
तौ अभरन पहिरायो आनी । अंग न समाइ देखि महरानी ॥
घरी घरीं आरति सिर वारी । औ खिन खिन कहि अंकम सारी ॥
फुनि राजा औ रानी दुहुँ मिलि अस मँत कीन्ह बिचारि ।
ताराचंद कुँवर कहँ आभयउ राजकुँवरि बर नारि ॥

प्रेममार्गी सूफियों में जायसी ही सर्वप्रधान हुए। पद्मावत और अखरावट इनके रचे दो ग्रंथ मिले हैं जिनमें पद्मावत प्रधान है। अभी थोड़े दिन हुए उनकी 'आखिरी कलाम' नाम की रचना खोज में मिली है। 'आखिरी कलाम' के अनुसार जायसी का जन्म सन् ९०० हिजरी (सं० १५५०) तथा रचनाकाल का आरंभ सन् ९३० हि० (सं० १५८०) है। पद्मावत की रचना सं० १५९७ में शेरशाह के राजत्व-काल में हुई। पद्मावत की कथा में ऐतिहासिकता और काल्पनिकता का अच्छा समन्वय हुआ है। अखरावट में अक्षरक्रम से सूफी सिद्धांतों और ईश्वर तथा जगत् विषयक व्यवहारों का निरूपण है। 'आखिरी कलाम' में जायसी ने मुसलमानी मजहब की मान्यताओं का निर्देश किया है और इसमें मजहबी कट्टरता का भी पुट है।

मलिक मुहम्मद जायसी

मलिक मुहम्मद अवध प्रांत के जायस कसबे के रहनेवाले थे। इनके गुरु प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख मोहदी थे। अनेक पंडितों और साधुओं का इन्होंने सत्संग किया था और बड़ी जानकारी प्राप्त की थी। वेद, पुराण, कुरान आदि प्रसिद्ध धर्म-ग्रंथों की अनेक बातें इन्हें साधु-संगति से ही मालूम हुई थीं क्योंकि ये बहु-पठित न थे। इनका भ्रमण भी बड़ा विस्तृत रहा होगा; क्योंकि पद्मावत में देश भर के भिन्न भिन्न स्थलों की भौगोलिक स्थिति का जो उल्लेख है, वह बहुत कुछ ठीक है।

पद्मावत में प्रेम-मार्ग की जो मर्मस्पर्शिणी कथा है वह स्वर्गीय प्रेम की अत्यंत व्यापक भावना से समन्वित है। क्या कथा के निर्वाह का ढंग, क्या प्रसंगानुकूल भावों की व्यंजना और क्या वर्णनों की उपयुक्तता, सभी प्रशंसनीय हैं। यत्र तत्र अलंकारों का उपयोग भी बड़ा सुंदर बन पड़ा है। प्रकृति के नाना दृश्यों के

द्वारा अज्ञात के प्रति जो संकेत हैं, वे जायसी की उच्च अनुभूति के परिचायक हैं। रतनसेन जब पद्मावती को प्राप्त करने सिंहल द्वीप चला जाता है तब नागमती ने जो विरह विलाप किया है उसका वर्णन अत्यंत व्यापक और मर्मस्पर्शी है—

जेहि पंखी के नियर होइ, कहै विरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात॥
कुहुकि कुहुकि जस कोइल रोई। रकत आँसु घुंघुची बन सोई॥
भइ करमुखी नैन तन राती। को सेराव विरहा दुख ताती॥
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बन बासी। तहँ तहँ होइ घुँघुचि कै रासी॥
बूँद बूँद महँ जानहु जीऊ। गुंजा गूँजि करै पिउ पीऊ॥
तेहि दुख भए परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे होइ राते॥
राते बिंब भींजि तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहूँ॥
देखौं जहाँ होइ सोइ राता। जहाँ सो रतन कहै को बाता॥
नहिं पावस ओहि देसरा, नहिं हेवंत बसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत॥

पद्मावत में यद्यपि कहीं कहीं व्यर्थ प्रसंगों और वस्तुओं का विस्तार किया गया है पर सुंदर वर्णनों की भी कमी नहीं है।

अखरावट में जायसी के प्रेमसंबंधी तथा अन्य सिद्धांतों का संग्रह है। इन प्रसिद्ध कवि की मृत्यु-तिथि का ठीक ठीक पता नहीं लगता, पर इतना विदित होता है कि अंतिम काल में ये अमेठी के पास मँगरा के वन में रहे और वहीं इनकी मृत्यु हुई। अमेठी के राजा इनका बड़ा सम्मान करते थे।

मलिक मुहम्मद ने अपने पूर्व के जिन उपाख्यानों के नाम दिए हैं उनके अनुसार इनके निर्माण का क्रम यह होता है—सपनावती, मुगधावती, मृगावती, मधुमालती, प्रेमावती। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि मृगावती के पहले सपनावती और मुगधा-

वती नाम के दो काव्य रचे गए थे और मधुमालती के अनंतर प्रेमावती की रचना हुई होगी। इसके अनंतर पद्मावत की रचना हुई। इनमें से केवल मृगावती और मधुमालती का पता चला है पर खेद का विषय है कि मृगावती की प्रति अब प्राप्य नहीं है और मधुमालती खंडित मिली है।

जायसी के कुछ काल उपरांत जब तुलसीदास का आविर्भाव हुआ तब सूफियों की कविता क्षीण हो चली। हिंदुओं की सगुण भक्ति के प्रवाह में सूफियों की निर्गुण भक्ति स्थिर न रह सकी। उसमान जहाँगीर के समकालीन कवि थे। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्यपरंपरा में थे। हाजी बाबा इनके गुरु थे।

उसमान

बाबा हाजी पीर अपारा। सिद्ध देत जेहि लाग न बारा॥

सन् १०२२ हि० संवत् १६७० में इनका चित्रावली नामक काव्य लिखा गया।

सन सहस्र बाइस जब अहे। तब हम बचन चारि एक कहे॥

सभी प्रेमगाथाओं की भाँति इसमें भी पैगंबर, गुरु आदि की वंदना है और बादशाह जहाँगीर को भी स्मरण किया गया है।

चित्रावली में जायसी के पद्मावत का अत्यधिक अनुकरण किया गया है। अंतर इतना ही है कि उसकी कहानी बिलकुल काल्पनिक है और जायसी की कहानी का कुछ ऐतिहासिक आधार है। कवि ने चित्रावली में अँगरेजों के देश का भी एक स्थान पर नाम लिया है जिससे पता चलता है कि उस समय अँगरेज यहाँ आ गए थे और उसमान को इसका पता था।

जायसी की ही भाँति इन्होंने भी ग्रंथ में नगर, यात्रा, षड्ऋतु आदि का वर्णन किया है और ईश्वर की प्राप्ति की साधना की

ओर संकेत किया है। फिर भी पद्मावत के से विशद वर्णन इसमें कम ही मिलते हैं, उसके अनुकरण की छाप इसमें देख पड़ती है।

कवि ने प्रस्तावना में अपनी कहानी के विषय में इस प्रकार कहा है—

कथा एक मैं हिए उपाई। कहत मीठ और सुनत सुहाई॥
कहौं बनाय जैस मोहिं सूझा। जेहि जस सूझ सो तैसे बूझा॥
बालक सुनत कान रस पावा। तरुनन्ह के तन काम बढ़ावा॥
बिरिध सुनै मन होइ गियाना। यह संसार धंधा कै जाना॥
जोगी सुनै जोग पथ पावा। भोगी कहँ सुख भोग बढ़ावा॥
इच्छा तरु एक आह सुहावा। जेहि जस इच्छा तैस फल पावा॥
मंजुल मुकुर बिमलकर लेखा। जो देखै सो आपुहि देखा॥
कवियन्ह आगे दीन होइ, विनति करौं गहि पाय।
अच्छर टूट सँवारेहु, दूषन लेहु छिपाय॥

उसमान के उपरांत शेख नबी हुए परंतु इनके उपरांत प्रेम-मार्गी कवि-संप्रदाय प्रायः निर्जीव सा हो गया। यद्यपि कासिम-शाह, नूर मुहम्मद, फाजिलशाह आदि कवि होते रहे, पर उनकी रचनाओं में इस संप्रदाय का ह्रास साफ बोलता सा जान पड़ता है। हाँ, नूरमुहम्मद की "इंद्रावती" की प्रेमकहानी अवश्य सुंदर बन पड़ी है। यह संवत् १८०१ में लिखी गई थी।

क्या भावों के विचार से और क्या भाषा के विचार से सूफी कवियों ने हिंदी को पहले से बहुत आगे बढ़ाया। वीरगाथा

उपसंहार

काल में केवल वीरोल्लासपूर्ण कविता का सृजन हुआ, यह भी परिमाण में अधिक नहीं। उस काल की भाषा तो बिलकुल अविकसित थी। अक्खड़ कवियों के हाथ में पड़कर वह और भी भोंड़ी बन गई। उसके उपरांत

कबीर का समय आया। कबीर महात्मा थे और उनके द्वारा साहित्य में पूत भावनाओं का समावेश हुआ। किंतु कबीर की भाषा में भी एकरूपता नहीं है। उसके मिश्र और अव्यवस्थित रूप के कारण परिमार्जित रुचि रखनेवालों के लिये उसमें बड़ी कमी थी। सूफी कवियों ने अपने उदार भावों को पुष्ट भाषा में व्यक्त करके दोनों ही क्षेत्रों में अपनी सफलता का परिचय दिया। कबीर आदि संतों की बानी सामूहिक रूप से देश के लिये बड़ी हितकारिणी सिद्ध हुई, परंतु सूफियों की प्रबंध-रचनाओं ने सामाजिक हित भी किया और साहित्यिक समृद्धि में भी सहायता दी। यह ठीक है कि सूर और तुलसी आदि के प्रवेश करते ही प्रेममार्गी कवि बहुत कुछ स्थानांतरित हो गए और हिंदी भी अत्यधिक समृद्ध हुई, पर यह कहना पड़ेगा कि तुलसी के पूर्व ही चलती हुई अवधी भाषा तथा दोहे-चौपाई छंदों में सुंदर प्रबंध-काव्य रचकर भाषा तथा काव्य के विकास में सहायक होने का श्रेय जायसी आदि सूफियों को ही है। कौन कह सकता है कि रामचरितमानस जैसे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ प्रबंधकाव्य में इन कवियों के प्रेमाख्यानों की शैली का चरम विकास नहीं दिखाई पड़ता? हिंदू सभ्यता और संस्कृति के प्रति सहानुभूति इन मुसलमान कवियों की खास विशेषता है। इनका हृदय अति-शय उदार और स्वर्गीय प्रेम की पीर से ओतप्रोत था। सबसे बड़ी वस्तु इनका कवितागत रहस्यवाद है जो हिंदी अपनी में विशेषता रखता है।

इन मुसलमान सूफी कवियों की देखादेखी हिंदू कवियों ने भी उपाख्यान-काव्यों की रचना की। किंतु इन सब काव्यों का ढंग या तो पौराणिक; ऐतिहासिक अथवा पूर्णतया साहित्यिक हुआ। सूफी कवियों की रचनाओं में धर्म की जो लहर अदृश्य

रूप से व्याप्त हो रही है, उसका हिंदू कवियों की इन रचनाओं में अभाव है। ऐसे काव्यों में लक्ष्मणसेन पद्मावती कथा, ढोलामारू री चउपही, रसरतन काव्य, कनकमंजरी, कामरूप की कथा, चंद्रकला, प्रेमपयोनिधि, हरिचंद्र पुराण आदि हैं। इनके साथ ही 'नलदमन' काव्य का नाम भी उल्लेखनीय है जो सूरदास नाम के एक कवि द्वारा सं० १७१४ के लगभग लिखा गया। इसकी कथा महाभारत के नल-दमयंती उपाख्यान से ली गई है। इनके संबंध में इतना कह देना आवश्यक है कि इन्हीं उपाख्यानों की परंपरा के परिणाम-स्वरूप उन अमर काव्यों की हिंदी में रचना हुई जिनके कारण हिंदी साहित्य गौरवान्वित और सम्मानित हुआ।

आठवाँ अध्याय

रामभक्ति शाखा

विजयी मुसलिम शक्ति अदम्य उत्साह के साथ इस देश पर अपनी संस्कृति और सभ्यता की छाप डाल चुकी थी। उसका प्रथम वेग बड़ा ही प्रबल था। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में ही नहीं, साहित्यिक क्षेत्र में भी उस प्रबल वेग का साक्षात्कार किया जा सकता है। कबीर और जायसी आदि जिन कवि-संप्रदायों के प्रतिनिधि हैं, उनका विवरण हम पहले दे चुके हैं। उनमें मुसलिम विचारों और काव्य-शैलियों का प्रभाव प्रत्यक्ष है। जायसी तो मुसलिम सूफी संप्रदाय के ही कवि हैं, यद्यपि उन्होंने हिंदुओं के घर की कहानी कही और भारतीय दृश्यों का समावेश किया। यदि उनके मुख्य मुख्य सिद्धांतों की दृष्टि से देखें तो कह सकते हैं कि वे फारस के ही अधिक उपयुक्त हैं, इस देश के लिये उतने उपयुक्त नहीं। कबीर यद्यपि जन्म से हिंदू थे, और हिंदू पंडितों के मध्य में ही पले थे पर फिर भी उन पर मुसलिम प्रभाव कम नहीं था। यह काल मुसलिम सभ्यता के प्रथम विकास का था। जिस प्रकार वर्षा की पहाड़ी नदी पानी के पहले झोंके में तीव्र गति से तटों को तोड़ती और उमड़ती हुई चलती है, पर शीघ्र ही अपनी सीमा में आकर प्रशमित हो जाती है, उसी प्रकार मुसलमानों का प्रथम उल्लास भी बड़ा ही उद्वेगपूर्ण था पर पीछे जब इस देश की जल-वायु, आचार-विचार और सभ्यता

रामभक्ति की उत्पत्ति और विकास

आदि का उन पर प्रभाव पड़ा तब उनमें विचारशीलता और गंभीरता आई। इसी समय इस देश में भी प्राचीन भक्ति का आधार लेकर नवीन विकास हो रहा था और इस नवीन विकास में तत्कालीन स्थिति ने बड़ी सहायता पहुँचाई।

भक्ति के नवीन विकास के संबंध में हम पहले कह चुके हैं कि यह प्राचीन शास्त्रीय धर्मशैली की सहायता से उत्पन्न हुआ था और इसके समर्थन में हिंदू धर्म के सहस्रों प्राचीन ग्रंथ बहुत बड़ी संख्या में उपस्थित थे। साथ ही हम यह भी कह चुके हैं कि इस नवीन उत्थान में यद्यपि अनेक प्रवर्तकों का हाथ होने से अनेक मत चल पड़े थे, पर विष्णु या नारायण की भक्ति ही अनेक रूपों में प्रचलित थी। अत: उक्त वैष्णव भक्ति में, अनेक शाखा-भेदों के होते हुए भी, सामान्य एकता थी। यहाँ हमारा संबंध वैष्णव भक्ति की शाखा-प्रशाखाओं से उतना ही है, जितना हिंदी साहित्य के विकास में वे सहायक हुई हैं। कबीर और जायसी आदि के प्रसंग में हम वैष्णव भक्ति का प्रभाव दिखा चुके हैं। अब हम हिंदी साहित्य के उस काल में प्रवेश करते हैं जिसमें इस नवीन भक्ति का अधिक से अधिक प्रभाव पड़ा और वह घर घर में व्याप्त हो गई। कुछ तो तत्कालीन मुसलमान शासकों की उदार नीति, कुछ हिंदुओं की निराशाजनक स्थिति, और सबसे अधिक महाकवियों तथा महात्माओं का उदय भक्ति के प्रसार में अत्यधिक सहायक हुआ। समाज की दशा सुधरी, उसे मनोबल मिला। इस प्रकार एक ओर तो भक्ति की प्रेरणा से हिंदी कविता में अभूतपूर्व सहायता आई और दूसरी ओर हिंदी कविता का साधन पाकर भक्ति की ज्योति चारों ओर फैली जिससे हिंदू जीवन उद्दीप्त हो उठा। रामभक्ति और कृष्णभक्ति, वैष्णव भक्ति की ये दोनों शाखाएँ हिंदी-साहित्योद्यान में खूब फैलीं,

जिससे जनता का मन हरा भरा हुआ। समयानुक्रम के अनुसार हम रामभक्ति का उल्लेख पहले करेंगे।

वैष्णव भक्ति की रामोपासिका शाखा का आविर्भाव महात्मा रामानंद ने विक्रम की पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में किया था।

रामानंदी संप्रदाय

यद्यपि रामानंद के पहले भी नामदेव तथा त्रिलोचन आदि प्रसिद्ध भक्त हो चुके थे, पर रामानंद ने भक्ति-आंदोलन को एक नवीन स्वरूप देकर तथा उसे अत्यधिक लोकप्रिय और उदार बनाकर हिंदू धर्म के उन्नायकों में सम्माननीय स्थान पर अधिकार पाया। कबीर, तुलसी और पीपा आदि उनके शिष्य अथवा शिष्यपरंपरा में थे, इससे भी उनके महत्त्व का अनुमान हम अच्छी तरह कर सकते हैं।

महात्मा रामानंद स्वामी रामानुज के श्री-संप्रदाय के अनुयायी थे, यह बात जनश्रुतियों से भी ज्ञात होती है और दोनों की रचनाओं की समता से भी। श्रीवैष्णवों के यहाँ विष्णु के कृष्ण, राम तथा नृसिंह आदि अवतारों की उपासना करने की रीति प्रचलित थी, यद्यपि प्रधानतः उनका झुकाव कृष्णोपासना की ओर ही अधिक था। महात्मा रामानंद ने राम और सीता को, इष्टदेव मानकर उनकी पूजा की और हनुमान्, भरत आदि रामभक्तों के भी वे भक्त बने। इस प्रकार यद्यपि कई आराध्य देव होते हैं, पर वे राम के संबंध से ही सम्मान्य समझे जाते हैं, अन्यथा नहीं। राम की उपासना उन्हें परब्रह्म मानकर की गई। अन्य उपास्य देव उनके सामने निम्न स्थान के अधिकारी हुए। कबीर ने तो राम को निर्गुण और सगुण ब्रह्म से भी परे बतलाकर उनका चरम उत्कर्ष प्रकट किया है। पर यह समानता केवल नाम की थी, व्यक्तित्व की नहीं। राम से उनका अभिप्राय परब्रह्म से ही था।

स्वामी रामानंद यद्यपि आचार्य रामानुज के ही अनुयायी थे, पर मंत्र-भेद, तिलक-भेद तथा अन्य विभेदों के कारण कुछ लोग उन्हें श्रीवैष्णव संप्रदाय में नहीं मानते। वे त्रिदंडी संन्यासी नहीं थे, अतएव उनमें और श्री-संप्रदाय में भेद बतलाया जाता है। परंतु यह निश्चित है कि रामानंद काशी के बाबा राघवानंद के शिष्य थे और बाबा राघवानंद श्री-संप्रदाय के वैष्णव संत थे। यद्यपि यह किंवदंती प्रसिद्ध है कि रामानंद और राघवानंद में आचार के संबंध में कुछ मतभेद हो जाने के कारण रामानंद ने अपना संप्रदाय अलग स्थापित किया फिर भी इसमें संदेह नहीं कि बाबा राघवानंद की मृत्यु के उपरांत रामानंदजी ने रामभक्ति का मार्ग प्रशस्त कर उत्तर भारत में एक नवीन भक्ति-मार्ग का अभ्युदय किया।

यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि रामभक्ति का विकास दक्षिण भारत में रामानंद के पहले ही हो चुका था और तामिल प्रदेश में इसका प्रचार भी पर्याप्त था। उस समय तक भक्ति-ग्रंथों की रचना भी होने लगी थी। रामानंद ने दक्षिण के रामभक्तों से बहुत कुछ ग्रहण किया। "ओ३म् रामाय नमः" का उनका मंत्र ही नहीं, उनकी धार्मिक उदारता भी, जो भक्ति में शूद्रों के प्रवेश आदि के रूप में व्यक्त हुई, उन्होंने दक्षिण के अनुकरण में ही स्वीकार की और चलाई थी। इतना ही नहीं, दक्षिण में प्रचलित अध्यात्म-रामायण, अगस्त्य-सुतीक्ष्ण-संवाद आदि धर्मग्रंथों को लाकर उन्होंने उनका प्रचार किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर भारत की तत्कालीन रामभक्ति के आंदोलन में दक्षिण भारत ने बहुत कुछ योग दिया था।

रामानंद के संबंध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह कही जाती है कि उनके आंदोलन में बड़ी उदारता थी और वे ईश्वरोपासना में

जातिभेद स्वीकार नहीं करते थे। उनके शिष्यों में शूद्र वर्ण के तो कई व्यक्ति थे, पर मुसलमान कबीरदास भी थे। उस समय स्त्रियों की स्थिति अत्यंत निम्न थी और वे भक्ति की अधिकारिणी नहीं मानी जाती थीं, परंतु स्वामी रामानंद की शिष्या स्त्री भी थी। इस उदारता का कारण कुछ व्यक्ति मुसलमानों का प्रभाव बतलाते हैं, परंतु हमारी सम्मति में इसमें विदेशीय प्रभाव के साथ ही भारतीय तात्त्विक दृष्टि भी प्रतिफलित हुई है। महात्मा शंकर ने अद्वैतवाद का उपदेश देकर जिस दार्शनिक साम्य की प्रतिष्ठा की थी उसके अनुसार जीवात्मा अखंड और अभेद मानी गई थी। स्वामी रामानुज के विशिष्टाद्वैत का शंकर स्वामी के अद्वैतवाद से इस विषय में अभेद है। वे भी जीव का साम्य स्वीकृत करते हैं। हिंदुओं का वर्णविभाग सामाजिक कार्यविभाग की दृष्टि से चला था, तात्त्विक दृष्टि से तो सबकी समानता स्वीकृत की गई थी। हाँ, स्वामी रामानंद तथा अन्य आचार्यों में इतना विभेद अवश्य है कि उन्होंने पहले की अपेक्षा अधिक अग्रसर होकर घोषणा की कि धर्म में जातिभेद नहीं है, और इस सिद्धांत के अनुसार अपने शिष्यों में सभी वर्णों को सम्मिलित किया। यह सब कुछ होते हुए भी हम यह नहीं भूल सकते कि रामानंद ने भक्ति के अधिकार की दृष्टि से जाति के झमेले को दूर किया है, पर सामाजिक व्यवहार में उन्हें जातिभेद स्वीकार था। यह बात उनके वेदांत-सूत्रों के भाष्य से स्पष्ट हो जाती है।

स्वामी रामानंद के दार्शनिक विचारों और सिद्धांतों का निरूपण करना कठिन है। यह तो ठीक है कि स्वामी रामानुज की ही भाँति वे भी वैष्णव भक्त थे, अतः शंकराचार्य के ज्ञानमार्ग में निरूपित अद्वैतवाद से उनके सिद्धांतों में विभेद होना स्वाभाविक

है। रामानुज का विशिष्टाद्वैतवाद भक्ति के उपयुक्त था, अतएव भक्त रामानंद भी इसी सिद्धांत के समर्थक होंगे, ऐसा अनुमान होता है; रामानंदजी की शिष्य-परंपरा द्वारा निर्मित साहित्य का अनुसंधान करने पर भी संदेह ही बना रहता है। एक ओर तो कबीर, नानक आदि निर्गुण संत हैं जिन्होंने राम को निर्गुण सगुण सबके ऊपर मानकर अपने अद्वैतवादी होने का परिचय दिया है और दूसरी ओर तुलसीदास हैं जिन्होंने अयोध्या के नृपति दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र राम को व्यापक ब्रह्म का अवतार मानकर उन्हें अपना इष्टदेव बनाया और भक्तिभाव से उनका चरित अंकित किया। कहीं कहीं तो कबीर आदि संत अद्वैतवाद से नीचे उतरते, अपने आराध्य देव में गुणों का आरोप करते और स्वयं भक्त बनकर उसे भक्तवत्सल कहते हैं। इसी प्रकार महात्मा तुलसीदास भी यद्यपि दासभाव से उपासना करते हुए ईश्वर तथा जीव में विभेद की व्यंजना करते हैं, पर साधना की उच्च श्रेणी पर पहुँचकर वे कभी कभी सारे जगत् को राममय देखते और इस प्रकार अद्वैत की ओर संकेत करते हैं। अतः हम देखते हैं कि स्वामी रामानंद की शिष्यपरंपरा में अद्वैत तथा विशिष्टाद्वैत मतों का सम्मिश्रण हुआ है। भक्तिभावापन्न व्यक्तियों के लिये यह स्वाभाविक ही है। हाँ, यह अवश्य स्वीकार करना पड़ता है कि स्वामी रामानंद की प्रेरणा से देश-भाषाओं में राम-भक्ति का जो साहित्य तैयार हुआ उसमें सिद्धांतों की अधिक स्पष्ट व्यंजना नहीं हुई—कहीं कहीं तो विभिन्न मतों का समावेश भी हुआ है।

रामभक्ति की जो शाखा महात्मा रामानंद द्वारा विकसित हुई, आगे चलकर उसका अत्यधिक विस्तार हुआ और वह खूब फूली-फली। यद्यपि अपनी उदारता के कारण रामभक्ति उस सांप्रदायिक

कट्टरपन से बची रही जो कृष्णोपासना के कुछ संप्रदायों में फैली, तथापि इतना तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि रामानंद की रामोपासना का इस देश पर प्रचुर प्रभाव पड़ा। कबीर, पीपा, रैदास, सेना, मलूक आदि संत सब रामानंद के ऋणी हैं, यद्यपि उनके चलाये हुए संप्रदायों पर कुछ इस्लामी प्रभाव भी पड़े और अनेक भेदोपभेद भी हुए। जनता पर इन संतों का बड़ा प्रभाव पड़ा। परंतु महात्मा रामानंद का ऋण इन संतों तक ही परिमित नहीं है। इनकी शिष्य-परंपरा में आगे चलकर गोस्वामी तुलसीदास हुए जिनका जगत्प्रसिद्ध रामचरितमानस हिंदी साहित्य का सर्वोत्कृष्ट रत्न तथा उत्तर भारत की धर्मप्राण जनता का सर्वस्व है। कबीर आदि संतों के संप्रदाय अधिकतर समाज के निम्न वर्ग पर ही अपना प्रभाव दिखा सके और पढ़ी-लिखी जनता तक उनकी वाणी अधिक नहीं पहुँची, परंतु गोस्वामी तुलसीदास की कविता ऊँच-नीच, राजा-राव, पढ़े-बेपढ़े सबकी दृष्टि में समान रूप से आदरणीय हुई। ये गोस्वामी तुलसीदासजी स्वामी रामानंद के ही उपदेशों को ग्रहण करके चले थे, अतः स्वामी रामानंद का महत्त्व हम अच्छी तरह समझ सकते हैं और उनके उपदेशों से अंकुरित राम-भक्ति को आज असंख्य घरों में फैली हुई देख सकते हैं।

रामानंद की शिष्यपरंपरा

हिंदी भाषा की संपूर्ण शक्ति का चमत्कार दिखानेवाले और हिंदी साहित्य को सर्वोच्च आसन पर बैठानेवाले भक्तशिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास महात्मा रामानंद की शिष्यपरंपरा में थे। अपनी अद्भुत प्रतिभा और अलौकिक कवित्व-शक्ति के कारण वे देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर सार्वकालिक हो

तुलसीदास की जीवनी का अनुसंधान

हो गए हैं। आज तीन सौ वर्षों में उनकी कीर्तिश्री कम नहीं हुई, प्रत्युत निरंतर बढ़ती ही जाती है। उनकी लौकिक जीवन-गाथा का उल्लेख यहाँ संक्षेप में आवश्यक है। उनका जीवनचरित लिखनेवाले महात्मा रघुवरदास के "तुलसीचरित" से उनकी जीवनी का पता चलता है परंतु उनके समकालीन शिष्य बाबा वेणी-माधवदास का "गोसाईंचरित" अधिक प्रामाणिक माना जाता है। इनके अतिरिक्त अयोध्या के कुछ रामायणी भक्त तथा मिरजापुर के पंडित रामगुलाम द्विवेदी आदि जनश्रुतियों के आधार पर गोस्वामीजी की जीवनगाथा के निर्माण में सहायक हुए हैं। शिवसिंह सेंगर और डाक्टर ग्रियर्सन के प्रारंभिक अनुसंधानों से उनकी जीवनी पर जो प्रकाश पड़ता है, वह भी ध्यान देने योग्य है। इस बाह्य साक्ष्य को लेकर जब हम गोस्वामीजी के ग्रंथों का अन्वेषण करते हैं और उनमें उनकी जीवनी के संबंध में आए हुए संकेतों से उस बाह्य साक्ष्य को मिलाकर देखते हैं तब उनके जीवन की अनेक घटनाओं का निश्चय हो जाता है और इस प्रकार उनकी बहुत कुछ प्रामाणिक जीवनी तैयार हो जाती है। परंतु इस जीवनी से पूरा पूरा संतोष नहीं होता, क्योंकि वह केवल उनके जीवन की असंबद्ध घटनाओं का संग्रह मात्र होती है, उससे उनके मानसिक और कला संबंधी क्रम-विकास का पता नहीं चलता। उनके ग्रंथों की रचना का क्रम क्या है, रचना की परिस्थितियाँ कैसी थीं आदि इन आवश्यक बातों का ठीक ठीक पता नहीं चलता, जिनकी गोस्वामी-जी जैसे महाकवि के विषय में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है। गोस्वामीजी की जीवनी और उनके ग्रंथों के रचनाक्रम के संबंध में जो कुछ वक्तव्य प्रकाशित हुए हैं वे अब तक प्रामाणिकता की कोटि तक नहीं पहुँचे। अभी उनके ग्रंथों के अधिका-धिक अनुशीलन की आवश्यकता है। उनके जीवनचरित के

विषय में प्रमाणाभाव से अनिश्चयात्मकता तो थी ही, इधर कुछ दिनों से और भी अधिक संदेहों की सृष्टि की जा रही है। सभी अपनी अपनी नई उद्भावनाएँ लेकर उपस्थित होना चाहते हैं। आवश्यकता नवीन उद्भावनाओं की उतनी नहीं है जितनी प्रस्तुत आधार के अधिक गंभीर अनुशीलन की है। तुलसीदासजी किसी विशेष वर्ग या स्थान के व्यक्ति अब नहीं रहे। वे तो समान रूप से हम सबके हो गये हैं। अतः उनकी जीवनी का अनुसंधान करते हुए जातीय और प्रादेशिक संकीर्णता को कुछ भी स्थान न देना चाहिए। जो उपलब्ध प्रमाण हैं उनकी पुष्टि और नवीन प्रमाणों की खोज तथा निष्पक्ष दृष्टि से उन सबका समन्वय ही हमारे इस जातीय महाकवि के ऐहिक चरित और जीवन-घटनाओं को प्रत्यक्ष कर सकता है। संकीर्ण जातीयता और सांप्रदायिक या व्यक्तिगत मनोवृत्ति की खींचतान से कुछ भी लाभ की संभावना नहीं है।

हम भी अपने विचारों में संशोधन के लिये सदैव तैयार हैं। अब तक जो कुछ निर्णय हम इस संबंध में कर सके हैं उसके अनुसार गोस्वामीजी की संक्षिप्त जीवनगाथा इस प्रकार स्वीकृत की जा सकती है। गोसाईं-

उनका जीवनचरित

चरित तथा तुलसी-चरित दोनों के अनुसार गोस्वामीजी का जन्म-संवत् १५५४ और स्वर्गवास-संवत् १६८० ठहरता है, यद्यपि गोस्वामीजी का मृत्यु-संवत् निस्संदेह १६८० था पर उनके जन्मकाल के संबंध में डाक्टर ग्रियर्सन ने शंका की है और जन-श्रुतियों के आधार पर उसे १५८९ माना है। तुलसीदास युक्त-प्रांत के बाँदा जिले में राजापुर गाँव के निवासी थे। ये सरयू-पारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता आत्माराम पत्यौजा के दूबे और इनकी माता हुलसी थीं जिनका उल्लेख अकबर के दरबार

के रहीम खानखाना ने एक प्रसिद्ध दोहे में किया है। लड़कपन में ही इनके माता-पिता द्वारा परित्यक्त होने की जनश्रुति प्रचलित है जिससे इनके अभुक्त मूल में जन्म लेने की बात की कुछ लोगों ने कल्पना की है। पर बाबा वेणीमाधवदास ने इस घटना का पूरा विवरण देकर सब प्रकार की कल्पना और अनुमान को शांत कर दिया है। बाल्यावस्था में आश्रयहीन इधर-उधर घूमने-फिरने और उसी समय गुरु द्वारा रामचरित सुनने का उल्लेख गोस्वामीजी की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि इनके गुरु बाबा नरहरि थे जिनका स्मरण गोस्वामीजी ने राम-चरितमानस के प्रारंभ में किया है। संभवत: उनके ही साथ रहते हुए इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। गोस्वामीजी के अध्यापक शेषसनातन नामक एक विद्वान् महात्मा कहे जाते हैं जो काशी-निवासी थे और महात्मा रामानंद के आश्रम में रहते थे। स्मार्त्त वैष्णवों से शिक्षा-दीक्षा पाकर गोस्वामीजी भी उसी मत के अवलंबी बने। स्मार्त्त वैष्णव स्मृति-प्रतिपादित धार्मिक रीतियों को मानते हैं, पंच देवों की उपासना उनके यहाँ प्रचलित है यद्यपि वे इष्टदेव को प्रधानता अवश्य देते हैं। गोस्वामीजी का अध्ययन-काल लगभग १५ वर्ष तक रहा। शिक्षा समाप्त कर वे युवावस्था में घर लौटे; क्योंकि इसी समय उनके विवाह करने की बात कही जाती है।

गोस्वामीजी के विवाह के संबंध में कुछ शंकाएँ की जाती हैं। शंका का आधार उनका "ब्याह न बरेखी जाति-पाँति ना चहत हौं" पद्यांश माना जाता है, परंतु उनके विवाह और विवाहित जीवन के संबंध में जो किंवदंतियाँ प्रचलित हैं और जो कुछ लिखा मिलता है उन पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। गोस्वामीजी का पत्नी-प्रेम प्रसिद्ध है और पत्नी ही के

कारण इनके विरक्त होकर भक्त बन जाने की बात भी कही जाती है। स्त्री के अपने मायके चले जाने पर तुलसीदास का प्रेम-विह्वल होकर घोर वर्षा में अपनी ससुराल जाना और वहाँ पत्नी द्वारा फटकारे जाने पर घर छोड़कर चल देना भक्तमाल की टीका और वेणीमाधवदास के चरित से अनुमोदित है। यही नहीं, वृद्धावस्था में भ्रमण करते हुए गोस्वामीजी का ससुराल में अपनी चिरवियुक्ता पत्नी से भेंट होने का विवरण भी मिलता है। उस समय स्त्री का साथ चलने देने का अनुरोध निम्नांकित दोहे में बतलाया जाता है—

> खरिया खरी कपूर लौं उचित न पिय तिय त्याग।
> कै खरिया मोहि मेलि कै अचल करहु अनुराग॥

यह सब होते हुए भी कुछ आलोचकों की सम्मति में तुलसीदासजी के विवाह की बात भ्रांत जान पड़ती है। उनके ग्रंथों में स्त्रियों के संबंध में जो विरोधात्मक उद्गार पाए जाते हैं, उनका आधार ग्रहण कर यह कहा जाता है कि गोस्वामीजी जन्म भर वैरागी रहे, स्त्री से उनका साक्षात्कार नहीं हुआ। अतएव वे स्त्रियों की विशेषताओं और सद्गुणों से परिचित नहीं हो सके। वही उनके विरोधात्मक उद्गारों का कारण है। परंतु यह सम्मति विशेष तथ्यपूर्ण नहीं जान पड़ती। गोस्वामीजी ने स्त्रियों की प्रशंसा भी की है और निंदा भी। विवाह न करने से ही स्त्रियों के संबंध में किसी के कटु अनुभव होते हैं, यह बात नहीं है। स्त्रियों का कामिनी के रूप में बहिष्कार केवल तुलसीदासजी ने ही नहीं, अन्य अनेक संप्रदायाचार्यों और कवियों ने भी किया था। भक्ति-काल की यह एक सामान्य विशेषता सी थी। यह तुलसीदासजी की कोई अपनी बात न थी। सबसे महत्त्वपूर्ण बात तो यह है कि विवाह के संबंध में

बाह्य और आभ्यंतर साक्ष्य मिलते हैं और जनश्रुतियाँ उसका अनुमोदन करती हैं।

स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामीजी साधु बन गए और घर छोड़कर देश के अनेक भूभागों और तीर्थों में घूमते रहे। इनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था। उत्तर में मानसरोवर और दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वर तक की इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि में इनकी वृत्ति अतिशय रमी थी, जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट होता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या इनके स्थायी निवास-स्थान थे जहाँ ये वर्षों रहते और ग्रंथ-रचना करते थे। मथुरा वृंदावन आदि तीर्थों की भी इन्होंने यात्रा की थी और यहीं कहीं इनकी "कृष्ण-गीतावली" लिखी गई थी। इसी भ्रमण में गोस्वामीजी ने पचीसों वर्ष लगा दिए थे, और बड़े बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते हैं कि एक बार जब ये चित्रकूट में थे, तब संवत् १६१६ में महात्मा सूरदास इनसे मिलने आए थे। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी इनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

अंत में ये काशी में आकर रहे और संवत् १६३१ में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ "रामचरितमानस" लिखने बैठे। उसे इन्होंने लगभग ढाई वर्षों में समाप्त किया। रामचरितमानस का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रंथ की रचना से इनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा-कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में

रामचरितमानस और विनयपत्रिका

जो प्रसिद्धि मिली, वह निरंतर बढ़ती ही गई और अब तो वह सर्वव्यापिनी हो रही है।

रामचरितमानस लिख चुकने के पश्चात् गोस्वामीजी का आत्म-साधना की ओर संलग्न होना स्वाभाविक ही था। रामचरितमानस के अंत में उन्होंने "पायौ परम विश्राम" की बात कही है। इसी विश्राम की निरंतर साधना करना उनके जीवन का लक्ष्य हुआ। जिन राम की कृपा से उन्हें यह लाभ हुआ था उन्हीं के गुणों का गान करते हुए उनमें अपनी सत्ता खो देना ही गोस्वामीजी की रामभक्ति के अनुकूल था और इसे उन्होंने अपने दीर्घ जीवन में सिद्ध भी किया। उनकी विनयपत्रिका इसी लक्ष्य की पूर्ति है। भक्त का दैन्य और आत्मग्लानि दिखाकर प्रभु की क्षमता और क्षमाशीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न संबंध पर जोर देकर गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका को भक्तों का प्रिय ग्रंथ बना दिया। यद्यपि उनके उपास्य देव राम थे, तथापि पत्रिका में गणेश और शिव आदि की वंदना कर एक ओर तो गोस्वामीजी ने लौकिक पद्धति का अनुसरण किया है और दूसरी ओर अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर भारत में कट्टरपन की शृंखला को शिथिल कर धार्मिक उदारता का प्रचार करनेवालों में गोस्वामीजी अग्रणी हैं। ऐसी जनश्रुति है कि विनय-पत्रिका की रचना गोस्वामीजी ने काशी के गोपाल-मंदिर में की थी।

गोस्वामीजी की मृत्यु काशी में, संवत् १६८० में, हुई थी। काशी में उस समय महामारी का प्रकोप था और तुलसीदासजी भी उससे आक्रांत हुए थे। उन्हें विषूचिका हो गई थी, पर कहा जाता है कि महावीरजी की वंदना करने से वह दूर हो गई। परंतु वे इसके उपरांत अधिक

मृत्यु

दिन जीवित नहीं रहे। ऐसा जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जर्जर कर दिया था। मृत्यु-तिथि के संबंध में अब तक कुछ मत-विभेद था। अनुप्रास-पूरित इस दोहे के अनुसार उनकी निर्वाण-तिथि श्रावण शुक्लपक्ष की सप्तमी मानी जाती रही है—

संवत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सतमी तुलसी तज्यो शरीर॥

परंतु वेणीमाधवदास के गोसाईंचरित में उनकी मृत्यु-तिथि संवत् १६८० की श्यामा तीज, शनिवार लिखी हुई है। अनुसंधान करने पर यह तिथि ठीक भी ठहरी; क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना से ठीक उतरा; और दूसरे गोस्वामीजी के घनिष्ठ मित्र टोडर के वंश में तुलसीदासजी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है और वह सीधा श्रावण के कृष्णपक्ष में तृतीया के दिन दिया जाता है, "सावन सुक्ला सप्तमी" को नहीं।

विगत कुछ वर्षों से उत्तरी भारत में प्रायः सर्वत्र तुलसी-जयंती मनाई जाने लगी है। जयंती की तिथि अब तक श्रावण शुक्ला सप्तमी ही मानी जा रही है। जिन्हें यह ज्ञात हो गया है कि यह गोस्वामीजी की इहलीला-संवरण की तिथि नहीं है वे इसे उनकी जन्मतिथि के रूप में जयंती मनाते हैं। महापुरुषों की जन्मतिथि पर उत्सव मनाना भारतीय आध्यात्मिक दृष्टि से विधेय नहीं है। जन्म-तिथि तो राम, कृष्ण आदि अवतारी पुरुषों की ही मनाई जाती है। अन्य महात्माओं की तो शरीर-त्याग की तिथि ही मनाने की प्रथा है। राम, कृष्ण आदि का अवतार दिव्य था अतः उनकी अवतार-तिथि स्मरणीय है किंतु तुलसीदासजी की तो निर्वाण-तिथि ही मान्य है। उनके जन्म-दिवस का उत्सव तो लौकिक ही

कहा जायगा; क्योंकि जन्म के समय वे प्राकृत पुरुष ही थे। पीछे अपनी साधना से उन्हें मोक्ष प्राप्त हुआ अत: मोक्ष-तिथि का उत्सव मनाना ही यहाँ की आध्यात्मिक परंपरा के अनुकूल होगा; क्योंकि भारतीय अध्यात्मशास्त्र प्रकृति को माया या मिथ्या मानता और ब्रह्म को ही सत्य ठहराता है। महात्मा तुलसीदासजी ने श्रावण कृष्ण तृतीया को अपनी सांसारिक लीला संवरण की और परम तत्त्व से एकाकार हो गए। अत: उसी तिथि को उनकी जयंती मनाने की परिपाटी प्रचलित होनी चाहिए।

गोस्वामीजी का भारतीय जन-समाज पर प्रभाव, उसके कारण-(१)अध्ययन

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक प्रभाव भारतीय जनता पर है उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्‌गारों की सत्यता आदि तो हैं ही, साथ ही उसका सबसे बड़ा कारण है उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति। "नानापुराणनिगमागमसम्मत" रामचरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामीजी ने विवध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार अत्यधिक था, परंतु उन्होंने रामचरितमानस में प्रधानतः वाल्मीकि रामायण का आधार लिया है। साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानंद की छाप स्पष्ट देख पड़ती है। उनके रामचरितमानस में मध्यकालीन धर्मग्रंथों विशेषत: अध्यात्म-रामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्‌भुत रामायण का प्रभाव कम नहीं है। भुशुंडि रामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामीजी पर है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्मग्रंथों के तत्त्वों का समा-

वेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है।

गोस्वामीजी की समस्त रचनाओं में उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत में घर घर है।

(२) उदारता और सारग्राहिता

गोस्वामीजी का स्थायित्व और गौरव इसी पर सबसे अधिक अवलंबित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एकमात्र धर्म-ग्रंथ है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे जाते हैं, उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखनेवाली जनता भी करोड़ों की संख्या में रामचरितमानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका सम्मान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं है कि गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथ निम्न-कोटि के हैं। गोस्वामीजी की प्रतिभा सब में समान रूप से लक्षित होती है, किंतु रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामी जी ने हिंदू धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अंतर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए; राजा प्रजा, ऊँच नीच द्विज शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता पिता, गुरु भाई आदि पारिवारिक संबंधों का कैसा निर्वाह होना चाहिए, आदि जीवन के गंभीर प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रंथ में मिलता है। हिंदुओं के सब देवता, उनकी सब रीति-नीति, वर्ण-आश्रम-व्यवस्था तुलसीदासजी को स्वीकार हैं। शिव उनके लिये उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं राम। उन्होंने स्वयं शिव और राम के मुख से अनेक स्थलों पर ऐसे वचन कहलाए हैं जिनसे दोनों देवों का प्रिय संबंध सूचित होता है।

इस प्रकार भक्त के मन से भेदभाव दूर हो जाता है। यदि शिव के हृदय में राम के लिये अपार प्रेम है और वे राम-गुण गाते गाते नहीं अघाते—

रामचरित जे सुनत अघाहीं। रसबिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥

तो राम को भी शिव किसी प्रकार कम प्रिय नहीं हैं—

'सिव समान प्रिय मोहि न दूजा।'

शंकर का द्रोही होकर कोई राम को नहीं भा सकता—

सिवद्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहिं न भावा॥

पर इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य देवताओं की स्तुति से उनकी रामभक्ति में कुछ कमी पड़ती हो, कदापि नहीं—

गरैगी जीह जो कहौं और को हौं
जानकी-जीवन! जनम जनम जग ज्यायौ तिहारेहि कौर को हौं।

वे कहते हैं—

बार बार प्रभुहिं पुकारि कै खिझावतो न,
जो पै मोको होतो कहूँ ठाकुर ठहरु।
आलसी अभागे मोसे तैं कृपालु पाले पोसे,
राजा मेरे राजाराम अवध सहरु॥
सेऐ न दिगीस न दिनेस न गनेस गौरी,
हित कै न माने विधि हरिउ न हरु।
रामनाम ही सों जोग छेम नेम प्रेम पन,
सुधा सो भरोसो एहु दूसरो जहरु॥

तुलसी भक्त होते हुए भी ज्ञानमार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं पर द्वैत बंधन से छूटकर मुक्त अद्वैत अवस्था प्राप्त करके आत्मस्वरूप में स्थित होने के लिये वे राम से ही प्रार्थना करते हैं—

जनक जननि गुरु बंधु सुहृद पति सब प्रकार हितकारी।
द्वैतरूप तम-कूप परौं नहिं अस कछु जतन विचारी॥

१७

संक्षेप में वे व्यापक हिंदू धर्म के संकलित संस्करण हैं और उनके रामचरितमानस में उनका वह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट रामभक्ति ने उन्हें इतने ऊँचे उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर आनंद-मग्न होकर हम उसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भूभाग में नहीं, सारे उत्तर भारत में, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज उनका रामचरितमानस हमारी सारी समस्याओं का समाधान करनेवाला और अनंत कल्याणकारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है।

ऊपर के विवेचन का यह अर्थ नहीं है कि गोस्वामीजी ने अध्ययन और प्रतिभा के बल से ही अपने ग्रंथों की रचना की तथा वे स्वतः अपनी रचनाओं के साथ एकाकार नहीं हुए। न उसका यही आशय है कि सामाजिक धर्म, जाति-पाँति की व्यवस्था और देवी-देवता की पूजा ही गोस्वामीजी की रचना की प्रधान वस्तुएँ हैं। वास्तविक बात तो यह है कि गोस्वामीजी भारतीय आध्यात्मिक साधना की धारा में पूर्ण रूप से निमज्जित हो चुके थे और उनका सर्वोपरि लक्ष्य उक्त साधना को जनता के जीवन में भर देना था। काव्य या साहित्य की रचना अथवा वर्णाश्रमधर्म की रक्षा का प्रयास तो आनुषंगिक रूप से गोसाईंजी के लक्ष्य थे। प्रधानतः तो वे भक्त थे और भक्ति के स्रोत में डूबे हुए थे। राम की भक्ति ही उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य थी और उसी उपलक्ष्य से अन्य समस्त कार्य वे करते थे। भारत की चिर-प्रचलित आध्यात्मिक साधना को सामयिक साँचे में ढालकर और उसे रामकथा के प्रबंध में सन्निहित कर उन्होंने जन-समाज के मानस को आप्लावित कर दिया। इस देश का कोई कवि सामूहिक

ख्याति प्राप्त करने के लिये अध्यात्म विद्या का संग नहीं छोड़ सकता। विशेषत: जिस कवि का मुख्य उद्देश्य समाज को भक्ति की धारा में निष्णात करना रहा हो उसे तो स्वत: अध्यात्मशास्त्र का साधक और अनुयायी होना ही चाहिए। गोस्वामीजी भी ऐसे ही कवि थे।

(३) अनेक ग्रंथ

गोस्वामीजी के रामचरितमानस और विनय-पत्रिका के अतिरिक्त दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्न आदि बड़े ग्रंथ तथा बरवै रामायण, रामलला नहछू, कृष्ण-गीतावली, वैराग्य-संदीपनी, पार्वतीमंगल और जानकीमंगल छोटी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख शिवसिंह-सरोज में किया गया है परंतु उनमें से कुछ तो अप्राप्य हैं और कुछ उनके उपर्युक्त ग्रंथों में सम्मिलित हो गई हैं तथा कुछ संदिग्ध हैं। साधारणत: ये ही ग्रंथ गोस्वामीजी रचित माने जाते हैं। बाबा वेणीमाधवदास ने गोस्वामीजी की "रामसतसई" का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी रचना गोस्वामीजी की अन्य कृतियों के अनुकूल नहीं है; क्योंकि उसमें अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली आदि के रूप में आए हैं जो चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय हो सकते हैं, गोस्वामी तुलसीदास जैसे कलामर्मज्ञों को नहीं। फिर भी वेणीमाधवदास का साक्ष्य एकदम अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

(४) रामचरित की व्यापकता

कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने नर-काव्य नहीं किया। केवल एक स्थान पर अपने काशीवासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो-चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का रामकथा के प्रसंग में नाम लिया है। "कीन्हें प्राकृत जन गुनगाना,

सिर धुनि गिरा लागि पछिताना" का पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है। यद्यपि गोस्वामीजी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग रामगुण-कीर्त्तन में ही किया है, पर रामचरित्र के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श प्रस्फुटित हुए हैं वे मनुष्यमात्र के लिये कल्याणकर हैं। दोहावली में उन्होंने सच्चे प्रेम की जो आभा चातक और घन के प्रेम में दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृंखलता का जो खंडन साखी-शब्दी-दोहाकारों की निंदा करके किया है, रामचरित-मानस में मर्यादावाद की जैसी सुंदर पुष्टि शिष्य द्वारा गुरु की अवहेलना को दंडित करके की है, रामराज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रखा है उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामी-जी की मनुष्य-समाज के प्रति हितकामना स्पष्टत: झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्य में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है, स्वांत:सुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेषता उन्हें हिंदी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करनेवाले कवियों से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेनेवाले नीतिवादी भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से तुलसी की प्रांजलता, माधुर्य और ओज अनुपम तथा मानव-जीवन का सर्वांग निरूपण अप्रतिम हुआ है। मर्यादा और संयम की साधना में

(५) आंतरिक अनुभूति

वे संसार के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब गोस्वामीजी की यथार्थ महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

गोस्वामीजी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक उद्भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें महर्षि वाल्मीकि से बनी बनाई मिल गई थी, परंतु उसमें भी गोस्वामीजी ने यथोचित परिवर्तन किए हैं।

(६) स्वतंत्र उद्भावना

सीता-स्वयंवर के पूर्व फुलवारी का मनोरम वर्णन तुलसीदासजी की अपनी उद्भावना है। धनुष-भंग के पश्चात् परशुरामजी का आगमन उन्होंने अपनी प्रबंध-पटुता के प्रतीक-स्वरूप रखा है। कितनी ही मर्मस्पर्शिनी घटनाएँ गोस्वामीजी ने अपनी ओर से सन्निहित की हैं, जैसे सीताजी का अशोकवन में विरह-पीड़ित अवस्था में अशोक से आग माँगना और तत्क्षण हनुमान्‌जी का मुद्रिका गिराना। हनुमान्, विभीषण और सुग्रीव आदि रामभक्तों का चरित्र तुलसीदासजी ने विशेष सहानुभूति के साथ अंकित किया है। गोस्वामीजी के भरत तो गोस्वामीजी के ही हैं—भक्ति की मूर्त्ति। अपने युग की छाप भी रामचरितमानस में मिलती है जिससे वह युग-प्रवर्तक ग्रंथ बन सका है। कलियुग के वर्णन में उन्होंने सामयिक स्थिति का व्यंग्य-पूर्ण चित्र उपस्थित किया है। ये सब तुलसी की अपनी मौलिकताएँ हैं जिनके कारण उनका मानस अन्य प्रांतीय भाषाओं में लिखे हुए रामकथा के ग्रंथों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण और काव्यगुणोपेत बन सका। पूरे ग्रंथ में उपमाओं और रूपकादि अलंकारों की नैसर्गिकता चित्त को विमुग्ध करती है। वे

अलंकार और वह समस्त वर्णन रूढ़िबद्ध या अनुकरणशील कवि में आ ही नहीं सकते। गोस्वामीजी में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि थी, इसका परिचय स्थान स्थान पर प्राप्त होता है। वे कोरे भक्त ही नहीं थे; मानव-चरित्र, उसकी सूक्ष्मताओं और ऋजु-कुटिल गतियों के पारखी भी थे, यह रामचरितमानस में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। मंथरा के प्रसंग में गोस्वामीजी का यह चमत्कार स्पष्ट लक्षित है। कैकेयी की आत्मग्लानि भी उन्होंने मौलिक रूप से प्रकट कराई है। ऐसे ही अन्य अनेक स्थल हैं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिंदी के कवियों में बहुत कम है; परंतु गोस्वामीजी ने चित्रकूट-वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं, भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबंध में संबंधनिर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरंतर ध्यान रखने में वे अपनी समता नहीं रखते। उत्कट रामभक्ति के कारण उनके रामचरितमानस में उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह सा बहा है, वह तो वाल्मीकि-रामायण से भी अधिक गंभीर और पूत है।

भाषा और काव्य-शैली

जायसी की भाषा और छंदों का विवेचन करते हुए हम कह चुके हैं कि उन्होंने जिस प्रकार दोहा-चौपाई छंदों में अवधी भाषा का आश्रय लेकर अपनी पद्मावत लिखी है, कुछ वर्षों के पश्चात् गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी उसी अवधी भाषा में उन्हीं दोहा-चौपाई छंदों में अपनी प्रसिद्ध रामायण की रचना की। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे; अतः उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमें साहित्यिकता की छाप नहीं थी। परंतु गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे; अतः उन्होंने कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थलों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है। इससे इनके

रामचरितमानस में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। यदि उसमें एक दासी के मुख से—

फोरइ जोगु कपार हमारा। भलेउ कहत दुख रउरेहिं लागा ॥
कहहिं झूठि फुरि बात बनाई। ते प्रिय तुम्हहिं करुइ मैं माई ॥

जैसी ठेठ भाषा का प्रयोग कराया गया है तो ज्ञान-सिद्धांत के कथन में निम्नलिखित प्रकार की भाषा भी है—

सोहमस्मि इति बृत्ति अखंडा। दीपसिखा सोइ परम प्रचंडा ॥
आतम अनुभव सुख सुप्रकासा। तब भवमूल भेद भ्रम नासा ॥

यह तो हुई उनके रामचरितमानस की बात। उनकी विनय-पत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि में ब्रजभाषा व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह ब्रजभाषा विकसित होकर गोस्वामीजी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी, क्योंकि सूरदास आदि भक्त कवियों की विस्तृत रचनाएँ इसमें हो रही थीं। गोस्वामीजी ने ब्रजभाषा में भी अपनी संस्कृत पदावली का सम्मिश्रण किया और उसे उपयुक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर जायसी और सूर ने क्रमशः अवधी और ब्रजभाषा में ही काव्यरचना की थी वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार हुआ और उन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो उनकी अपनी है। जहाँ उन्होंने इस प्रकार की सरल और मधुर ब्रजभाषा लिखी है—

छोटी मोटी मीसी रोटी चिकनी चुपरिकै तू
दे री मैया 'ले कन्हैया' 'सो कब' 'अबहिं तात'।
सिगरियै हौं ही खैहौं बलदाऊ को न दैहौं
सो क्यों भटू तेरो कहा कहि इत उत जात ॥

बाल बोलि डहकि बिरावत चरित लखि
गोपीगन मुदित महरि पुलकित गात ॥
नूपुर की धुनि किंकिनी के कलरव सुनि
कूदि कूदि किलकि किलकि ठाढ़े ठाढ़े खात ॥

तो इस प्रकार की संस्कृतप्रधान भाषा का भी प्रचुर प्रयोग किया है—

अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा बसत इति बासना धूप दीजै।
दीप निज बोध गत क्रोध मद मोह तम प्रौढ़ अभिमान चितवृत्ति छीजै ॥

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रंथों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छंद-भेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रखा है, परंतु साथ ही हरिगीतिका आदि लंबे तथा सोरठा आदि छोटे छंदों का भी बीच बीच में व्यवहार कर उन्होंने छंद-परिवर्तन की ओर ध्यान रखा है। रामचरित के लंकाकांड में जो युद्ध-वर्णन है, उसमें चंद आदि वीर कवियों के से छंद भी लाए गए हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छंदों में कथा कही गई है जो भाटों की परंपरा के अनुसार है। विनय-पत्रिका तथा गीतावली आदि में व्रज-भाषा के सगुणोपासक संत महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत-काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों में संगीत शास्त्र के अनुसार हुआ है। वहाँ की लीरिक कविता आरंभ में वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिंदी के गीत काव्यों में भी संगीत के राग रागिनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली, बरवै रामायण आदि में तुलसीदास जी ने छोटे छंदों में नीति आदि के उपदेश दिए हैं अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर भावव्यंजना की है। सारांश यह कि गोस्वामीजी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रंथों की रचना की है

और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छंदों का प्रयोग किया है। इस कार्य में गोस्वामीजी की सफलता विस्मयकारिणी है। हिंदी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजना-शक्ति उनकी रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिंदी में पूर्ण प्रौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

उपसंहार

तुलसीदासजी के महत्त्व का ठीक ठीक अनुमान करने के लिये उनकी कृतियों की तीन प्रधान दृष्टियों से परीक्षा करनी पड़ेगी। भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के संरक्षण तथा उत्कर्ष-साधन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है, जिसके परिणाम-स्वरूप हम यहाँ कुछ बातों का स्पष्टत: उल्लेख कर सकते हैं। हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामीजी का व्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों में दर्शनीय हुई है। छंदों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रंथ हिंदी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबंध-कल्पना, क्या संबंध-निर्वाह, क्या वस्तु एवं भावव्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन में हिंदी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अंतिम प्रश्न संस्कृति का है। गोस्वामीजी ने देश के परंपरागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रंथ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिये धर्मग्रंथ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामीजी हिंदू जाति, हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति को

अक्षुण्ण रखनेवाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यशः-प्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिंदी भाषा-भाषी के हृदयपटल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी, इसमें कुछ भी संदेह नहीं। भारतीय समाज की संस्कृति और प्राचीन ज्ञान की रक्षा के लिये गोस्वामीजी का कार्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। किंतु गोस्वामीजी परंपरा रक्षा के लिये ही एकमात्र यत्नवान् न थे। वे समय की स्थितियों और आवश्यकताओं को भी समझते थे तथा समाज को नवीन दिशा की ओर अग्रसर करने के प्रयास भी उन्होंने किए। आचार-संबंधिनी जितनी शुद्धि और परिष्कार उन्होंने किया वह सब जातीय जीवन को दृढ़ करने में सहायक बना। यह तो नहीं कहा जा सकता कि तुलसीदासजी परंपरा या रूढ़ियों के बंधन से सर्वथा मुक्त थे तथापि संस्कृति की रक्षा और उन्नयन के लिये उन्होंने जो महान् कार्य किया उसमें इस बंधन का कुप्रभाव नगण्य सा है। उनके गुणों का विशाल ऋण हिंदू समाज पर है और चिरदिन तक रहेगा। इस अकाट्य सत्य को कौन अस्वीकार कर सकता है?

यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परंपरा क्रमबद्ध होती है। इसमें कार्य-कारण का संबंध प्रायः ढूँढ़ा और पाया जाता है। एक कालविशेष के कवियों को यदि हम फल-स्वरूप मान लें, तो उनके पूर्ववर्ती ग्रंथकारों को फूल-स्वरूप मानना होगा। फिर ये फल-स्वरूप ग्रंथकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के फल-स्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रंथकारों के फूल-स्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला चलेगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे। इस सिद्धांत को सामने रखकर यदि हम तुलसीदासजी के संबंध में विचार करते हैं, तो हमें पूर्ववर्ती

काव्यकारों की कृतियों का क्रमशः विकसित रूप तो तुलसीदासजी में देख पड़ता है, पर उनके पश्चात् यह विकास आगे बढ़ता हुआ नहीं जान पड़ता। ऐसा भास होने लगता है कि तुलसीदासजी में हिंदी साहित्य का पूर्ण विकास संपन्न हो गया और उनके अनंतर फिर क्रमोन्नत विकास की परंपरा बंद हो गई तथा उसकी प्रगति ह्रास की ओर उन्मुख हुई। सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदासजी में हिंदी कविता की जो सर्वतोमुखी उन्नति हुई, वह उनकी कृतियों में चरम सीमा तक पहुँच गई, उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया। इसमें गोस्वामीजी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पड़ती है। गोस्वामीजी के पीछे उनकी नकल करनेवाले तो बहुत हुए, पर ऐसा एक भी न हुआ जो उनसे बढ़कर हो या कम से कम उनकी समकक्षता कर सकता हो। हिंदी कविता के कीर्तिमंदिर में गोस्वामीजी का स्थान सबसे ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। गोस्वामीजी के काव्य में रामभक्ति की परंपरा और उसका उत्कर्ष पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। उनके पश्चात् यह रामभक्ति की धारा उतनी प्रशस्त नहीं रह गई। कविता के क्षेत्र में तो वह क्षीण ही होती चली गई। तुलसीदासजी के पश्चात् रामभक्ति में सांप्रदायिकता की मात्रा बढ़ी। ऐसा होना स्वाभाविक भी था। इस सांप्रदायिकता से तुलसीदासजी के काव्य का प्रचार तो बहुत हुआ पर परवर्ती कवियों के विकास का मार्ग भी अवरुद्ध हो गया।

नाभादास

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, रामभक्ति की कविता गोस्वामी तुलसीदासजी की कृतियों से इतनी ऊँची उठ गई कि उनके पीछे के रामभक्त कवियों की अधिक प्रसिद्धि न हो सकी। गोस्वामीजी के आलोक के सामने वे फीके देख पड़ते हैं। फिर भी उनके समकालीन भक्त नाभादासजी

रामभक्ति के एक उल्लेखयोग्य कवि हैं। नाभादासजी का "भक्त-माल" भक्तों का प्रिय ग्रंथ रहा है और अब भी है। इसका उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता में पूज्यबुद्धि का प्रचार करना हो सकता है परंतु और ध्यानपूर्वक देखने से पता चलेगा कि इसमें बहुत संक्षेप में भक्त महात्माओं के संबंध में जो विचार प्रकट किए गए हैं वे व्यर्थ प्रशंसा न होकर नाभादासजी की सच्ची सहृदयता और गुणग्राहकता के सूचक हैं और हिंदी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास के अध्येताओं के लिये भी काम की चीज हैं। उसमें सांप्रदायिक विभेद का परित्याग कर अनेक महात्माओं की जीवनी और कीर्ति की प्रशस्ति लिखी गई है। उदाहरणार्थ सूरदास के संबंध में उन्होंने लिखा है—

उक्ति चोज अनुप्रास वरन अस्थिति अति भारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अदभुत तुकधारी॥
प्रतिबिंबित दिखे दृष्टि हृदय हरिलीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी॥
विमल बुद्धि गुण और की जो यह श्रवननि धरै।
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै॥

थोड़े में ही इसमें सूर कवि की सभी विशेषताओं का वर्णन कर दिया गया है। इस रचना में संक्षिप्त सूत्रशैली का व्यवहार किया गया है जिससे अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई होती है। प्रियादास नामक संत ने भक्तमाल की टीका लिखकर इस कठिनाई को दूर करने की सफल चेष्टा की है। प्रियादास नाभाजी के सौ वर्ष उपरांत हुए थे, फिर भी उन्होंने टीका बड़ी प्रामाणिक रीति से लिखी है।

नाभाजी स्वयं बड़े भक्त और संत थे। इनकी जाति का ठीक पता नहीं। कोई इन्हें डोम बतलाते हैं और कोई क्षत्रिय। गोस्वामी तुलसीदास से इनकी भेंट हुई थी। इनका जीवनकाल

लगभग १६०० से १६८० तक रहा होगा। इनके गुरु अग्रदास जिनकी प्रेरणा से इन्होंने भक्तमाल की रचना की थी, कृष्णदास पयहारी के शिष्य और रामानंद के शिष्य अनंतानंद के प्रशिष्य थे। अग्रदास ने भी रामभक्ति की कुछ कविता की है। नाभादास की रामचरित पर एक पुस्तक, अभी थोड़े दिन हुए मिली है। इसके अतिरिक्त उनके दो ग्रंथ और हैं जिनमें से एक व्रजभाषा गद्य में है और दूसरा अवधी पद्य में।

प्राणचंद और हृदयराम

प्राणचंद चौहान और हृदयराम इन दोनों रामभक्त कवियों ने नाटकों की शैली में रामकथा कही है। उनके नाटक रंगशाला में खेले जाने योग्य नहीं हैं, केवल कथोपकथन के रूप में होने के कारण उनको नाटक कह दिया जाता है। फिर भी इतना अवश्य है कि रामभक्ति की कविता प्रबंध और मुक्तक काव्यों के रूप में ही नहीं लिखी गई, दृश्य काव्य की शैली पर भी लिखी गई। रामभक्ति से हिंदी कविता को जितनी व्यापकता और विस्तार मिला, कृष्णभक्ति से उतना नहीं। कृष्णभक्ति की कविता तो अधिकतर गीत काव्यों की शैली पर ही लिखी गई।

प्राणचंद ने संवत् १६६७ में रामायण महानाटक लिखा और हृदयराम ने संवत् १६८० में संस्कृत हनुमन्नाटक के आधार पर हिंदी हनुमन्नाटक की रचना की। इन दोनों में हृदयराम की रचना अधिक प्रौढ़ और प्रसिद्ध हुई।

रामभक्ति की एक शाखा हनुमानभक्ति के रूप में भी स्फुरित हुई। गोस्वामी तुलसीदास का हनुमानबाहुक महावीरजी की स्तुति में लिखा गया था। इस प्रकार की पुस्तकों में रायमल्ल पांडे का लिखा हनुमच्चरित्र (१६९६) कुछ प्रसिद्ध है।

यहाँ हम केशवदास की रामचंद्रिका तथा इस श्रेणी की अन्य पुस्तकों का उल्लेख नहीं करते, क्योंकि इनके रचयिता रामभक्त नहीं थे और इनके काव्य भी भक्तिकाव्य नहीं कहे जा सकते।

रामोपासक कवियों में महाराज विश्वनाथसिंह और महाराज रघुराजसिंह का नाम भी लिया जाता है। ये दोनों ही रीवाँनरेश

विश्वनाथसिंह और रघुराजसिंह

रामभक्त थे, परंतु महाराज विश्वनाथसिंह निर्गुण भक्ति की ओर भी झुके थे और कबीर आदि पर आस्था रखते थे। विश्वनाथसिंह ने कितने ही ग्रंथों की रचना की जिनमें अनेक रामभक्ति के भी हैं; पर उनके ग्रंथों का विशेष प्रचार नहीं हुआ। महाराज रघुराजसिंह के "रामस्वयंवर" की अच्छी प्रसिद्धि है परंतु साहित्यिक दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं। उसमें युद्ध-वर्णन के अवसर पर जिन अनेक शस्त्रों आदि का नामोल्लेख किया गया है, उन्हें पढ़कर जी ऊब जाता है। इतिवृत्ति के रूप में ही इसके प्रायः सब वर्णन हैं, अतः उनमें काव्यत्व की कमी है, फिर भी साधारण साहित्य-समाज में इस पुस्तक का पर्याप्त प्रचार है। इसमें विशेष-कर महाराज रघुराजसिंह ने राजसी ठाट-बाट का वर्णन किया है।

आधुनिक युग भक्ति का युग नहीं है। फिर भी रामचरित के कुछ प्रसंगों को लेकर खड़ी बोली में कुछ खंडकाव्यों की

मैथिलीशरण

रचना हुई है, परंतु वे भक्ति-काव्य नहीं कहला सकते। श्री मैथिलीशरण गुप्तकी "पंचवटी" कविता-पुस्तक में राम का सीता और लक्ष्मण सहित पंचवटी-प्रवास वर्णित है। इन्हीं गुप्तजी का "साकेत" नामक बड़ा काव्य-ग्रंथ भी निकला है जिसमें राम-कथा कही गई है। कुछ अन्य कवियों ने भी रामायण की कथा का आश्रय लेकर कविता की है, पर उनका नामोल्लेख यहाँ अनावश्यक है।

नवाँ अध्याय

कृष्णभक्ति शाखा

कृष्णभक्ति की उत्पत्ति और विकास

भारतीय महापुरुषों के संबंध में यह बात विशेषत: सत्य है कि वे अपने जीवनकाल में तो साधारण यश तथा प्रसिद्धि पाते हैं, पर कुछ समय के उपरांत उनमें ईश्वर की कलाओं का सन्निवेश माना जाता और उनकी उपासना की जाती है। वाल्मीकि के मूलग्रंथ में राम एक शक्तिशाली नृपति के रूप में अंकित किए गए हैं, ईश्वर के अवतार के रूप में नहीं। परंतु उसी ग्रंथ के उत्तरकालीन अंश में ही राम भगवान् विष्णु के अंशावतार स्वीकृत किए गए हैं, और उनमें देवत्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की गई है। इसके उपरांत रामभक्ति का विकास होता गया और अंत में रामोपासक संप्रदाय का आविर्भाव हुआ। इस सांप्रदायिक रूप में तो राम का स्थान सब देवताओं से ही नहीं, स्वयं विष्णु से भी बढ़कर माना गया है। यही नहीं, कबीर आदि के राम तो निर्गुण और सगुण से भी परे परब्रह्म कहे गए हैं। तुलसी आदि उदार-हृदय, समन्वयवादी संत भी राम को सर्वव्यापक और सर्वज्ञ बतलाते हैं। राम जिनके इष्टदेव हैं, उनके लिये वे ही सब कुछ हैं; उनके लिये सब जग ही सियाराममय है। कृष्ण की उपासना का भी इसी प्रकार विकास हुआ है। महाभारत के प्रारंभिक पर्वों में वे अवतार नहीं बने, पर भगवद्गीता में उनकी अवतारणा भगवान् कृष्ण के रूप में हुई जो ईश्वर की संपूर्ण कलाओं को लेकर नरलीला करने तथा संसार का भार उतारने आए थे। पर गीता में कृष्ण को

सांप्रदायिक रूप नहीं मिला। भागवत पुराण में कृष्णभक्ति दृढ़ हो गई है। उसके उपरांत तो कृष्णभक्ति के अनेक संप्रदाय चले जिनमें भगवान् कृष्ण के विभिन्न रूपों की उपासना होने लगी।

कृष्णोपासना के उन अनेक संप्रदायों के उल्लेख से यहाँ प्रयोजन नहीं जिनका हिंदी साहित्य से प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। हम तो हिंदी साहित्य की ही कृष्णभक्ति शाखा का विवरण यहाँ देंगे और उन कृष्ण-भक्त कवियों का उल्लेख करेंगे जिनसे हिंदी की श्रीवृद्धि हुई है। परंतु हिंदी के सभी कृष्णभक्त कवि एक ही संप्रदाय के नहीं थे, अतएव उन्होंने विभिन्न रूपों में कृष्ण की उपासना की और उनकी स्तुति में अपनी वाणी का उपयोग किया। जब हम कालक्रमानुसार हिंदी के कृष्णोपासक कवियों पर दृष्टि डालते हैं, तब उनमें कितने ही भेद पाते हैं। भेद का कारण जहाँ वैयक्तिक रुचि अथवा प्रतिभा आदि है, वहाँ संप्रदाय-भेद भी है। उदाहरणार्थ विद्यापति और मीराबाई की रचनाओं तथा सूरदास आदि अष्टछाप के कवियों की कृतियों में बहुत कुछ ऐसी विभिन्नता है जिसका कारण सांप्रदायिक मतों की विभिन्नता है। इसी प्रकार स्वामी हरिदास और महात्मा हितहरिवंशजी में भी संप्रदाय-भेद के कारण अंतर देख पड़ता है। उनकी वाणी न तो आपस में ही मिलती है और न सूर आदि की वाणी से ही उसका मेल मिलता है। विभेद के कारणों का अनुसंधान करने पर यह पता लगता है कि विद्यापति और मीरा पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क मतों का अधिक प्रभाव था और सूरदास आदि अष्ट-छाप के कवि वल्लभाचार्य के मतानुयायी थे। इसी प्रकार स्वामी हरिदास निंबार्काचार्य के टट्टी संप्रदाय के थे, और हितहरिवंशजी ने राधा की भक्ति को प्रधानता देकर नवीन मत का सृजन किया था। ऐसे ही अन्य विभेद भी हैं। यहाँ हम कृष्णभक्ति के

कवियों पर लिखते हुए संक्षेप में उन संप्रदायों का उल्लेख करेंगे जिनके मतों और सिद्धांतों का उन पर प्रभाव पड़ा था।

शंकर के अद्वैतवाद में भक्ति के लिये जगह न थी, यह हम पहले ही कह चुके हैं। शंकर के उपरांत स्वामी रामानुजाचार्य ने जिस विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया था, वह भी भक्ति के बहुत उपयुक्त न था। इसी समय के लगभग प्रणीत भागवत पुराण में भक्ति का दृढ़ मार्ग निरूपित हुआ और मध्वाचार्य ने पहले पहल द्वैतमत का सृजन कर भक्त और भगवान् के संबंध को सिद्ध किया। मध्वाचार्य दक्षिण में उदीची नामक स्थान के रहनेवाले थे। उन्होंने पहले तो शांकर मत की शिक्षा पाई थी, पर पीछे महाभारत तथा भागवत पुराण का अध्ययन किया था। भागवत पुराण के अध्ययन का उन पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे शंकर के ज्ञान-मार्ग के विरोधी और भक्ति के समर्थक बन गए। उत्तर भारत में उनके सिद्धांतों का प्रत्यक्ष में तो अधिक प्रभाव नहीं पड़ा, पर अनेक संप्रदाय उनके उपदेशों का आधार लेकर दक्षिण में खड़े हुए और देश के विस्तृत भूभागों में फैले। हिंदी के कृष्णभक्त कवियों में विद्यापति पर माध्व संप्रदाय का ऋण स्वीकार करना पड़ता है।

विद्यापति और मीरा

परंतु विद्यापति पर माध्व संप्रदाय का ही ऋण नहीं है, उन्होंने विष्णु स्वामी तथा निंबार्काचार्य के मतों को भी ग्रहण किया था। न तो भागवत पुराण में और न माध्व मत में ही, राधा का उल्लेख किया गया है। श्रीमद्भागवत में एक श्रेष्ठ या प्रधान गोपी का उल्लेख अवश्य है और हो सकता है उसका संकेत राधा के ही लिये हो; परंतु उसमें यह प्रधान गोपी कृष्ण की चिर-प्रेयसी के रूप में वर्णित नहीं हुई है। राधा का नाम सर्वप्रथम ब्रह्मवैवर्त पुराण में दिखाई पड़ता है जहाँ से यह विष्णु स्वामी और निंबार्क संप्रदायों में

पहले पहल आया। विद्यापति को श्रीकृष्ण की चिरप्रेयसी राधा का रूप इन्हीं संप्रदायों से प्राप्त हुआ। काव्य-परंपरा की दृष्टि से देखें तो विद्यापति के लगभग ढाई सौ वर्ष पूर्व संस्कृत के सरस कवि जयदेव ने राधा और कृष्ण के अलौकिक प्रेम में मस्त होकर जिस मधुर-कोमल-कान्त पदावली का गान किया था उसकी गूँज हम विद्यापति में भी पाते हैं। पर राधा का सांप्रदायिक आधार विष्णु स्वामी तथा निंबार्क के ही सिद्धांत हैं। विष्णु स्वामी मध्वाचार्य की ही भाँति द्वैतवादी थे। भक्तमाल के अनुसार वे प्रसिद्ध मराठा भक्त ज्ञानेश्वर के गुरु और शिक्षक थे। राधाकृष्ण की सम्मिलित उपासना इनकी भक्ति का नियम था। विष्णु स्वामी के ही समकालीन निंबार्क नामक तैलंग ब्राह्मण का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने वृंदावन में निवास कर गोपाल कृष्ण की भक्ति की थी। निंबार्क ने विष्णु स्वामी से भी अधिक दृढ़ता से राधा की प्रतिष्ठा की और उन्हें अपने प्रियतम कृष्ण के साथ गोलोक में चिर निवास करनेवाली कहा। राधा का यही चरम उत्कर्ष है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण की प्रेमलीला का जो विशद वर्णन किया है, उस पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क मतों का प्रभाव प्रत्यक्ष है। विद्यापति राधा और कृष्ण के संयोग-शृंगार का ही विशेषतः वर्णन करते हैं। उसमें कहीं कहीं अश्लीलत्व भी आ गया है जो कृष्ण-भक्तों की दृष्टि से भगवद्विषयक होने के कारण अश्लील न होकर उनका सर्वस्व तथा उन्हें तन्मय कर देनेवाला है। पर अधिकांश स्थलों में प्रिया राधा का प्रियतम कृष्ण के साथ बड़ा ही सात्त्विक और रसपूर्ण सम्मिलन प्रदर्शित किया गया है। बंगाल के चंडीदास आदि कृष्णभक्त कवियों ने भी राधा की प्रधानता स्वीकार की है। हिंदी की प्रसिद्ध भक्त और कवयित्री मीराबाई के प्रसिद्ध पद "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई" में गोपाल कृष्ण का

स्मरण है जो निंबार्क संप्रदाय के प्रचलन के अनुसार है। मीराबाई के अनेक पदों में जो तन्मयता देख पड़ती है, वह वास्तव में प्रेमातिरेक के कारण है और निस्संदेह सात्विक है। विद्यापति और मीराबाई पर विष्णु स्वामी तथा निंबार्क मतों की छाप थी। विष्णु स्वामी सिद्धांतों में मध्वाचार्य के और निंबार्क स्वामी रामानुज के अनुयायी थे।

विद्यापति बिहार में दरभंगा जिले के बिसपी नामक ग्राम के निवासी थे। इनका जन्म सं० १४१७ और मृत्यु सं० १५०८ के लगभग हुई थी। अपने जीवन-काल में इन्होंने गणेश्वरराय, कीर्तिसिंह, देवसिंह, शिवसिंह, पद्मसिंह तथा धीरसिंह तक का राजत्व देखा था। हिंदी के अतिरिक्त इन्होंने अवहट्ट और संस्कृत में भी रचनाएँ की थीं। यद्यपि इनके पदों में शृंगार का ही वर्णन अधिक है पर वृद्धावस्था में इन्होंने वैराग्य-पूर्ण पद भी रचे। इनकी पदावली बड़ी ही मधुर है। इन्हें मिथिला का जयदेव कहना अनुचित नहीं। इनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

जतने जतेक धन पाए बटायलूँ मेलि परिजने खाय।
मरण क बेरि हेरि कोई न पूछइ करम संगे चलि जाय॥
ए हरि बंधो तुअ पद नाय।
तुअ पद परिहरि पाप-पयोनिधि पार होब कवन उपाय॥
जावत जनम हम तुअ पद न सेवलूँ युवती मतिमय मेलि।
अमृत तिआजि किए हलाहल पीअलूँ संपदे विपदहि मेलि॥
नव वृंदावन नवीन तरुगन नव नव विकसित फूल।
नवीन वसंत नवीन मलयानिल मातल नव अलिकुल॥
विहरइ नवल किशोर।
कालिंदी पुलिन कुंज नव शोभन नव नव प्रेम विभोर॥
नवीन रसाल मुकुल मधु मातिकै नव कोकिल कुल गाय।

नव युवतीगण चित उनमातइ नव रसे कानन धाय ॥
नव युवराज नवीन नव नागरी मिलइ नव नव भाँति ।
निति निति ऐसन नव नव खेलन विद्यापति मति माति ॥

× × × ×

आज रजनी हम भाग सें पोहायलूँ पेखलूँ पिया मुख चंदा ।
जीवन यौवन सफल करि मानलूँ दश दिश भेल निरदंदा ॥
आजु मुझु गेह गेह करि मानलूँ आजु मुझु देह भेल देहा ।
आजु विहि मोहिं अनुकूल होअल टूटल सबहुँ संदेहा ॥
सो कोकिल अब लाखहु डाकउ लाख उदय करु चंदा ।
पाँच बाण अब होउ लाख बाण मलय पवन बहु मंदा ॥
अब सो न जबहुँ मोहिं परिहायत तबहुँ मानब निज देहा ।
विद्यापति कह अलप भागि नह धनि धनि तव नव लेहा ॥

× × × ×

सखि कि पूँछसि अनुभव मोय ।
सोइ पिरीति अनुराग बखानिते तिले तिले नूतन होय ॥
जनम अवधि हम रूप निहारलुँ नयन न तिरपित भेल ।
सोइ मधुर बोल श्रवणहिं सुनलूँ श्रुति पथे परशन गेल ॥
कत मधु यामिनि रभसे गँवायलुँ न बुझलुँ कैसन केली ।
लाख लाख युग हिये हिये राखलुँ हिया जुड़न न गेली ॥
कत विदगध जन रसे अनुमगन अनुभव काहु न पेख ।
विद्यापति कह पराण जुड़ाइते लाखे न मीलल एक ॥

मीराबाई जोधपुर राज्यस्थ मेड़ता के राठौर रत्नसिंह की पुत्री और रावदूदाजी की पौत्री थीं । इनका जन्म सं० १५५५ के लगभग हुआ था और विवाह उदयपुर के ज्येष्ठ राजकुमार श्री भोजराज के साथ हुआ था, पर विवाह के थोड़े ही काल के अनंतर उनकी मृत्यु हो गई । बचपन ही से मीराबाई का मन गिरिधर गोपाल से लग गया

था। पति की मृत्यु के बाद तो वे अपना संपूर्ण समय उन्हीं की सेवा में बिताने लगीं। मीराबाई का नाम भारत के प्रसिद्ध और अग्रगण्य भक्तों में है। वे अपने ठाकुरजी की मूर्ति के आगे नाचते नाचते उनके प्रेम में बेहोश हो जाती थीं। उनके यहाँ साधुसंतों का आना-जाना अधिक बढ़ने लगा तब राजकुल के लोग इनसे रुष्ट हो गए। प्रसिद्ध है कि इन्हें विष तक देने का प्रयत्न किया गया, पर भगवान् ने इनकी प्राणरक्षा कर ली। घर में रहकर भक्ति में विघ्न पड़ते देख ये वृंदावन और द्वारका में रहकर भगवान् का भजन करने लगीं। इनकी मृत्यु सं० १६०३ के लगभग हुई। इनके पद बड़े ही सरल और सरस तथा राजस्थानी मिश्रित भाषा में हैं। इनकी रचना के उदाहरण निम्नलिखित हैं—

सुनी हो मैं हरि आवन की अवाज।
महल चढ़े चढ़ि जोऊँ सजनी कब आवै महाराज॥
दादुर मोर पपइया बोले कोइल मधुरे साज।
उमग्यो इंद्र चहूँ दिस बरसै दामिनि छोड़े लाज॥
धरती रूप नवा नवा धरिया इंद्र मिलण के काज।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी बेगि मिलो महाराज॥

दरस बिन दूखण लागे नैन।
जबके तुम बिछुरे प्रभु मोरे कबहुँ न पायो चैन॥
सबद सुनत मेरी छतिया काँपै मीठे मीठे बैन।
कल न परत पल हरि मग जोवत भई छमासी रैन॥
बिरह कथा कासूँ कहूँ सजनी बह गई करवत ऐन।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे दुख मेटण सुख दैन॥

विद्यापति और मीरा के उपरांत कृष्णभक्ति के प्रसिद्ध अष्टछाप के कवियों का उदय हुआ। अष्टछाप में आठ कवि सम्मिलित थे। ये वल्लभाचार्य के मतानुयायी थे और उन्हीं के पुत्र तथा उत्तरा-

धिकारी विट्ठलनाथजी द्वारा संघटित किए गए थे। गोसाईं विट्ठलनाथ ने अपने पिता आचार्य वल्लभ के उपदेशानुसार अत्यंत सरल तथा मधुर वाणी में भगवान् कृष्ण का यशोगान करनेवाले आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर अष्टछाप संप्रदाय की प्रतिष्ठा की थी। अष्टछाप में सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीत स्वामी, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास सम्मिलित थे जिनमें पहले चार स्वयं आचार्य वल्लभ के शिष्य थे और पिछले चार उनके पुत्र के। नीचे हम वल्लभाचार्य के जीवन तथा मत का संक्षिप्त विवरण देते हैं, क्योंकि अष्टछाप के कवियों से परिचित होने के लिये इसकी आवश्यकता है।

अष्टछाप और आचार्य वल्लभ

स्वामी वल्लभाचार्य का जन्म काशी के एक तैलंग ब्राह्मण के घर में संवत् १५२९ में हुआ था। इनके पिता विष्णु स्वामी संप्रदाय के अनुयायी थे। इन्हें काशी में शास्त्रीय शिक्षा मिली थी। ये संस्कृत के पंडित होकर बड़े शास्त्रार्थी बन गए थे और विशेषत: स्मार्तों का खंडन किया करते थे।

वल्लभाचार्य ने अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया था तथा भाष्य आदि लिखे थे। "वेदांतसूत्र अणुभाष्य", भागवत की सुबोधिनी टीका तथा "तत्त्व-दीप निबंध" इनकी प्रधान कृतियाँ हैं। ये सब ग्रंथ इन्होंने संस्कृत में लिखे थे, हिंदी में नहीं। इनके मतानुयायियों में गिरिधर तथा बालकृष्ण भट्ट संस्कृत के पंडित थे जिन्होंने पुस्तकें लिखकर इनके सिद्धांतों का प्रचार किया था। गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी भी इनकी शिष्य-परंपरा में अच्छे संस्कृतज्ञ और विद्वान् हो गए हैं।

यद्यपि वल्लभाचार्य अपने को अग्नि का अवतार मानते थे और स्वयं कृष्ण को ही अपना गुरु स्वीकार करते थे, पर उनके

पिता के विष्णुस्वामी-मत तथा निंबार्क संप्रदाय का उन पर विशेष प्रभाव लक्षित होता है। कृष्ण को परब्रह्म तथा राधा को उनकी चिरप्रणयिनी मानकर उनकी उपासना करना निंबार्क संप्रदाय के फल-स्वरूप ही समझना चाहिए।

इनके दार्शनिक सिद्धांत शुद्धाद्वैतवाद कहलाए, जिनमें एक ओर तो रामानुज की विशिष्टता दूर की गई है और दूसरी ओर शंकर का मायावाद अस्वीकृत किया गया। शंकर के ज्ञान के बदले ये भक्ति को ग्रहण करते हैं और भक्ति ही साधन तथा साध्य भी बतलाई जाती है। भक्ति ज्ञान से बढ़कर है क्योंकि वह ईश्वर की कृपा से मिलती है। ईश्वर की कृपा के लिये भागवत (२-१०-४) में 'पोषण' शब्द आया है—'पोषणं तदनुग्रहः'। वल्लभाचार्य के भक्ति-मार्ग में इसके लिये पुष्टि शब्द का व्यवहार किया गया है और इसी लिये उनका भक्तिमार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है।

पुष्टिमार्ग के अनुसार कृष्ण ही ब्रह्म हैं जो सत् चित् और आनंद-स्वरूप हैं। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जीव और जगत् निकलते हैं। ये उससे भिन्न नहीं हैं। अंतर इतना ही है कि जीव आनंद को खोकर केवल सत् और चित् को अंशतः धारण किए रहता है। मुक्त होकर जीव आनंदस्वरूप हो जाता है और कृष्ण के साथ चिरकाल तक एकाकार होकर रहता है। स्वर्गीय वृंदावन ही, जहाँ राधा और कृष्ण चिरंतन विहार करते हैं, भक्तों का आधार और लक्ष्य है।

शंकर के अनुसार वल्लभाचार्य जगत् को मिथ्या नहीं मानते। माया भी ब्रह्म की ही शक्ति है, अतः यह मायात्मक जगत् मिथ्या नहीं है। हाँ, माया में फँसे रहने के कारण जीव अपना शुद्ध स्वरूप नहीं पहचान सकता। जब ईश्वर का अनुग्रह होता है तब जीव माया से मुक्त होकर अपना शुद्ध स्वरूप

पहचानता है और तब वह भी सत्, चित् और आनंद-स्वरूप हो जाता है।

ऊपर जिन दार्शनिक सिद्धांतों का विवरण दिया गया है उनके अतिरिक्त महात्मा वल्लभाचार्य ने कुछ व्यावहारिक नियम भी प्रचलित किए थे जिनका उनके संप्रदाय में अब तक पालन होता है। इन व्यावहारिक नियमों में सबसे अधिक उल्लेखनीय गुरु-शिष्य-संबंध है जिसका आगे चलकर बड़ा अनिष्टकर परिणाम हुआ। वल्लभाचार्य की शिष्यपरंपरा में यह नियम है कि गुरु की गद्दी का उत्तराधिकारी प्रत्येक शिष्य नहीं हो सकता, गुरु का पुत्र ही हो सकता है। गोसाईं विट्ठलनाथ भी इसी नियम के अनुसार गद्दी के उत्तराधिकारी हुए थे। आगे चलकर अयोग्य व्यक्तियों को भी गद्दी का अधिकार मिलने लगा; क्योंकि योग्य पिता की सदैव योग्य संतान नहीं हुआ करती। परंतु इन अयोग्य गुरुओं की पूजा बराबर उतनी ही विधिपूर्वक होती रही जितनी स्वयं कृष्ण की। इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। गुरु धर्मोपदेशक और साधु न बनकर धनलोलुप तथा विलास-प्रिय बन बैठे। उनका वैभव इतना बढ़ा कि वे राजाओं की भाँति संपत्तिशाली हो गए और महाराज की उपाधि भी उन्होंने धारण कर ली। महाराज मंदिर के सर्वेसर्वा होते हैं। भक्तजन उनकी प्रसाद-प्राप्ति के लिये बड़ी बड़ी रकमें दान करते हैं। धीरे धीरे भक्त भी वे ही होने लगे जो विशेष धनवान् हों। इससे राधा-कृष्ण के स्वर्गीय प्रेम को लौकिक विलास-वासना का रूप मिला और संप्रदाय अधःपतित हो गया।

आजकल वल्लभ संप्रदाय के अनुयायी अधिकतर गुजरात तथा राजपूताने के धनी बनिए आदि हैं। बड़े बड़े नगरों में उनकी रासमंडलियाँ हैं जिनमें कृष्ण के रासमंडल का अनुकरण

किया जाता है। इन मंडलियों में वास्तविक भक्त बहुत थोड़े और विलासी धनिक अधिक होते हैं। जिस प्रकार हिंदी साहित्य में सूर आदि की वाणी की ओट में पिछले खेवे के शृंगारी कवियों को अपने कलुषित उद्गारों के व्यक्त करने का अवसर मिला और जिस प्रकार राधा-कृष्ण के नाम पर नायक-नायिकाओं का जमघट तैयार हो गया जिसमें वासनापूर्ण भोगवाणी की ही अभिव्यंजना अधिक हुई, उसी प्रकार वल्लभाचार्य के आधुनिक अनुयायियों में सच्चे स्वर्गीय प्रेम की ओर उतना अनुराग नहीं है जितना उस स्वर्गीय प्रेम की लौकिक प्रतिकृति बनाकर अपनी कायवृत्तियों के परितोष की ओर है।

वल्लभाचार्य के संप्रदाय का तत्कालीन उत्तर भारत पर अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा, और कृष्णभक्ति के अन्य छोटे बड़े संप्रदाय इसके वेग में विलीन हो गए। व्रजभाषा के अधिकांश भक्त कवि इसके अनुयायी थे और जिन कवियों ने इससे अलग रहकर रचना की है, उन पर भी इसका स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। विष्णु स्वामी तथा निंबार्क आदि के संप्रदाय इसके सामने दब गए। उत्तर में वल्लभ संप्रदाय तथा बंगाल में चैतन्य संप्रदाय के कवियों की ही धूम रही, अन्य सब मत फीके पड़ गए। हमारी सम्मति में रामानंद द्वारा आविर्भूत तथा तुलसीदास द्वारा परिपुष्ट रामभक्ति के तत्कालीन ह्रास का एक कारण कृष्णभक्ति के इन संप्रदायों का वेगपूर्ण अभ्युत्थान भी है। राधा और कृष्ण की उपासना-वाणी सारे उत्तर भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक गूँज उठी, जनता सब कुछ भूलकर उस सरस स्रोत में बह चली।

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, हिंदी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी सरस वाणी से देश के असंख्य सूखे हृदय हरे हो उठे और भग्नाश जनता को

जीने का नवीन उत्साह मिला। परंपरा के अनुसार इनका जन्म-काल संवत् १५२९ माना जाता है। इनका जन्म सीही ग्राम में हुआ था। वहाँ से ये रुनकता और गऊघाट पर रहे। चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा भक्तमाल के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई कोई इन्हें महाकवि चंद बरदाई के वंशज भाट कहते हैं। इनके अंधे होने के संबंध में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे जन्म से अंधे थे; पर एक बार जब वे कूएँ में गिर पड़े थे तब श्रीकृष्ण ने उन्हें दर्शन दिए थे और वे दृष्टि-संपन्न हो गए थे। परंतु उन्होंने कृष्ण से यह कहकर अंधे बने रहने का वर माँग लिया कि जिन आँखों से भगवान् के दर्शन किए, उनसे अब किसी मनुष्य को न देखें। इस प्रवाद का आधार उनके दृष्टकूटों की एक टिप्पणी है। इसे असत्य न मानकर यदि एक प्रकार का रूपक मान लें तो कोई हानि नहीं। सूर वास्तव में जन्मांध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता। जान पड़ता है, कूएँ में गिरने के उपरांत उन्हें कृष्ण की कृपा से ज्ञानचक्षु मिले, पहले इस चक्षु से वे हीन थे। यही आशय उक्त कहानी से ग्रहण किया जा सकता है।

सूरदास

जब महात्मा वल्लभाचार्य से सूरदासजी की भेंट हुई थी तब तक वे वैरागी के वेष में रहा करते थे। तब से ये उनके शिष्य हो गए और उनकी आज्ञा से नित्य प्रति अपने उपास्य देव और सखा कृष्ण की स्तुति में नवीन भजन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का बृहत् संग्रह सूरसागर है जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद उन अंध कवि के मुख से निस्सृत हुए, उनमें प्रतिभा का

नवनवोन्मेष भरा हुआ है; उनकी मर्मस्पर्शिता और हृदयहारिता में किसी को कुछ भी संदेह नहीं हो सकता।

सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परंतु यह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरद पुत्र सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। सूरसागर श्रीमद्भागवत का अनुवाद नहीं है पर इसमें उसकी संपूर्ण कथाओं का सन्निवेश किया गया है और इसका प्रधान आधार वही है। श्रीमद्भागवत की ही भाँति यह बारह स्कंधों में विभक्त भी है, पर यह विभाजन पीछे के संग्रहकार भक्तों द्वारा किया हुआ मालूम होता है। पहले हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि राधा का नाम श्रीमद्-भागवत में नहीं है, सूरसागर तथा वल्लभ संप्रदाय के अन्य कवियों में उसका प्रसंग ब्रह्मवैवर्त पुराण तथा विष्णुस्वामी और निंबार्क संप्रदायों के प्रभाव से ही आया। सूरसागर में भागवत की संपूर्ण कथाओं का समावेश होते हुए भी उसमें कृष्ण की बाललीला से लेकर उनके गोकुल त्याग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में विशेष विस्तार से कही गई है। ये पद मुक्तक के रूप में होते हुए भी एक भाव को पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः सूरसागर को हम गीत-काव्य कह सकते हैं। गीत-काव्य में जिस प्रकार छोटे छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद जिस प्रकार स्वतः पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, कवि के आंतरिक हृदयोद्गार होने के कारण उसमें जैसे कवि की अंतरात्मा झलकती देख पड़ती है, विवरणा-त्मक कथा-प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा क्रोध आदि कठोर और कर्कश भावों का सन्निवेश न कर उसमें जैसे सरसता और

मधुरता के साथ कोमलता रहती है, उसी प्रकार सूरसागर के गेय पदों में उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की पूरी जीवन-गाथा भी सूरसागर में मिलती है, पर उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं देख पड़ती, केवल प्रेम, विरह आदि विभिन्न भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुंदर बन पड़ी है। उसके संपूर्ण कथाप्रवाह की दृष्टि से यदि उसे प्रबंध काव्य कहना चाहें तो गीत प्रबंध कहा जा सकता है।

सूरसागर के आरंभिक नव स्कंधों में विनय के पद, सृष्टि-क्रम तथा चौबीस अवतारों का वर्णन, आर्यावर्त के नृपतियों का पौराणिक परिचय, भागवत पुराण की आध्यात्मिक व्याख्या आदि के विषय आए हैं। इनमें मुख्यत: श्रीमद्भागवत का ही तथा कहीं कहीं कुछ अन्य पुराणों का अनुसरण किया गया है। दशम स्कंध में कृष्ण-जन्म से कथा का आरंभ हुआ है। यशोदा के गृह में पहुँचकर कृष्ण धीरे धीरे बड़े होने लगे। उस काल की उनकी बाल-लीलाओं का जितना विशद वर्णन सूरदास ने किया उतना हिंदी के अन्य किसी कवि ने नहीं किया। कृष्ण अभी कुछ ही महीनों के हैं, माँ का दूध पीते हैं, माँ यह अभिलाषा करती है कि बालक कब बड़ा होगा, कब इसके दो नन्हें नन्हें दाँत जमेंगे, कब यह माँ कहकर पुकारेगा, कब घुटनों के बल घर भर रेंगता फिरेगा आदि आदि--

जसुमति मन अभिलाख करै।
कब मेरो लाल घुटुरुवन रेंगै कब धरनी पग द्वैक धरै।
कब द्वै दंत दूध के देखौं कब तुतरे मुख बैन झरै।
कब नंदहिं कहि बाबा बोलै कब जननी कहि मोहि ररै।
कब मेरो अँचरा गहि मोहन जोइ सोइ कहि मोसों झगरै।
कब धौं तनक तनक कछु खैहै आपन कर सों मुखहि भरै।
कब हँसि बात कहैगो मोसों छबि पेखत दुख दूरि टरै।

माँ बालक को दूध पिलाती है, न पीने पर उसे चोटी बढ़ने का लालच दिखाती है। कितनी ही बार दूध पीने पर भी चोटी नहीं बढ़ती तो कृष्ण पूछते हैं--

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?

किती बार मोहिं दूध पियत भई यह अजहूँ है छोटी।

तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी

माता कृष्ण को गोद में लिए आँगन में खड़ी आकाश का चंदा दिखलाती है तो बालक कृष्ण उसे लेने के लिये हठ करते हैं—

ठाढ़ी अजिर जसोदा अपनैं हरिहिं लिए चंदा दिखरावत।

रोवत कत बलि जाउँ तुम्हारी देखौं धौं भरि नैन जुड़ावत॥

× × × ×

मनहीं मन हरि बुद्धि करत हैं माता सौं कहि ताहि मँगावत।

लागी भूख चंद मैं खैहौं देहि-देहि रिस करि विरुझावत॥

वे किसी प्रकार नहीं मानते तो माता—

जलपुट आनि धरनि पर राख्यौ गहि आन्यौ वह चंद दिखावै।

सूरदास प्रभु हँसि मुसुक्याने, बार बार दोऊ कर नावैं॥

कितना वात्सल्य स्नेह, कितना सूक्ष्म निरीक्षण और कितना वास्तविक वर्णन है। इस प्रकार के असंख्य सूक्ष्म भावों से युक्त अनेक रसपूर्ण पद कहे गए हैं। इन्हीं से उस युग की संस्कृति का निर्माण हुआ था, और इनमें उसका पूर्ण प्रतिबिंब भी मिलता है। कृष्ण कुछ बड़े होते हैं। मणि-खंभों में अपना प्रतिबिंब देखकर प्रसन्न होते और मचलते हैं। घर की देहली नहीं लाँघ पाते। कृष्ण और बड़े होते हैं, वे घर से बाहर जाते, गोप-सखाओं के साथ खेलते-कूदते और बालचापल्य प्रदर्शित करते हैं। उनके माखनचोरी आदि प्रसंगों में गोपिकाओं के प्रेम की व्यंजना भरी पड़ी है। गोपियाँ बाहर से यशोदा के पास उपालंभ आदि लाती

हैं, पर हृदय से वे कृष्ण की लीलाओं पर मुग्ध हैं। यशोदा बालक का पक्ष लेकर उसे निर्दोष बताती हैं तब वे मुख मोड़कर मुसकराती हुई चली जाती हैं—

मेरौ गोपाल तनक सौ कहा करि जानै दधि की चोरी।
हाथ नचावति आवति ग्वारिनि जीभ करै किन थोरी॥
कब सींकै चढ़ि माखन खायौ कब दधि मटुकी फोरी।
अँगुरी करि कबहूँ नहिं चाखत घरहीं भरी कमोरी॥
इतनी सुनत घोष की नारी रहसि चली मुख मोरी।
सूरदास जसुदा कौ नंदन जो कछु करै सो थोरी॥

ग्वालिन कृष्ण को चोरी करते पकड़ पाती है—

चोरी करत कान्ह धरि पाए।
निसि बासर मोहिं बहुत सतायौ अब हरि हाथहि आए।

× × × ×

दोउ भुज पकरि कह्यौ कहँ जैहौ माखन लेउँ मँगाइ।
तेरी सौं मैं नैकु न खैहौ, सखा गए सब खाइ॥
मुख तन चितै बिहँसि हरि दीन्हौं रिस तब गई बुझाइ।
लियौ स्याम उर लाइ ग्वालिनी सूरदास बलि जाइ॥

ऐसे अनेक सरस चित्रों से सूरसागर भरा हुआ है।

प्रेम का यह अंकुर बड़ी ही शुद्ध परिस्थिति में देख पड़ता है। कृष्ण की यह किशोरावस्था है, कलुष या वासना का नाम भी नहीं है। शुद्ध स्नेह है। आगे चलकर कृष्ण सारे ब्रजमंडल में सबके स्नेहभाजन बन जाते हैं। उनका गोचारण उन्हें मनुष्यों के परिमित क्षेत्र से बाहर बढ़कर पशुओं के जगत् तक पहुँचा देता है। वंशीवट और यमुनाकुंजों की रमणीक स्थली में कृष्ण की जो सुंदर मूर्ति गोप-गोपिकाओं के साथ मुरली बजाते और स्नेहलीला करते अंकित की गई है, वैसी सुषमा का चित्रण करने का सौभाग्य

संभवतः संसार के किसी अन्य कवि को नहीं मिला। व्रजमंडल की यह महिमा अपार है। कृष्ण का व्रजनिवास स्वर्ग को भी ईर्ष्यालु करने की क्षमता रखता है।

गोपिकाओं का स्नेह बढ़ता है। वे कृष्ण के साथ रासलीला में सम्मिलित होती हैं, अनेक उत्सव मनाती हैं। प्रेममयी गोपिकाओं का यह आचरण बड़ा ही रमणीय है। उसमें कहीं से अस्वाभाविकता नहीं आ सकी। कोई कृष्ण की मुरली चुराती, कोई उन्हें अबीर लगाती और कोई चोली पहनाती है। कृष्ण भी किसी की वेणी गूँथते, किसी की आँखें मूँद लेते और किसी को कदंब के तले वंशी बजाकर सुनाते हैं। एकाध बार उन्हें लज्जित करने की इच्छा से चीरहरण भी करते हैं। गोपी-कृष्ण की यह संयोगलीला भक्तों का सर्वस्व है।

संयोग के उपरांत वियोग होता है। कृष्ण वृंदावन छोड़कर मथुरा चले जाते हैं। वहाँ राजकार्यों में संलग्न हो जाने के कारण प्यारी गोपियों को भूल से जाते हैं। गोपिकाएँ विरह में व्याकुल नित्यप्रति उनके आने की प्रतीक्षा में दिन काटती हैं। कृष्ण नहीं आते। गोपियों के भाग्य का यह व्यंग्य उन्हें कुछ देर के लिये विचलित कर देता है। उद्धव उन्हें ज्ञान समझाने आते हैं, पर उनके ज्ञानोपदेश को वे स्वीकार नहीं करतीं। कृष्ण की साकार अनंत सौंदर्यशालिनी मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अमिट अंकित है। कृष्ण चाहे जहाँ रहें, वे उन्हें भूल नहीं सकतीं। यह अनंत प्रेम का दिव्य संदेश भक्तों के हृदय का दृढ़ अवलंब है।

गोपीविरह के पद भ्रमरगीत के नाम से प्रसिद्ध हैं। उनमें गंभीर तथा विदग्धतापूर्ण विरह की सूक्ष्म से सूक्ष्म दशाओं की जैसी सुंदर व्यंजना हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। इसी प्रसंग में

सूरदास ने गोपियों के मुख से जिस कौशल और व्यंग के साथ निर्गुण मत की शुष्कता दिखलाई है वह भी देखते ही बनती है। गोपियों को विश्वास नहीं होता कि प्रियतम कृष्ण हमें दर्शन न देकर हमारे लिये योग का संदेसा भेजेंगे, पर जब उद्धव अपनी बात कहते ही जाते हैं तो वे उन्हें निपट मूर्ख समझ लेती हैं और उन्हें संदेह होता है कि कृष्ण ने जानबूझकर इसे मूर्ख बनाने के लिये भेजा है। इसका पक्का निश्चय करने के लिये वे कितनी चतुराई से पूछती हैं कि क्या श्याम तुम्हें यहाँ भेजते समय कुछ मुसकराए थे ?—

ऊधो जाहु तुम्हैं हम जाने।
स्याम तुम्हैं ह्यौं नाहि पठाए तुम हौ बीच भुलाने ॥
ब्रजवासिन सों जोग कहत हौ बातहु कहत न जाने।
हम सों कही लई सो सहि कै जिय गुनि लेहु अपाने ॥
साँच कहौ तुम को अपनी सौं बूझति बात निदाने।
सूर स्याम जब तुम्हैं पठाए तब नेकहु मुसुकाने ॥

उपर्युक्त कथानक के बीच कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप की व्यंजना करते हुए उनमें असीम शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। थोड़ी आयु में ही वे पूतना जैसी महाकाय राक्षसी का वध कर डालते हैं। आगे चलकर केशी, बकासुर आदि दैत्यों के वध और कालिय-दमन आदि प्रसंगों को लाकर कृष्ण के बल और वीरता का प्रदर्शन किया गया है। परंतु हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि सूरदास ने ऐसे वर्णनों की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया है। सूरदास के कृष्ण महाभारत के कृष्ण की भाँति नीतिज्ञ और पराक्रमी नहीं हैं; वे केवल प्रेम के प्रतीक और सौंदर्य की मूर्ति हैं।

कृष्ण के शील का भी थोड़ा-बहुत आभास सूर ने दिया है। माता यशोदा जब उन्हें दंड देती हैं, तब वे रोते-कलपते हुए उसे

झेलते हैं। इसी प्रकार जब गोचारण के समय उनके लिये छाक आती है, तब वे अकेले ही नहीं खाते, सबको बाँटकर खाते हैं और कभी किसी का जूठा लेकर भी खा लेते हैं। बड़े भाई बलदेव के प्रति भी उनका सम्मान भाव बराबर बना रहता है। यह सब होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि सूरदास में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की ही प्रधानता है, रामचरितमानस की भाँति उसमें लोकादर्शों की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

सूरदास ने फुटकर पदों में राम-कथा भी कही है; पर वह वैसी ही बन पड़ी है, जैसी तुलसी की कृष्ण-गीतावली। इसके अतिरिक्त उनके कुछ दृष्टकूट और कूट पद भी हैं जिनकी क्लिष्टता का परिहार विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य की दृष्टि से कूटों की गणना निम्न श्रेणी में होगी। सूरदास की कीर्ति को अमर कर देने और हिंदी कविता में उन्हें उच्चासन प्रदान करने के लिये उनका बृहदाकार ग्रंथ सूरसागर ही पर्याप्त है। सूरसागर हिंदी की अपने ढंग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत इसमें बहा है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक सूर की पहुँच है, साथ ही जीवन का सरल अकृत्रिम प्रवाह भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है। यह ठीक है कि लोक के संबंध में गंभीर व्याख्याएँ सूरदास ने अधिक नहीं कीं, पर मनुष्यजीवन में कोमलता, सरलता और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गंभीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए तो सूरदास का उद्योग और भी स्तुत्य है। परंतु उनकी कृति तत्कालीन स्थिति से संबंध रखती हुई भी, सर्वकालीन और चिरंतन है। उनकी उत्कट कृष्ण-भक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है, वह अतुलनीय है। उनमें नवोन्मेषशालिनी अद्भुत प्रतिभा है। उनकी

पवित्र वाणी में जो अनूठी उक्तियाँ आपसे आप आकर मिल गई हैं, अन्य कवि उनकी जूठन से ही संतोष करते रहे हैं। सूरदास हिंदी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है, यह निश्चयपूर्वक कह सकना सरल काम नहीं। भाषा पर अवश्य तुलसीदास का अधिकार अधिक व्यापक था। सूरदास ने अधिकतर ब्रज की चलती भाषा का ही प्रयोग किया है। तुलसी ने ब्रज और अवधी दोनों का प्रयोग किया है और संस्कृत का पुट देकर उनको पूर्ण साहित्यिक बना दिया है। परंतु भाषा को हम काव्य-समीक्षा में अधिक महत्त्व नहीं देते। हमें भावों की तीव्रता और व्यापकता पर विचार करना होगा। तुलसी ने रामचरित का आश्रय लेकर जीवन की अनेक परिस्थितियों तक अपनी पहुँच दिखलाई है। सूरदास के कृष्णचरित्र में उतनी विविधता न हो किंतु प्रेम की मंजु छवि का जैसा अंतर-बाह्य चित्रण सूरदासजी ने किया है वह भी अद्वितीय है। मधुरता सूर में तुलसी से अधिक है। जीवन के अपेक्षाकृत निकटवर्ती क्षेत्र को लेकर उसमें अपनी प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार दिखा देने में सूर की सफलता अद्वितीय है। सूक्ष्मदर्शिता में भी सूर अपना जोड़ नहीं रखते। तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा भिन्न है। व्यवहार-दशाओं की अधिकता तुलसी तथा प्रेम की अधिक विस्तृत व्यंजना सूर के काव्य में प्राप्त होती है। पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। दोनों ही हमारे सर्वश्रेष्ठ जातीय कवि हैं। सूरदास के संबंध में कहे गए निम्नांकित दोहे को हम अनुचित नहीं समझते—

सूर सूर तुलसी ससी उड़गन केशवदास।
अब के कवि खद्योत सम जहँ तहँ करत प्रकास॥

अष्टछाप के अन्य कवियों में रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत आदि के रचयिता "सब कवि गढ़िया नंददास जड़िया" के लक्ष्य सुंदर अनुप्रासमिश्रित संस्कृतभाषामय पदावली का प्रणयन करनेवाले सूरदास के ही समकालीन नंददासजी हुए जिन्होंने भागवत की कथा लेकर काव्यरचना की। इनका जन्म सं० १५९० के लगभग हुआ था। ये संसार से विरक्त होकर काशी में आ बसे थे। पर प्रसिद्ध है कि ये एक साहूकार की स्त्री पर आसक्त हो गए और उसका पीछा करते हुए गोकुल तक चले गए। वहाँ इनकी भेंट गोसाईंजी से हुई और उन्होंने इन्हें दीक्षा दी। इनकी मृत्यु संभवतः सं० १६३५ के लगभग हुई। कुछ लोग इन्हें मानसकार गोस्वामी तुलसीदास का छोटा भाई मानते हैं पर इसके लिये कोई दृढ़ प्रमाण नहीं है।

नंददास

इनकी रची हुई रूप-मंजरी, विरह-मंजरी, रस-मंजरी, मान-मंजरी, नाम-माला, अनेकार्थ-मंजरी, स्याम-सगाई, भँवरगीत, रुक्मिणीमंगल, रास-पंचाध्यायी, सिद्धांत-पंचाध्यायी, दशम-स्कंध और पदावली ये पुस्तकें प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त "प्रेम बारहखड़ी" भी इनकी रचना कही जाती है। इनका भँवर-गीत हिंदी का अत्युत्कृष्ट विरह काव्य है। भाषा इनकी बड़ी ही ललित और संस्कृत पदावली से युक्त है।

भँवरगीत में कवि ने गोपी-उद्धव-संवाद के द्वारा सगुण मत की प्रतिष्ठा का सुंदर प्रयत्न किया है। उद्धव नाना प्रकार से सगुण का खंडन करके निर्गुण की स्थापना करते हैं--

यह सब सगुन उपाधि रूप निर्गुन है उनकौ।
निरविकार निरलेप लगति नहिं तीनों गुन कौ॥

हाथ न पाँव न नासिका, नैन बैन नहि कान।
अच्युत ज्योति प्रकास है, सकल बिस्व को प्रान॥
सुनो ब्रजनागरी।
जो गुन आवैं दृष्टि माँझ नस्वर हैं सारे।
इन सबहिंन ते बासुदेव अच्युत हैं न्यारे॥
इन्द्री दृष्टि विकार ते रहत अधोच्छज जोति।
सुद्ध सरूपी जानि जिय तृति जु ताते होति॥
सुनो ब्रजनागरी।

इत्यादि। परंतु गोपियाँ भी उन्हें मुँहतोड़ उत्तर देती हैं—

जो उनको गुन नाहिं और गुन भए कहाँ ते।
बीज बिना तरु जमैं मोहिं तुम कहौ कहाँ ते॥
वा गुन की परछाँह री माया दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भए अमल बारि मिलि कीच॥
सखा सुन श्याम के।
जो मुख नाहिन हतो कहो किन माखन खायो।
पायन बिन गो संग कहो बन बन को धायो॥
आँखिन में अंजन दयो गोवर्धन लयो हाथ।
नंद जसोदा पूत है कुँवर कान्ह ब्रजनाथ॥
सखा सुन श्याम के।

वे उद्धव से स्पष्ट कह देती हैं कि तुम हमें 'जोग' मत सिखलाओ, हम तो प्रेम के साथ नंदनंदन के ही गुण-गान सुनना चाहती हैं। हमारे तो रोम रोम में मोहन का ही गुण समाया हुआ है। प्रेम का अमृत छोड़कर भला धूल समेटना कौन पसंद करेगा—

ताहि बतावहु जोग जोग ऊधौ जेहि पावौ।
प्रेम सहित हम पास नंदनंदन गुन गावौ॥

नैन बैन मन प्रान में मोहन गुन भर पूरि।
प्रेम पियूसै छाँड़ि कै कौन समेटै धूरि॥

सखा सुन श्याम के।

इनका जन्म सं० १५५० के लगभग कन्नौज में हुआ था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये अच्छे संगीतज्ञ थे और संगीत से इन्होंने अच्छी प्रतिष्ठा और धन प्राप्त किया था।

परमानंददास

इन्होंने सं० १५७७ के लगभग आचार्यजी से दीक्षा ली थी और उनके आदेशानुसार ये बाललीला के पद गाया करते थे। सं० १६४० तक ये जीवित थे। इनकी प्रसिद्ध रचना परमानंद सागर है जिसमें सूरसागर की भाँति फुटकर पदों का संग्रह है, पर यह स्कंधों में विभाजित नहीं है। इसमें लगभग २००० पद हैं और बाललीला की प्रधानता है।

इनके पदों के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

बाल विनोद गोपाल के देखत मोहिं भावे।
प्रेम पुलकि आनंद भरि जसोमति गुन गावे॥
बल समेत घन साँवरो आनंद में धावे।
बदन चूमि कोरा लिये सुत जानि खिलावे॥
सिव विरंचि मुनि देवता जाको अंत न पावे।
सो परमानंद ग्वालि को हँसि भलो मनावे॥

प्रेम उमँगि बोलति नंदरानी।
अहो श्रीदामा ले वाकूं किन टेरि टेरि मधुबानी॥
भोजन बार अबार जानिके सुरत भई अकुलानी॥
ढूँढ़त घर द्वारे लों जाई तन की दसा हिरानी।
जसोमति प्रीति जनाइ उठि दौरे मुख कच रज लपटानी॥
परमानंद नंद नंदन को अँखियाँ निरखि सिरानी।

निम्नलिखित पद में यशोदा की अभिलाषा का कैसा सुंदर वर्णन है। सूरदास के 'जसुमति मन अभिलाख करै' पद का भी ठीक ऐसा ही भाव है—

एक समै जसोमति अपनी सखियन सों (बात) कहत बनाय।
मो देखत कबधों मेरो ललना भूमि धरैगो पाय॥
फिर मोसों मैया कब कहिहै कुँवर कछुक तुतराय।
अरिहै कबहुँ दूध दधि कारन तन गोरज लपटाय॥
खरिक दुहावन जात मोहिं कब आनि मिलैंगे धाय।
वह धौं द्यौस होइहै कबहूँ ललन दुहैंगे गाय॥
सोंचि देउँगी सुतहिं चरावन गैया घन बनराय।
इहि अभिलाख करति जसोमति जिय परमानंद बलि जाय॥

कुंभनदास

इनका जन्म गोवर्धन के पास सं० १५२५ के लगभग हुआ था। ये जाति के क्षत्रिय थे। सं० १५५० के लगभग बहुला नाम की एक युवती से इनका विवाह हुआ। अष्टछाप के कवि चतुर्भुजदास इनके पुत्र थे। ये श्रीनाथजी के बड़े भारी भक्त थे, पर साथ ही अपना खेती का व्यवसाय भी अंत तक करते रहे। इन्होंने सं० १५५५ के लगभग आचार्य जी से दीक्षा ली थी। ये बड़े निर्लोभी और संतोषी थे। एक बार राजा मानसिंह ने इन्हें कुछ संपत्ति देने के लिये बहुत प्रयत्न किया, पर इन्होंने अस्वीकार कर दिया। इनकी रची दो पुस्तकें हैं—दानलीला और पदावली। कविता साधारण है।

इनका एक पद नीचे उद्धृत किया जाता है जिसमें इन्होंने गोवर्धनधारी कृष्ण भगवान् की स्तुति की है—

जयति जयति श्री हरिदास वर्यधरने।
वार वृष्टि निवारी घोष आरति टार देवपति अभिमान भंग करने॥
जयति पटपीत दामिनी रुचिर वर मृदुल अंग साँवल सजल जलद वरने।

कर अधर वेनु धरि गान कलरव सब्द सहज ब्रज जुवति जन चित्त हरने ॥
जयति वृंदा विपिन भूमि डोलति अखिल लोक बंदनि अंबुसह चरने ।
तरनि तनया निहार नंद गोपकुमार दास कुंभन नतमन बसि सरने ॥

इनका जन्म गुजरात में अहमदाबाद के पास सं० १५५४ के लगभग हुआ था। ये शूद्र थे, पर बचपन ही से इनकी बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति थी। कहते हैं कि इनके पिता ने एक बार एक बनजारे को लूट लिया था जिसका विरोध करने के कारण ये घर से निकाल दिए गए। उस समय इनकी अवस्था १२ वर्ष की थी। इन्होंने सं० १५६७ में आचार्यजी से दीक्षा ली। इन्हें श्रीनाथजी के लिये भेंट प्राप्त करके लाने का कार्य सौंपा गया था और इसी संबंध में यात्रा करते हुए ये सं० १५८२ में मीराबाई के यहाँ भी गए थे। ये श्रीनाथजी की बड़ी सेवा करते थे, पर थे बड़े रसिक। इनका संबंध गंगाबाई नाम की एक स्त्री से हो गया था। कहा जाता है कि गोसाईंजी द्वारा इसका विरोध होने पर इन्होंने उन्हें प्रयत्न करके गद्दी से हटा दिया, पर जब राजा वीरबल को इसका पता चला तो उन्होंने इन्हें पकड़ कर कारागृह में भेज दिया और गोसाईंजी को पुनः गद्दी पर बैठाया। अंत में गोसाईंजी ने कृपाकर इन्हें मुक्त करा दिया। इनकी मृत्यु सं० १६३५ के लगभग कुँए में गिर जाने से हुई।

कृष्णदास

इनकी रची हुई पुस्तकों में हिंडोरलीला, पदावली, रासलीला, जुगलमानचरित्र, भ्रमरगीत, प्रेमरस-राशि और प्रेम-तत्त्व-निरूपण हैं। इन्हें कविता की शिक्षा सूरदास से मिली थी, फलतः इनकी कविता में मार्मिकता है। इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

जय जय तरुन घनस्याम वर सौदामिनी रुचि बास ।
विमल भूषन तारका गन तिलक चंद विलास ॥

जय जय नृत्य मान संगीत रस बस भामिनी संग रास ।
बदन श्रम जल कन विराजित मधुर ईषत हास ॥
जय जय बन्यो अदभुत भेष गावत मुरलिका उल्लास ।
कृष्णदास नमित चरन हरिदासवर्य निवास ॥

जीत्यो जीत्यो जसुदा को नंदन मघवनि वृष्टि निवारी ।
बाम बाहु राख्यो गिरि नायक गोकुल आरत टारी ॥
इंद्र खिसाय जोरि कर बिनवै मैं अपराध कियो प्रभु भारी ।
तू दयाल करुनामय माधो प्रनत हृदै भयहारी ॥
बालविनोद बाललीला रस अदभुत केलि बिहारी ।
कृष्णदास ब्रजबासी बोलत लाल गोबर्धनधारी ॥

इनका जन्म मथुरा में सं० १५७२ के लगभग हुआ। ये चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। दीक्षित होने के पहले ये मथुरा के गुंडों के सरदार गिने जाते थे और छीतू चौबे कहलाते थे। इन्होंने सं० १५९२ के लगभग गुसाईंजी से दीक्षा पाई। सं० १६४२ तक ये जीवित थे।

छीतस्वामी

इनका रचा हुआ कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिला है, केवल कुछ फुटकर पद अवश्य पाए जाते हैं जिनमें दानलीला, कुंजलीला और बधाई के ही पद अधिक हैं। कविता सामान्य कोटि की है। इनका एक पद यहाँ दिया जाता है—

श्रीकृष्ण कृपालु कृपानिधि दीनबन्धु दयाल ।
दामोदर बनवारी मोहन गोपीनाथ गुपाल ॥
राधारमन बिहारी नटवर सुंदर जसुमति बाल ।
माखनचोर गिरिधर मनहारी सुखकारी नँदलाल ॥
गोचारी गोविंद गोपपति भावन मंजुल ग्वाल ।
छीत स्वामी सोई अब प्रगटे कलि में वल्लभ लाल ॥

गोविंदस्वामी का जन्म सं० १५६२ के लगभग भरतपुर राज्य के आंतरी गाँव में हुआ पर ये स्थायी रूप से महाबन में रहते थे। ये संभवतः सनाढ्य ब्राह्मण थे। सं० १५९२ में इन्होंने गुसाईंजी से दीक्षा ली। ये अच्छे कलाविद् संगीतज्ञ और कवि थे। तानसेन इनका संगीत-शिष्य था।

गोविंदस्वामी

इनकी मृत्यु सं० १६४२ के लगभग हुई। इनका भी कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है, केवल स्फुट पद ही प्राप्त हैं जिनमें २५२ कीर्तन और १२ धमार हैं। इनके संबंध में प्रसिद्ध है कि ये अपने रचे पद गाकर सुनाते थे और फिर यमुनाजी को अर्पण कर देते थे। इनकी भतीजी कान्हबाई ने जो पद चुराकर रख लिए वे ही अब प्राप्त होते हैं। इनकी कविता साधारण कोटि की है। उदाहरणार्थ एक पद यहाँ दिया जाता है—

कही न परै हो रसिक कुँवर की कुँवराई।
कोटि मदन नख ज्योति विलोकत परसत नव इंदु किरण की जुन्हाई॥
कंकण वलय हार गजमोती देखियत अंग अंग में वह आई।
सुघर सुजान स्वरूप सुलक्षण गोविंद प्रभु सब विधि सुंदरताई॥

ये कुंभनदास के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १५९७ के लगभग हुआ। ऐसा प्रसिद्ध है कि जन्म के ४१वें ही दिन इन्हें गुसाईंजी ने दीक्षा दी। इन्हें बचपन से ही संगीत से बड़ा प्रेम था। इनकी मृत्यु रुद्रकुंड पर सं० १६४२ के आस पास हुई।

चतुर्भुज दास

इनकी रची हुई छः पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—दानलीला, भक्ति-प्रताप, मधुमालती कथा, द्वादश-यश, कीर्तनावली, पदावली पर केवल २०० स्फुट पद प्राप्त होते हैं, अन्य रचनाओं के संबंध में

निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। ये कवि की अपेक्षा संगीतकार ही अधिक थे।

इनका भी एक पद उदाहरणार्थ नीचे दिया जाता है—

रसही में वश कीने कुँवर कन्हाई।
रसिक गोपाल रस ही रीझत रस मिल रस त्यज माई॥
पिय को प्रेमरस सुन्यो है रसीली बाल रसमै बचन श्रवन सुखदाई।
चतुर्भुज प्रभु गिरिधर सब रसनिधि रसता मिलिहै रहसि हृदय लपटाई॥

जैसा कि ऊपर के वर्णन से प्रकट है, अष्टछाप के कवियों में से प्रत्येक ने भक्ति-भाव-संयुक्त कृष्ण की उपासना की और पूरी क्षमता से प्रेम और विरह के सुंदर गेय पद बनाए। सबकी वाणी में वह तन्मयता है जो गीत काव्य के लिये परम उपयोगिनी है। सरस भक्तिपूर्ण पदों का यह प्रवाह रुका नहीं, चलता ही रहा। आगे चलकर जब कृष्ण की उपासना में लौकिक विषय-वासनाएँ आ मिलीं, तब कविता अपने उच्चासन से गिरी और मनुष्य की भोग-वृत्तियों के परितोष का साधन बन गई। इसके लिये कुछ समा-लोचक इन भक्त कवियों पर दोषारोपण करते हैं। उनके मत में भक्त कवियों की रचनाओं में जो शृंगारिकता है वही बीज बनकर हिंदी के पिछले समय की रचनाओं में व्याप्त हो गई। परंतु इसके लिये हम भक्त कवियों को दोषी नहीं ठहरा सकते। प्रत्येक सुंदर वस्तु का दुरुपयोग हो सकता है; पर इसके लिये सुंदर वस्तु की निंदा करना व्यर्थ है। पिछले खेवे की गंदी रचनाओं का कारण तत्कालीन जनता की विलासप्रिय मनोवृत्ति है, भक्तों की पूत वाणी नहीं। शुद्ध प्रेम का प्रवाह बहाकर भगवान् कृष्ण की स्तुति में आत्मविस्मरण कर देनेवाले भक्त कवियों का हिंदी कविता पर जो महान् ऋण है, उसे हम सभी स्वीकार करेंगे।

अष्टछाप के बाहर रहकर भक्ति-काव्य की रचना करनेवालों में हितहरिवंश और स्वामी हरिदास विशेष रीति से उल्लेखनीय हैं, क्योंकि ये दोनों ही उत्कृष्ट पदों के प्रणेता और नवीन संप्रदायों के स्रष्टा हुए। हितहरिवंशजी माध्व और निंबार्क मतों से प्रभावित थे, पर उन्होंने राधा की उपासना को ग्रहण कर राधावल्लभी संप्रदाय का सृजन किया। उन्होंने "राधासुधानिधि" और "हित चौरासी" नामक दो पुस्तकें लिखीं जिनमें पहली संस्कृत में है। इसके अतिरिक्त उनके स्फुट पद भी मिलते हैं। इनके मतानुसार राधा रानी हैं, कृष्ण उनके दास हैं, राधा की उपासना से कृष्ण का प्रसाद मिल सकता है। "हित चौरासी" के सभी पद अत्यंत कोमल और सरस भावापन्न हैं। इनके शिष्यों में ध्रुवदास और व्यासजी प्रधान हुए, जिनकी रचनाओं से हिंदी की पर्याप्त श्रीवृद्धि हुई।

हितहरिवंश, हरिदास, रसखान

स्वामी हरिदास निंबार्क मतानुयायी थे, पर उन्होंने अपना अलग संप्रदाय खोला जो टट्टी संप्रदाय कहलाया। ये प्रसिद्ध गायक और कवि थे। अकबरी दरबार के प्रख्यात गायक तानसेन के और स्वयं अकबर के ये संगीतगुरु कहे जाते हैं। इनकी रचनाओं में संगीत की राग-रागिनियों का सुंदर समावेश हुआ है।

कृष्णभक्त कवियों के इस अभ्युत्थान-काल में हम अत्यंत सरस पदों के रचयिता सच्चे प्रेममग्न कवि रसखान को नहीं भूल सकते, जो विधर्मी होते हुए भी व्रज की अनुपम मधुरिमा पर मुग्ध और कृष्ण की ललित लीलाओं पर लट्टू थे। जाति-पाँति के बधनों के बहुत ऊपर जो शुद्ध प्रेम का सात्त्विक बंधन है, उसी में रसखान बँधे थे। उनकी रचनाओं में व्रजभाषा का सरस और

सानुप्रास प्रवाह मनोमुग्धकारी बन पड़ा है। हिंदी के मुसलमान कवियों में रसखान का स्थान बहुत ऊँचा है। जायसी आदि की भाँति ये बाहर के मतों में लिप्त न रहकर भगवान् कृष्ण की सगुणोपासना में लीन हुए। यह उनके उदार हृदय का परिचायक और तत्कालीन भक्तिप्रवाह के सर्वतोव्याप्त प्रसार का द्योतक है।

पीछे के कृष्ण-भक्त

कृष्ण-भक्ति की कविता इस काल के उपरांत कम हो चली। अकबर के सुख-समृद्धि-पूर्ण साम्राज्य में कृष्ण की भक्ति को फूलने-फलने का अवसर मिला था। अकबर की धर्मनीति विशेष उदार थी; अत: उसके शासनकाल में बिना किसी विघ्न-बाधा के अनेक धार्मिक संप्रदाय विकसित हुए थे। प्रत्येक संप्रदाय अपने इच्छानुसार उपासना कर सकता था और अपनी रुचि के अनुसार मंदिरों का निर्माण कर सकता था। जनता की समृद्धि से मंदिर-निर्माण में और भी सहायता मिली थी। परंतु अकबर के उपरांत परिस्थिति बदली। अकबर की भाँति सहृदयता और उदार मनोभावों वाला दूसरा नृपति दिल्ली के सिंहासन पर नहीं बैठा। साथ ही धनसंपत्ति की वृद्धि से स्वभावत: विलास की ओर अधिक प्रेरणा मिली। हिंदी साहित्य भी अब अधिक प्रौढ़ हो चुका था। उपर्युक्त कारणों से साहित्य का प्रभाव धार्मिक क्षेत्र से निकलकर दूसरी ओर बहा। रीति-ग्रंथों और मुक्तक शृंगारिक रचनाओं की ओर प्रवृत्ति बढ़ी। परंतु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उस काल के उपरांत कृष्णोपासना का क्रम एकदम से टूट गया और भक्ति-काव्य की रचना सर्वदा बंद हो गई। ऐसा नहीं हुआ. शृंगार की वृद्धि में शुद्ध भक्ति एकदम खो नहीं गई। वल्लभाचार्य की पाँचवीं पीढ़ी में भक्तवर नागरीदास हुए जिनके रचे ७२ भक्ति-ग्रंथ मिले हैं। उनकी रचनाएँ उच्च कोटि की हैं। उनके

अतिरिक्त विष्णु स्वामी संप्रदाय में अलबेली अली नामक भक्त कवि विक्रम की अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुए। इनकी "समय प्रबंध पदावली" बड़ी ही सरस और भावपूर्ण रचना है। इन्हीं के समकालीन राधावल्लभी संप्रदाय में चाचा हितवृंदावनदास हुए जिनके पदों का विस्तृत संग्रह प्राप्त हुआ है। यद्यपि इनकी रचनाओं में बहुत से पुराने भक्तों के भाव आए हैं. पर इनकी इतनी अधिक कृतियों में मौलिक उद्भावनाएँ भी कम नहीं हैं। ब्रजवासीदास का प्रसिद्ध ग्रंथ "ब्रजविलास" प्रबंधकाव्य की शैली पर दोहे चौपाइयों में लिखा गया, पर इसमें इस काल की भक्ति का ह्रास बोल रहा है। ग्रंथ साधारण जनता में थोड़ी सी प्रसिद्धि पा सका। इसके अतिरिक्त सबलसिंह चौहान ने महाभारत का अनुवाद किया, पर उन्हें भक्त-कवि मानना ठीक न होगा।

आधुनिक युग भक्ति का नहीं है, परंतु ब्रजभाषा के कुछ कवियों ने कृष्णसंबंधी कविता की है। स्वर्गीय पंडित सत्य-नारायण कविरत्न के कुछ पदों में कृष्ण-भक्ति की अच्छी झलक देख पड़ी, पर उनकी असमय मृत्यु से वह अधिक स्थायी न हो सकी। वर्तमान कवियों में वियोगी हरिजी के कुछ गद्य-काव्यों में कृष्ण के प्रति स्नेह देख पड़ता है। गद्य-काव्यों में ही नहीं, कुछ फुटकर पदों में भी इन्होंने भक्तों की भाँति अपने कृष्णानुराग की व्यंजना की है जो सुंदर भी हुई है। कुछ अन्य भक्त भी हैं; पर उनकी रचनाएँ साहित्यकोटि में नहीं आतीं। कृष्ण के जीवन के एक अंश को लेकर पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने "प्रियप्रवास" की रचना की है; पर उसमें कृष्ण में देवत्व की प्रतिष्ठा नहीं की गई, वे महापुरुष मात्र माने गए हैं। श्री मैथिली-शरण गुप्त ने मधुसूदन दत्त के "विरहिणी-ब्रजांगना" काव्य का

हिंदी में अनुवाद किया है। उसमें राधा के विरह की व्यंजना हुई है, पर पुराने भक्तों ने जितनी तन्मयता के साथ कृष्ण-भक्ति के उद्गार व्यक्त किए थे, इन दिनों उसका अल्पांश भी कठिनता से देख पड़ता है। अभी हाल में 'द्वापर' नामक उनका स्वतंत्र काव्य-ग्रंथ प्रकाशित हुआ है जिसमें श्रीकृष्ण संबंधिनी सुंदर चर्चा है।

कृष्णभक्ति-काव्य का चरम उत्कर्ष सूरदास की रचनाओं में देख पड़ा। सूरदास अकबर के समकालीन थे। अकबर के

कृष्णभक्ति काल की अन्य रचनाएँ

शासनकाल में सभी कलाओं की अनेकमुखी उन्नति हुई थी। साहित्य और कविता पर सम्राट् का पर्याप्त अनुराग था। वे स्वयं ब्रजभाषा की कविता करते थे। ऐसी अवस्था में उनके शासन-समय में साहित्य की उन्नति होना स्वाभाविक ही था। केवल कृष्णभक्ति की कविता की उन्नति ही उस काल में नहीं हुई थी; वरन् अनेक अन्य विषयों से संबंध रखनेवाली कविताओं का भी उस काल में विकास हुआ था। इस विकास को मुख्यत: दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। एक तो वह जो अकबर के दरबार से संपर्कित होने के कारण उससे प्रत्यत्त संबंध रखता है; और दूसरा वह जो देश और साहित्य की सामान्य अवस्थाओं के आधार पर हुआ, अत: जिसमें अकबर का हाथ प्रत्यत्त तो नहीं देख पड़ता, हाँ दूर से भले ही कुछ संबंध ठहरे। पहली श्रेणी शृंगार और नीति के फुटकर रचनाकारों और कवियों की है और दूसरी में रीतिग्रंथ लिखनेवाले वे कवि आते हैं जो अधिकतर संस्कृत के पंडित और राजदरबारी थे। पहले वर्ग के प्रतिनिधि कवि रहीम, गंग और नरहरि आदि और दूसरे के महाकवि केशवदास थे। इनके अतिरिक्त सेनापति आदि

इसी काल के कुछ अन्य कवि हुए, जिन्हें भी पहले वर्ग में ही रखा जा सकता है। इस अध्याय में कृष्णभक्ति की कविता के साथ साथ चलनेवाली उन कृतियों का उल्लेख भी हम करेंगे जिन्हें हमने उपर्युक्त पहले वर्ग में रखा है। दूसरे वर्ग के संबंध में हम अगले अध्याय में लिखेंगे क्योंकि वास्तव में उस वर्ग के कवियों का यह आविर्भाव-काल ही था, उसका विकास बहुत पीछे चलकर हुआ था।

ये अकबर के दरबार के उच्च कर्मचारी होते हुए भी हिंदी कविता की ओर खिंचे थे। नीति के सुंदर सुंदर दोहे इन्होंने बड़ी मार्मिकता से कहे। जीवन के सुख-वैभव का अच्छा अनुभव करने के कारण रहीम की तत्संबंधी उक्तियों में तीव्र भावव्यंजना है। दोहों के अतिरिक्त इन्होंने बरवै, सोरठा, सवैया, कवित्त आदि अनेक छंदों तथा संस्कृत के वृत्तों में भी रचना की है। उनका बरवै छंदों में लिखा नायिकाभेद ठेठ अवधी के माधुर्य से समन्वित है। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास तक ने इससे प्रभावित होकर इसी छंद में बरवै रामायण लिखी थी। गोस्वामीजी की ही भाँति रहीम का अवधी और व्रजभाषाओं पर समान अधिकार था और गोस्वामीजी की रचनाओं की भाँति इनकी रचनाएँ भी जनता में अत्यधिक प्रचलित हुईं। गोस्वामीजी से इनकी भेंट हुई थी और दोनों में सौहार्द भाव भी था। ये बड़े ही उदारहृदय दानी थे और इनका अनुभव बड़ा ही विस्तृत, सूक्ष्म और व्यावहारिक था।

रहीम

ये दोनों ही अकबर के दरबार के श्रेष्ठ हिंदू कवि थे। गंग की शृंगार और वीर रस की जो रचनाएँ संग्रहों में मिली हैं, उनसे इनके भाषा-अधिकार और वाग्वैदग्ध्य का पता चलता है।

जनता में इनका बड़ा नाम है, परंतु इनकी रचित एक भी पुस्तक अब तक नहीं मिली। "तुलसी गंग दोऊ भए सुकविन के सरदार" की पंक्ति इन्हीं को लक्ष्य करके कही गई है

गंग और नरहरि

नरहरि वंदीजन अकबर के दरबार में सम्मानित हुए थे। ऐसा कहते हैं कि बादशाह ने इनका एक छप्पय सुनकर अपने राज्य में गो-वध बंद कर दिया था। नीति पर इन्होंने अधिक छंद लिखे।

अकबर के दरबारियों में बीरबल और टोडरमल भी कवि हो गए हैं। बीरबल अकबर के मंत्रियों में से थे और अपनी वाक्चातुरी तथा विनोद के लिये प्रसिद्ध थे।

बीरबल और टोडर

इनके आश्रय में कवियों को अच्छा सम्मान मिला था और इन्होंने स्वयं ब्रजभाषा में सरस और सानुप्रास रचना की थी। महाराज टोडरमल के नीति-संबंधी फुटकर छंद मिलते हैं जो कविता की दृष्टि से बहुत उच्च कोटि के नहीं हैं। इनके अतिरिक्त मनोहर, होलराय आदि कवि भी अकबरी दरबार में थे। स्वयं बादशाह अकबर की भी ब्रजभाषा में कुछ रचनाएँ पाई जाती हैं। ब्रजभाषा को इतना बड़ा राजसम्मान इनके पहले कभी नहीं मिला था।

दरबार से असंपर्कित कवियों में सेनापति का स्थान सर्वोच्च है। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण और अच्छे भक्त थे। पहले ये किसी दरबार में रहे हों, पर जीवन के पिछले

सेनापति

अंश में तो ये संन्यासी हो गए थे। इन्होंने षट्ऋतुओं का वर्णन किया है जो बड़ा ही हृदयग्राही हुआ है। इन्हें प्रकृति की सूक्ष्म सूक्ष्म बातों का अनुभव भी था और इनका निरीक्षण भी विशेष मार्मिक था। इनकी पिछले समय की भक्ति और विराग की रचनाएँ चित्त पर स्थायी प्रभाव डालती हैं।

भाषा ब्रज की ग्रामीण होते हुए भी अलंकृत है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

तपत है जेठ जग जात है जरनि जर्‍यो
ताप की तरनि मानो भरनि भरत है।
इतहि असाढ़ उठी नूतन सघन घटा,
सीतल समीर हिय धीरज धरत है॥
आधे अंग ज्वालनि के जाल बिकराल
आधे सीतल सुभग मोद हीतल भरत है।
सेनापति ग्रीखम तपति ऋतु भीखम है
मानो बड़वानल सों बारिधि जरत है॥

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखो
आई रितु पावस न पाई प्रेम पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी सु-
दरकी सुहागिन की छोह भरी छतियाँ॥
आई सुधि बर की हिए में आनि खरकी
सुमिरि प्रानप्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की
डग भई बावन की सावन की रतियाँ॥

सेनापति उनए नए जलद सावन के
चारिहू दिसनि घुमरत भरे तोइ कै।
सोभा सरसाने न बखाने जात केहूँ भाँति,
आने हैं पहार मानो काजर के ढोइ कै॥
घन सों गगन छयो तिमिर सघन भयो
देखि न परत मानो रवि गयो खोइ कै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि
मेरी जानि याही ते रहत हरि सोइ कै॥

लाल लाल टेसू फूलि रहे हैं बिलास सँग
स्याम रंगमई मानो मसि में मिलाए हैं।
तहाँ मधु काज आइ बैठे मधुकर पुंज
मलय पवन उपवन वन धाए हैं॥
सेनापति माधव महीना में पलास तरु
देखि देखि भाव कविता के मन आए हैं।
आधे अंग सुलगि सुलगि रहे आधे मनो
बिरही दहन काम क्वैला परचाए हैं॥

इसी काल की कृतियों में नरोत्तमदास का "सुदामा-चरित्र" भी है, जो कविता की दृष्टि से अच्छा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अकबर और जहाँगीर के राजत्वकाल में हिंदी कविता, क्या भाषा और क्या भाव की दृष्टि से, विशेष प्रौढ़ हो गई। इस काल में थोड़ी सी रचना गद्य में भी हुई, पर हिंदी में तब तक गद्य के विकास का युग नहीं आया था।

——

दसवाँ अध्याय

रीति काल

जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे रससिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अंतःकरणों से निकलकर देश के कोने कोने में फैली थी, उसे साहित्य के इतिहास में सामान्यतः भक्तियुग कहते हैं। निश्चय ही वह हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग था। भक्ति के उस पावन स्रोत में कितनी ही छोटी बड़ी धाराएँ आ मिली थीं, जिनसे उसका प्रवाह अक्षय और वेग अप्रतिहत हो गया था। न जाने कितने भक्तों ने अपनी अंतरात्मा की पुकार को वाणीबद्ध करके हिंदी का अपार कल्याण किया और न जाने कितने हृदय मुरझाकर सूख जाने से बचे। भारतीय जनसमाज के उस घोर आपत्काल में भक्तों ने ही शांति और सांत्वना का विधान किया था और उन्हीं की उदारता तथा दूरदर्शिता के फल-स्वरूप निराश और भग्नहृदय हिंदुओं में नवीन आशा और उत्साह आदि का संचार हुआ था। मुसलमानों का विजयगर्व बहुत कुछ कम हो जाने के कारण उनमें संयम तथा सहानुभूति का प्रादुर्भाव हो गया था। उस काल में जिन उत्कृष्ट आदर्शों की प्रतिष्ठा हुई थी, वे भक्त कवियों की अनुभूति और उदारता के परिणाम-स्वरूप थे। यही कारण है कि वे इतने सर्वमान्य और व्यापक हो सके थे। उन आदर्शों में उन कवियों और महापुरुषों का जो जीवन छिपा हुआ है, वही उनका सत्य संदेश

भक्ति और रीति

है। जब जिस साहित्य में अंतरात्मा की पुकार पर निर्माण का कार्य होता है, तब उसमें ऐसी ही दिव्य भावनाओं का आविर्भाव होता है, जिनसे साहित्य में उन्नत युग का आभास मिले बिना नहीं रह सकता।

उन संतों और भक्तों में इतनी नम्रता और विनयबुद्धि थी, वे इतने उदार और उन्नत-हृदय थे कि न तो संसार की माया-ममता उन्हें उनके पथ से डिगा सकती थी और न तुच्छ आकांक्षा ही उन्हें मोह सकती थी। जो कुछ उनकी आत्मा का संदेश था, जो कुछ वे कहने आए थे, उसे निर्भीक होकर स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा। यही कारण है कि उनकी वाणी में बाह्य आडंबर बहुत कम है। क्या वर्णित विषय की दृष्टि से और क्या भाषा की दृष्टि से, सबमें एक निसर्गसिद्ध सौंदर्य और प्रवाह है जो मानस को रससिक्त कर देता है। यही कारण है कि "प्राकृत जन गुन गान" से विरत होकर उन सभी कवियों ने "त्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पये" के अनुसार अपनी प्रतिभा और कृतिशक्ति को परमेश्वर की भक्ति में लगाया। वे सांसारिक धन-संपत्ति को कुछ नहीं समझते थे। कबीर जुलाहे थे और जुलाहे का व्यवसाय करते थे। सूर और तुलसी संसार के त्यागी महापुरुष थे। अन्य महात्मा भी संसार में लिप्त न थे। कुछ ने अकबर-सदृश सम्राटों के निमंत्रण अस्वीकृत करके अपने महान् होने का परिचय दिया था। इन्हीं में अद्वितीय भावुक और सहृदय रसखान थे जिन्होंने "कोटिन वे कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं" को अपने जीवन का लक्ष्य बनाया था। इसी प्रकार के न जाने कितने महात्माओं के प्रसाद से हिंदी साहित्य की श्री-वृद्धि हुई थी और न जाने कितने सच्चे

रसिकों की भक्ति काव्य-कला के साँचे में ढलकर समस्त उत्तर भारत का हृदय आप्लावित कर चुकी थी।

कबीर आदि संतों ने हिंदू और मुसलमानों की भेदबुद्धि को दूर करके सरल सदाचार-पूर्ण जीवन व्यतीत करने का उपदेश दिया, जायसी आदि लौकिक प्रेम को स्वर्गीय बनाने के प्रयासी हुए, सूर आदि ने मधुर भावों से भावित कृष्ण-काव्य की रचना कर असंख्य हृदयों को हरा किया और तुलसी ने भारत की संस्कृति को बड़े ही व्यापक, मधुर और उदार भाव से अंकित कर हिंदू जाति का प्रतिनिधित्व प्राप्त किया। पर क्या उन्हें अपनी अपनी कृतियों का कुछ भी गर्व था? गर्व तो दूर रहा, वे कभी अपने वास्तविक महत्त्व की कल्पना भी न कर सके। उन महाकवियों ने अपने को भूलकर किसी अन्य की प्रेरणा से कविता की थी। निश्चय ही वह प्रेरणा स्वर्गीय थी। जायसी ने पद्मावत में अपने को पंडितों का "पछिलगा" बतलाया है और तुलसीदास ने कहा है, 'कवित विवेक एक नहिं मोरे, सत्य कहौं लिखि कागद कोरे।" इसी प्रकार सभी विनीत भक्तों ने अपनी अयोग्यता की विज्ञप्ति की है। यह सब उस समय की बात है जब पंडितराज की उपाधि धारण करनेवाले संस्कृत के उद्भट कवि जगन्नाथ अपनी ही स्तुति में बहुत कुछ कह गए थे। हिंदी के उस विकास-काल की यह मनोवृत्ति ध्यान देने योग्य है। यदि हम कहें तो कह सकते हैं कि हिंदी साहित्य की तत्कालीन अट्टालिका इन विनीत और निरपेक्ष महात्माओं द्वारा रचित दृढ़ नींव पर ही खड़ी हुई थी।

जिस काल में ऐसे बड़े बड़े महात्माओं ने कवि-कर्म स्वीकार करके तल्लीनता की अवस्था में हृदय की रागिनियों का अमृतवर्षी आलाप किया था, और जिस काल में बड़े बड़े नृपतियों तक में

उनके स्वर में स्वर मिलाने की साध उत्पन्न हुई थी, हिंदी साहित्य के इस काल की महिमा अपार है। उस काल में देश की सच्ची स्थिति को पहचाननेवाले पुरुषों ने आत्मप्रेरणा से स्वर्गीय साहित्य की सृष्टि की थी, उस काल में प्रकृति ने स्वयं कवियों की लेखनी पकड़कर उनके लिये काव्य रचा था। उस काल का साहित्य अलंकारों के अनपेक्षी, शब्दजालशून्य, सत्य की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है, उसमें बाहर से बनाव-शृंगार करने की चेष्टा नहीं की गई है, जो कुछ है वह आंतरिक है। कुछ आलोचकों की सम्मति में भारतीय कवि की यह विशेषता है कि उसे काव्य-कला का पंडित होना आवश्यक होता है, वह कविता संबंधी अनेक नियमों से बँधकर ही आत्मलाभ करता है। पर यह बात भारतीय कवि के लिये भी उतनी ही सत्य है जितनी अन्य देशीय कवि के लिये; और यदि अन्य देशों में प्रतिभाशाली कवि काव्य संबंधी प्रचलित नियमों और प्रतिबंधों की अवहेलना करके स्वतंत्र रीति से कविता कर सकता है, तो भारत में भी उसे ऐसा करने का पूरा अवसर है। यूरोप में काव्य संबंधी विवाद जितने अधिक देख पड़ते हैं उतने भारत में नहीं। यदि कहें तो कह सकते हैं कि हिंदी के कबीर आदि कविता-कला से जितने अधिक अनभिज्ञ थे, संभवतः अन्य किसी देश का कोई कवि उतना अनभिज्ञ न होगा, फिर भी कबीर हिंदी के श्रेष्ठ कवियों में सम्मानित आसन के अधिकारी माने जाते हैं।

उपर्युक्त आलोचकों को कदाचित् यह बात भूल जाती है कि साहित्य की परंपरा में लक्षण ग्रंथों का निर्माण लक्ष्य ग्रंथों के सृजन के उपरांत, उनका ही आधार लेकर, हुआ करता है। पहले कविता की सृष्टि हो जाती है, पीछे उसके नियम आदि बनते रहते हैं। संस्कृत साहित्य में भी यही देखा जाता है और हिंदी में भी यही क्रम रहा है। साहित्य के प्रारंभिक युगों में अंतःकरण की

प्रेरणा से अत्यंत सरल और अलंकार-निरपेक्ष शैली में काव्य-रचना होती है, पीछे से ज्यों ज्यों अधिकाधिक रचनाएँ होती जाती हैं और जैसे जैसे काव्यचर्चा बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे कविता संबंधी नियम बनते जाते हैं। यह प्रवृत्ति केवल इसी देश में नहीं, प्रायः सभी देशों के साहित्यों में पाई जाती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि इस देश की प्रवृत्ति वर्गीकरण, श्रेणी-विभाजन आदि की ओर अधिक थी, इस कारण यहाँ के काव्य संबंधी नियम भी विशेष सूक्ष्म और जटिल हो गए हैं; एवं पीछे के साहित्यकारों और कवियों ने उन नियमों का शासन स्वीकार कर अपनी कृतियों को उन्हीं का अनुयायी बनाया है। ऐसा करने से उनकी भाषा में प्रांजलता तथा आलंकारिकता तो आ गई है, पर कविता का जो सर्वोत्कृष्ट लक्ष्य जीवन के गंभीर तत्त्वों को सुलझाना तथा हृदयंगम करना है, वह भुला दिया गया है। इससे कविता में बाह्य सौंदर्य की वृद्धि हुई है पर उसकी आत्मा संकुचित होती गई है।

रीति काल का आरंभ

हिंदी में भी सूर और तुलसी के समय तक साहित्य की इतनी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी थी कि कुछ लोगों का ध्यान भाषा और भावों को अलंकृत करने तथा संस्कृत की काव्य-रीति का अनुकरण करने की ओर खिंच रहा था। इसका यह अर्थ नहीं है कि सूर और तुलसी तथा उनके पूर्व के सत्कवियों में आलंकारिकता नहीं थी अथवा वे काव्य-रीति से परिचित ही न थे। ऐसी बात नहीं थी। अनेक कवि पूर्ण शास्त्रज्ञ और काव्यकलाविद् थे। वे सूक्ष्म से सूक्ष्म आलंकारिक शैलियों का पूरा पूरा ज्ञान रखते थे। स्वयं महात्मा तुलसीदासजी ने अपनी अनभिज्ञता का विज्ञापन देते हुए भी व्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर अपना पूर्ण आधिपत्य तथा काव्य-रीति का सूक्ष्मतम

ज्ञान दिखाया है। अंतर इतना ही है कि उन्हें काव्य-कला को साधन मात्र बनाकर रचना करनी थी, साध्य बनाकर नहीं। अतएव उन्होंने अलंकारों आदि से सहायक का काम लिया है, स्वामी का नहीं। इसके विपरीत पीछे के जो कवि हुए, उन्होंने काव्य-कला की परिपुष्टि को ही प्रधान मानकर शेष सब बातों को गौण स्थान दिया और मुक्तकों के द्वारा एक एक अलंकार, एक एक नायिका अथवा एक एक ऋतु का वर्णन किया है। आगे चलकर यह प्रथा इतनी प्रचलित हुई कि बिना रीतिग्रंथ लिखे कवि-कर्म पूरा नहीं समझा जाने लगा। हिंदी साहित्य के इस काल को हम इसी लिये रीति काल कहते हैं।

रीति-ग्रंथकार कवियों का स्वरूप ठीक ठीक समझने के लिये उनके आविर्भाव-काल की परिस्थितियों पर ध्यान देना होगा। भक्ति-काल के अंतिम चरण में कृष्णभक्ति की कविता की प्रधानता थी। कवियों में अधिकांश ब्रजभाषा के मुक्तक छंदों तथा गीतों के द्वारा कृष्ण की ललित लीलाओं के वर्णन की परिपाटी चली थी। कृष्ण और राधा के सौंदर्य-वर्णन में भक्त कवियों ने अपनी सारी शक्ति लगा दी। प्रेम और विरह-लीला तथा हास आदि का बड़ा मर्म-स्पर्शी वर्णन भक्त कवियों ने किया था। वह यद्यपि उनके पवित्र हृदय से निस्सृत होने के कारण पूत भावनाओं से समन्वित था, पर साधारण पाठकों की लौकिक दृष्टि में उसमें शृंगारिकता ही अधिक प्रतीत होती है। राधा और कृष्ण के प्रेम का वर्णन करके यद्यपि भक्त और भगवान् के संबंध की व्यंजना की गई थी, पर उस तथ्य को समझकर ग्रहण कर सकना सबका काम नहीं था। इसके अतिरिक्त राजदरबारों में हिंदी कविता को अधिकाधिक आश्रय मिलने के कारण कृष्ण-भक्ति की कविता को अधःपतित होकर वासनामय उद्गारों में परिणत हो जाने का अधिक अवसर

मिला। तत्कालीन नरपतियों की विलास-चेष्टाओं की परितृप्ति और अनुमोदन के लिये कृष्ण एवं गोपियों की ओट में हिंदी के कवियों ने लौकिक मर्यादाहीन प्रेम की शत सहस्र उद्भावनाएँ कीं। जनता में भी कृष्ण-भक्ति के नाम पर मनमानी लीलाएँ करने की प्रवृत्ति बढ़ी, जैसा कि वल्लभाचार्यजी की परंपरा का वर्णन करते हुए ऊपर कहा जा चुका है। इसका परिणाम यह हुआ कि राजाओं से पुरस्कार पाने तथा जनता द्वारा समादृत होने के कारण रीति काल की कविता शृंगाररसमयी हो गई और अन्य प्रकार की कविताएँ उसके सामने दब सी गईं।

परंतु इसका यह आशय कदापि नहीं है कि शृंगाररस सर्वथा निंद्य ही है, अथवा उस काल के सभी कवियों में प्रेम और सौंदर्य की निसर्गसिद्ध पवित्र उद्भावना करने की शक्ति ही नहीं रह गई थी। शृंगाररस के मुक्तक पद्य यद्यपि अधिकतर अलंकारों और नायिकाओं के उदाहरण-स्वरूप ही लिखे गए और यद्यपि लिखने का लक्ष्य भी अधिकतर आश्रयदाताओं को प्रसन्न करना था तथापि कुछ कवियों की कृति में शुद्ध प्रेम के ऐसे सरस छंद मिलते हैं, ऐसे सौंदर्य की पवित्र विवृति पाई जाती है कि सहसा यह विश्वास नहीं होता कि वे कवि शुद्ध आंतरिक प्रेरणा के अतिरिक्त अन्य किसी उद्देश से कविता करते थे। यह ठीक है कि अधिकांश कवियों ने सौंदर्य को केवल उद्दीपन मानकर नायक नायिका के रति-भाव की व्यंजना की है, पर कुछ कवि ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने रीति के प्रतिबंधों से बाहर जाकर स्वकीय सुंदर रीति से सौंदर्य की वह सृष्टि की है जो मनोमुग्धकारिणी है।

भक्ति काल के कवियों में कबीर आदि संतों की भाषा बहुत शिथिल और अव्युत्पन्न थी। प्रेमगाथाकारों की भाषा अवध की ग्रामभाषा थी जिसमें साहित्यिकता का पुट प्रायः नहीं के

बराबर था। कृष्णभक्त कवियों में सूर की भाषा ब्रज की चलती भाषा थी और नंददास तथा हितहरिवंश ने संस्कृत के सम्मिश्रण से ब्रजभाषा को साहित्यिक भाषा बनाने का प्रयास किया था। एक महात्मा तुलसीदास ही ऐसे थे जो हिंदी की संपूर्ण शक्ति को लेकर विकसित हुए और ब्रज तथा अवधी पर समान अधिकार रखते थे। प्रसंगानुसार साहित्यिक और ग्रामीण प्रयोगों में जैसी उनकी पटुता थी हिंदी में उसकी कहीं समता नहीं मिलती। रीतिकाल में भाषा भी रीतिग्रस्त हो गई। कोमल कांत पदावली को चुन चुनकर, कर्कशता का सप्रयास बहिष्कार कर, कितने ही अप्रयुक्त शब्दों को अपनाकर जिस भाषा-परिपाटी की प्रतिष्ठा की गई, वही समस्त रीति काल में चलती रही और आज भी ब्रजभाषा के कवि उसका निर्वाह उसी प्रकार करते चले जाते हैं। साहित्य की ब्रजभाषा रीति की लीक पर चलनेवाली भाषा है और ब्रज-प्रांत की भाषा से बहुत कुछ भिन्न है। उसका निर्माण जिस परिस्थिति में हुआ, उससे उसमें कोमल कांत पदावली की अतिशयता ही रही--कटु, तिक्त, कषाय आदि के उपयुक्त महाप्राणता न आकर वह अधिकतर सुकुमार ही बनी रही। कमल, कदली, मयूर, चंद्र, मदन आदि के लिये उसमें जितने काव्यप्रयुक्त शब्द हैं, वे सब कोमलता-समन्वित हैं। ब्रजभाषा की माधुरी आज भी देश भर में प्रसिद्ध है।

रीतिकाल की भाषा

परंतु भाषाशास्त्र तथा व्याकरण के नियमों के अनुसार ब्रजभाषा तथा अवधी के जो सूक्ष्म विभेद हैं, उन पर बहुत अधिक ध्यान कभी नहीं दिया गया। महाकवि सूरदास की ब्रजभाषा में अवधी के ही नहीं पंजाबी और बिहारी तक के प्रयोग हैं। और स्वयं गोस्वामीजी की भाषा भी भाषाशास्त्र के जटिल नियमों का पालन नहीं करती। भाषा को जटिल बंधनों से जकड़कर उसे निर्जीव

कर देने की जो शैली संस्कृत ने ग्रहण की थी, हिंदी उससे बची रही। यही कारण है कि रीतिकाल में कवियों की भाषा बहुत कुछ बँधी हुई होने पर भी बाहरी शब्दों को ग्रहण करने की स्वतंत्रता रखती थी। भाषा को जीवित रखने के लिये यह क्रम परम आवश्यक था। इस स्वतंत्रता के परिमाण स्वरूप अवधी और ब्रज का जो थोड़ा-बहुत सम्मिश्रण होता रहा, वह रीति काल के अनेक प्रतिबंधों के रहते भी बहुत ही आवश्यक था, क्योंकि उतनी स्वतंत्रता के बिना काम भी नहीं चल सकता था। यहाँ हमको यह भी स्वीकार करना होगा कि रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया है, एवं जिन कवियों पर अवधी का प्रभाव है, उन्होंने भी कबीर की सी खिचड़ी भाषा कभी नहीं लिखी।

रीतिकाल के कवियों का साहित्य में क्या स्थान है, इसकी समीक्षा कवित्व की दृष्टि से भी की जा सकती है, और आचार्यत्व की दृष्टि से भी। कवित्व की दृष्टि से समीक्षा करने में हमारी कसौटी ऐसी होनी चाहिए जिस पर हम संसार भर के साहित्य को कसकर परख सकें और उसके उत्कर्षापकर्ष का निर्णय कर सकें। स्थायी साहित्य जीवन की चिरंतन समस्याओं का समाधान है। मनुष्यमात्र की मनोवृत्तियों, उनकी आशाओं, आकांक्षाओं और उनके भावों, विचारों का वह अक्षय भांडार है। मनुष्य-जीवन एकमुख नहीं, सर्वतोमुख है; उसके अनेक विभाग और अनेक प्रकार हैं। वह इतना अज्ञेय और गहन है कि उसके रहस्यों को समझ सकना सरल काम नहीं। साहित्य हमारे सामने जीवन की इन्हीं विविध अज्ञेय एवं गहन समस्याओं का चित्र रखता है, अतः वह भी बहुत कुछ वैसा ही है। उसमें एक ओर तो मानव-समाज के उच्चातिउच्च लक्ष्यों और आकांक्षाओं की झलक रहती है और

साहित्यिक समीक्षा

2

दूसरी ओर उसकी वास्तविक परिस्थितियों, उसके सुख-दुःख और उत्थान-पतन का चित्र रहता है। कौन कह सकता है कि परिस्थितियाँ कितनी हैं? उसी प्रकार लक्ष्यों, उद्देशों, आकांक्षाओं और आदर्शों की भी क्या गणना है? सब मिलकर साहित्य जीवन की असीमता का प्रतिबिंब बन जाता है। उसमें असंख्य आदर्शों के साथ अपार वस्तु-स्थिति मिलकर उसे निस्सीम बना देती है। साधारण से साधारण से लेकर महान् से महान् भावनाओं के लिये उसमें स्थान है, उसकी सीमा में सब कुछ आ सकता और समा सकता है। जिस जाति का साहित्य जितना अधिक विस्तृत और पूर्ण होगा, उसमें उतने ही विस्तृत और पूर्ण जीवन के विकास की संभावना रहेगी। साहित्य की इस व्यापक भावना को हम समन्वयवाद कह सकते हैं।

इस साहित्यिक समन्वय में रीति काल के शृंगारी कवियों का अलग स्थान है, यह पहले ही स्वीकार करना पड़ेगा। उन कवियों का लक्ष्य भक्त कवियों की भाँति कुछ विशिष्ट उच्च आदर्शों पर नहीं था, परंतु गार्हस्थ्य जीवन के सुख सौंदर्य आदि पर उनकी दृष्टि टिकी थी और स्त्री-पुरुष के मधुर संबंध की ओर उनका ध्यान खिंचा था। यह ठीक है कि गार्हस्थ्य-जीवन का जो रूप उन्होंने देखा, वह न तो संपूर्ण था और न उत्कृष्ट ही, और यह भी ठीक है कि स्त्री-पुरुष के संबंध की मधुरता का उन्हें सम्यक् परिचय नहीं था, तथापि फुटकर पदों में ही खंड-चित्रों को अंकित करके और प्रेम तथा सौंदर्य की अभिव्यक्ति की यथाशक्ति चेष्टा करके उन्होंने जीवन के पारिवारिक पक्ष पर अच्छा प्रकाश डाला। इस दृष्टि से उनका काव्य-क्षेत्र सीमित अवश्य था, पर उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वे सौंदर्य-प्रेमी कवि थे, यद्यपि रीतियों में जकड़े रहने के कारण उनका सौंदर्य-प्रेम

प्रांजल और पवित्र नहीं हो पाया था। कहीं कहीं तो उसमें अश्लीलता भी आ गई थी। परंतु तत्कालीन स्थिति का विचार करते हुए और यह समझते हुए कि उन्होंने अपनी भावनाओं का कलुष राधा-कृष्ण को ही अर्पण कर बहुत कुछ पाप-परिहार कर लिया था, उन्हें क्षमा कर देना पड़ेगा।

यद्यपि यह निश्चित है कि स्थायी साहित्य में रीति काल के सौंदर्योपासक और प्रेमी कवियों का स्थान अमर है, पर अमर साहित्य के वर्गीकरण में वे किस कक्षा में रखे जायँ यह विचारणीय है। प्रबंध और मुक्तक की दृष्टि से स्थायी साहित्य का वर्गीकरण नहीं हो सकता। यह ठीक है कि प्रबंध के भीतर से जीवन के व्यापक तत्त्वों पर कवि-दृष्टि के ठहरने की अधिक संभावना रहती है; परंतु मुक्तक इसके लिये बिलकुल अनुपयुक्त हो, यह बात नहीं है। हिंदी के भक्त कवियों ने फुटकर गीतों से और उमर खैयाम ने मुक्तक रुबाइयों की सहायता से जीवन के चिरंतन सत्यों की जैसी मार्मिक व्यंजना की है, वह मुक्तक काव्य के महत्त्व को प्रत्यक्ष कर देती है। अँगरेजी के श्रेष्ठ कवियों के लीरिक्स भी इसके उदाहरण हैं। हमें यदि श्रेणी-विभाग करने को कहा जाय तो हम कवियों की कृतियों की परीक्षा करते हुए यह पता लगावेंगे कि जीवन के जिस अंग को लेकर वे चले हैं, वह सत्य है या नहीं, महत्त्वपूर्ण है या नहीं। सत्य और महत्त्वपूर्ण होने के लिये जीवन का अनुभव करने, उसके रहस्य समझने, उसके सौंदर्य का साक्षात्कार करने तथा उसकी समस्याओं को सुलझाने की आवश्यकता होगी। कवि को तमाशाई बनकर बाहर से उछल-कूद करने की आवश्यकता नहीं है, उसे जीवन के रंगमंच का प्रतिभाशाली नायक बनकर अपना कार्य करना पड़ता है। जितनी सरलता, स्पष्टता और सुंदरता के

साथ वह यह कार्य कर सकेगा, उतनी ही सफलता का अधिकारी होगा। जब तक कवि जीवन-सरिता में अवगाहन न कर बाहर से उसके घाटों की शोभा देखता रहेगा, तब तक उसकी रचना न संगत ही हो सकेगी और न महत्त्वपूर्ण। घाटों की शोभा देखने से उसे इंद्रिय-सुख भले ही प्राप्त हो, पर वह सुख न मिलेगा जिसे आत्मप्रसाद या परनिवृ ति कहते हैं। ऐसा करके वह कुछ समय के लिये साहित्य की परीक्षा-समिति से सफलता का सम्मति-पत्र भले ही पा जाय, पर जब सैकड़ों वर्षों के अनंतर जीवन-संबंधी मौलिक संदेश सुनानेवालों और उसके सच्चे सौंदर्य को प्रत्यक्ष कर दिखाने-वालों की खोज होने लगेगी, तब उसे कौन पूछेगा? साहित्य की जाँच की यही सर्वोत्तम कसौटी है। रीति काल के अधिकांश कवियों को बँधी हुई लीक पर चलना पड़ा, उन्हें अपनी ही बनाई हुई सीमा में जकड़ जाना पड़ा। साहित्य का उच्च लक्ष्य भुला दिया गया। तत्कालीन कवियों की कृतियाँ विशृंखल, निरंकुश और उद्दाम हैं, उनमें कहीं उच्चातिउच्च भावनाएँ कलुषित प्रसंगों के पास ही खड़ी हैं तो कहीं सौंदर्य और प्रेम के मर्मस्पर्शी उद्गार अतिशयोक्ति और बात की करामात से घिरे हैं। कहीं उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के बोझ से वास्तविक बात दब गई है तो कहीं श्लेष की ऊटपटाँग योजना भानमती का पिटारा दिखला रहा है। जैसे किसी को कुछ कहना ही न हो, कविता केवल दिलबहलाव के लिये गपशप या ऐयाशों की बहक की हुँकारी हो। यह सब होते हुए भी कुछ प्रतिभाशाली कवियों की कृतियाँ रीति की सामान्य शैली से बहुत ऊपर उठकर मुक्तक छंदों में जैसी सुंदर और तीव्र भावव्यंजना करती हैं उससे कवियों के हार्दिक आंदोलन का पता लगाया जा सकता है। कुछ कवियों ने प्रेम के सूक्ष्म तत्त्वों का निरूपण भी किया है, केवल विभाव,

अनुभाव आदि का अतिक्षुएण रूप खड़ा करके रस-निष्पत्ति की चेष्टा ही नहीं की है। ऐसे कवियों का स्थान सौंदर्य-स्रष्टा मौलिक साहित्यकारों के बीच में चिरकाल तक रहेगा, यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि सौंदर्य-सृष्टि करने में अन्य देशों के श्रेष्ठ कवियों ने जिस सूक्ष्म दृष्टि और स्वायत्त शक्ति का परिचय दिया है, वह रीति काल के हिंदी कवियों में बहुत अधिक मात्रा में नहीं मिलती।

भाषा और छंद आदि की दृष्टि से भी रीति काल के कवियों का प्रयत्न प्रशंसनीय ही कहा जायगा। व्रजभाषा का जो साहित्यिक रूप निर्मित हुआ था, उसमें अनुभूयमान कोमलता और सुकुमारता उन्हीं कवियों के प्रयास का फल था। इस प्रकार की कोमलता और सुकुमारता को हम सर्वथा हेय ही समझते हों, यह बात नहीं है। शृंगाररस का पल्ला पकड़कर गार्हस्थ्य-जीवन के जैसे सुंदर और सुकुमार चित्र उन्हें उतारने थे, उसके उपयुक्त भाषा का स्वरूप स्थिर करना कवियों की प्रतिभा का ही परिचायक है। इसके कारण छंदों में भी अच्छी प्रौढ़ता और परिष्कृति आई है। बिहारी ने दोहा छंद को विकास की चरम सीमा तक पहुँचा दिया। देव और पद्माकर के कवित्त तथा मतिराम के सवैए गठन की दृष्टि से अद्वितीय हुए हैं। पीछे से छंदों की भी रीति बँध गई और अन्य छंदों में प्रायः कुछ भी रचना नहीं हुई। केशव आदि कुछ कवियों ने विविध छंदों के प्रयोग की चेष्टा की, पर उन्हें माँजने में वे भी समर्थ नहीं हो सके।

ऊपर हमने वर्णित विषय और भाषा की दृष्टि से रीति काल के कवियों की जो समीक्षा की है, वह इस युग के आलोचकों को भले ही रुचिकर हो अथवा वह व्यापक दृष्टि से साहित्य का विश्लेषण भले ही समझी जाय, पर उससे रीति काल के कवियों ने जिन नियमों और प्रतिबंधों को

आचार्यत्व

स्वीकार कर कविता की थी तथा काव्य के संबंध में उनकी जो धारणा थी उसका परिचय नहीं मिलता। जब हम इस प्रकार अपनी कसौटी पर दूसरों को परखते हैं तब हमारी कसौटी चाहे जितनी खरी हो, हम दूसरों के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर सकते। इसका कारण स्पष्ट है। प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के साहित्य की अलग अलग विशेषताएँ होती हैं। सामान्य रीति से यद्यपि साहित्य शब्द के अंतर्गत सार्वदेशिकता और सार्वकालिकता की भावना रहती है, पर समयानुक्रम से आए हुए अनेक नियमों और काव्य-रीतियों का पालन भी सभी देशों के साहित्यकारों के लिये आवश्यक हो जाता है। भारतवर्ष के मध्यकालीन संस्कृत कवियों पर संस्कृत के रीति-ग्रंथों का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि हम उनकी विवेचना तभी कर सकते हैं जब अलंकार-शास्त्रों का अध्ययन करके हम उन कवियों की विशेषताओं को समझें। संस्कृत में काव्य-संबंधी इतने विभिन्न प्रकार के वाद-प्रवाद चले और उनके अनुसार चलनेवाले कवियों ने उनका इतने कट्टरपन से पालन किया कि काव्य-समीक्षक को उन सभी कवियों की रचना-शैलियों आदि का अनुसंधान करना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी हो जाता है। हिंदी के रीति काल के कवियों ने भी संस्कृत के अलंकार-शास्त्र का अनुसरण कर तथा थोड़ी बहुत स्वतंत्र उद्भावना कर जो रचनाएँ की हैं, उनको हम ठीक ठीक तभी समझेंगे जब संस्कृत के विभिन्न काव्यसमीक्षक संप्रदायों का अन्वेषण कर यह देख लेंगे कि हिंदी के किन कवियों ने किस संप्रदाय का किस सीमा तक अनुसरण किया है। नीचे अति संक्षेप में संस्कृत कविता के विकास के साथ काव्यसमीक्षा-संप्रदायों के विकास का भी इतिवृत्त लिखा जाता है।

संस्कृत साहित्य में वाल्मीकीय रामायण सर्वसम्मति से आदि काव्य स्वीकार किया जाता है। उसकी रचना के पूर्व यदि कविता हुई होगी तो वह अब प्राप्त नहीं है। वेदों को काव्य-ग्रंथ नहीं कह सकते, भारतीय परंपरा के अनुसार वे काव्य-ग्रंथ हैं भी नहीं। वाल्मीकि के उपरांत यदि हम संस्कृत के प्रधान कवियों का अनुसंधान करें तो भास, कालिदास, अश्वघोष, भारवि तथा माघ आदि मिलेंगे। इनमें से कुछ नाटककार तथा कुछ काव्यकार थे। नाटककार भी भारतीय समीक्षा में कवि ही माने गए हैं, यद्यपि उनके स्वतंत्र पथ का निर्देश अवश्य कर दिया गया है।

संस्कृत साहित्य-शास्त्र की समीक्षा

हम यदि वाल्मीकि की रामायण की तुलना पिछले कवियों की रचनाओं से करें तो प्रत्यक्ष अंतर देख पड़ेगा। उदाहरणार्थ यदि वाल्मीकीय रामायण को कालिदास के रघुवंश से मिलाकर देखें तो वाल्मीकि में कथा कहने की अधिक प्रवृत्ति, घटनाओं का अधिक उल्लेख, वर्णन की अधिक सरलता मिलेगी और कालिदास में उपमाओं की अधिक योजना, छंदों का अधिक सौष्ठव और अलंकरण की अधिक प्रवृत्ति देख पड़ेगी। कालिदास का प्रत्येक छंद हीरे की कनी की तरह चमक उठता है, उनका समस्त काव्य सुंदर हार सा है। इसके विपरीत वाल्मीकीय रामायण वह वेगवती सरिता है जो स्वच्छंद तथा अप्रतिहत गति से बहती हुई उज्ज्वल देख पड़ती है। कालिदास से और आगे बढ़कर जब हम माघ के शिशुपालवध को देखते हैं तो उसमें कथा और घटना बिलकुल गौण पाते हैं; केवल वर्णनसौंदर्य ही हमें आकृष्ट करता है। कविता अपना अलग उद्देश रखने लगी है, उसके अलग नियम बन गए हैं, अलग साज-बाज हो गए हैं। शैली चमत्कारपूर्ण हो गई है। अलंकार अपने अपने स्थान पर पहना दिए गए हैं और सब कुछ रीतिबद्ध सा हो गया है।

जब हम संस्कृत काव्य की इस क्रमोन्नति के कारणों की खोज करते हैं, तब काव्य-समीक्षा-संबंधी शास्त्रों और अलंकार-ग्रंथों की शरण लेनी पड़ती है। संस्कृत में काव्य-समीक्षा का सबसे प्राचीन तथा प्रतिष्ठित प्राप्त ग्रंथ भरत मुनि का नाट्यशास्त्र है। यद्यपि इसके नाम से ही यह पता लगता है कि इसकी रचना नाट्यकला को ध्यान में रखकर हुई होगी, और इसमें रूपकों के विविध अंगों का विस्तृत वर्णन मिलता भी है, पर जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, संस्कृत में नाटक भी काव्य की ही एक शाखा-विशेष है, अतः काव्य के विवेचन के अंतर्गत ही नाटकों का विवेचन भी आता है। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र का महत्त्व हम इतने ही से समझ सकते हैं कि उनके प्रतिपादित सिद्धांतों का नाट्य-साहित्य में तो अक्षरशः पालन किया गया है, अन्य काव्यों में भी उसके विधिनिषेध माने गए हैं। उसके कट्टर से कट्टर विरोधी भी उसका उल्लेख करते हैं और ऋषिप्रणीत ग्रंथ की भाँति उसे सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। आज भी नाट्यशास्त्र संसार के काव्य-समीक्षक ग्रंथों में अपना प्रतिष्ठित स्थान रखता है।

रस-संप्रदाय

नाट्यशास्त्र की "रस-शैली" जगत्प्रसिद्ध है। संपूर्ण भारतीय साहित्य में "रस" संबंधी उसकी विवेचना स्वीकृत की गई है। यदि कहें तो कह सकते हैं कि नाट्यशास्त्र के रस-निरूपण का मूल सूत्र "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः" है। इसका अर्थ यह हुआ कि विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस सूत्र को समझाने की चेष्टा अनेक आचार्यों ने अपने अपने ढंग से की है। यहाँ हम बहुत संक्षेप में कुछ प्रधान बातें कहेंगे। हमारे चित्त में वासना रूप से अनेक स्थायी भाव अंतर्हित रहते हैं। कविता उन्हें उत्तेजित कर हमारे हृदय में एक प्रकार के अलौकिक आनंद का उद्रेक करती है।

उत्तेजना के लिये विभाव, अनुभाव और संचारियों का उपयोग किया जाता है। नाटकों में अभिनय और शब्दों द्वारा तथा काव्य में केवल शब्दों द्वारा उत्तेजना का आयोजन किया जाता है। स्थायी भावों की संख्या नाट्य-शास्त्र में आठ या नौ मानी गई है। रति, शोक, क्रोध, भय, उत्साह, जुगुप्सा, हास, विस्मय (और शम)। इन्हीं से क्रमशः शृंगार, करुण, रौद्र, भयानक, वीर, बीभत्स, हास्य, अद्भुत (और शांत) रसों की निष्पत्ति होती है। इन रसों का काव्य में या नाटक में ज्ञेय नहीं प्रत्युत अज्ञेय रीति से विभाव अनुभाव आदि की अनुभूति या अनुगम से उसी प्रकार उद्रेक होता है जिस प्रकार चित्र के रंगों की सहायता से वास्तविकता की अनुरूपता उत्पन्न होती है। नाटकों में नायक नायिका तथा उनकी चेष्टाएँ विभाव के अंतर्गत आती हैं। कुछ अनुभाव सात्त्विक भाव भी कहलाते हैं। सात्त्विक का अर्थ है शरीरजन्य। रोमांच, स्वेद, वैवर्ण्य आदि शरीरधर्म हैं। संचारी या व्यभिचारी भाव अनेक हैं। वे क्षणिक होते हैं और स्थायी भावों को पुष्ट करने में सहायता पहुँचाते हैं। नाट्यशास्त्र में उनकी संख्या तेंतीस कही गई है, पर साधारणतः वे प्रायः अपरिमित हैं।

रस-पद्धति के संबंध में यह विवाद सबसे अधिक अनिर्णीत है कि रस-निष्पत्ति किसके आधार से होती है। अभिनवगुप्त आदि विद्वानों के विरुद्ध लोल्लट आदि का कथन है कि रस के आधार नायक और नायिका आदि हैं जो राम सीता आदि के रूप में अभिनय करते हैं। सामाजिकगण उन अभिनेताओं में राम और सीता की अनुकृति ही नहीं देखते—वे भावमग्न होकर उन्हें राम और सीता समझ लेते हैं। परंतु यह मत पिछले आलोचकों को स्वीकार नहीं है। वे सामाजिकों को ही रसग्राही मानते हैं, उन्हीं के हृदय में रस की निष्पत्ति स्वीकार करते हैं। इस दृष्टि से

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' सूत्र भी ठीक बैठता है। रस ही काव्य की आत्मा है, यह भरत तथा उनके अनुयायियों का मत है। धनंजय आदि पीछे के शास्त्रकारों ने भरत के ही अनुकरण पर ग्रंथरचना की है और "रस" को काव्यात्मा प्रतिपादित किया है।

परंतु भरत के उपरांत अलंकार-शास्त्रियों की नई नई शैलियाँ निकलीं जिनमें विभिन्न दृष्टियों से काव्य-समीक्षा की गई। समयानुक्रम से सबसे प्रथम भामह का काव्यालंकार ग्रंथ आता है। भामह ने अपने ग्रंथ में अलंकारों की जो जो विशिष्टता प्रतिपादित की है उसे लेकर दंडी, रुद्रट आदि पीछे के आचार्यों ने अलंकारों को काव्यात्मा बतलाया और वे काव्य में अलंकार-संप्रदाय के प्रतिष्ठापक बने। इन आचार्यों ने यद्यपि रस-संप्रदाय का परिचय प्राप्त किया था, पर वे रस-पद्धति को नाटकों के उपयुक्त समझते थे। सामान्य काव्य-ग्रंथों में वे अलंकारों को ही प्रधान स्थान देने के पक्ष में थे। उनकी सम्मति में रस आदि अलंकारों से गौण हैं; एवं ओज, प्रसाद, माधुर्य आदि गुण भी अलंकार ही हैं। इन ग्रंथों में प्रायः दो सौ अलंकारों का विवरण दिया गया है। कुछ विवेचकों ने भ्रमवश भामह को ध्वन्यभाववादी ठहराया है; पर यह निश्चित रीति से कहा जा सकता है कि न तो उन्होंने ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य आदि शब्दों का प्रयोग किया है और न वे प्रतीयमान अर्थ को काव्य की आत्मा मानते थे। वे ध्वनि को नहीं किंतु वक्रोक्ति और अतिशयोक्ति को सब अलंकारों का मूल मानते थे। अलंकारवादियों के इस संप्रदाय का हिंदी के आचार्य कवि केशवदास पर बड़ा प्रभाव पड़ा था।

अलंकार-संप्रदाय

दंडी के उपरांत संस्कृत में एक नवीन समीक्षा-संप्रदाय के संस्थापक वामन हुए जिन्होंने रीति-पद्धति की स्थापना की। उनके ग्रंथ काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति में दस शब्दगुणों तथा दस अर्थगुणों का उल्लेख है। गुणों का विवेचन बहुत पहले से हो चुका था, स्वयं भरत मुनि के नाट्यशास्त्र तथा रुद्रदामन् के शिलालेख में दस गुणों का उल्लेख है, पर उनमें गुणों को गौण स्थान ही मिला है। वामन ने गुणों को अलंकारों से अलग कर मानों दंडी के भ्रम का संशोधन सा किया। उन्होंने रीति को काव्य की आत्मा बतलाया। रीति शब्दों के नियमित और संघटित प्रयोग को कहते हैं। गुणों के अस्तित्व से ही रीति की प्रतिष्ठा होती है। उसमें वैदर्भी, गौड़ी तथा पांचाली रीतियों का विवरण दिया है और वैदर्भी रीति में दसों गुणों का समावेश माना है। अलंकार-संप्रदायवालों ने भ्रम में पड़कर अलंकारों को ही काव्य का सर्वस्व मान लिया था, इस संबंध में रीति-संप्रदायवालों के अवश्य अधिक उचित तथा उन्नत विचार हैं। वे गुणों को काव्य की आत्मा मानते थे यद्यपि गुणों का तत्त्व वे वास्तविक रूप में नहीं समझ सके थे। वास्तव में गुण तो रस-सिद्धि के साधन हैं। यह बात पीछे से ध्वनि-संप्रदायवालों ने समझी। विभिन्न रसों के उपयुक्त गुणों का वर्गीकरण और निर्धारण भी रीति-संप्रदाय के आचार्यों ने किया था।

रीति-संप्रदाय

इसी काल के लगभग वक्रोक्ति-संप्रदाय नामक एक नवीन समीक्षा-शैली की उत्पत्ति हुई जो बहुत कुछ अलंकार-संप्रदाय के अनुकरण पर थी। उसे हम अलंकार-संप्रदाय के अंतर्गत ही मानना उचित समझते हैं। वक्रोक्ति को रुद्रट केवल शब्दालंकारमात्र मानते हैं और उसके काकु और श्लेष नामक दो विभाग करते हैं। मम्मट आदि भी उन्हीं का

वक्रोक्ति-संप्रदाय

अनुकरण करते हैं पर रुय्यक वक्रोक्ति को अर्थालंकार बतलाते हैं। केवल वक्रोक्ति-जीवितकार कुंतल ने वक्रोक्ति को काव्य का सर्वस्व माना है। उनकी सम्मति में वक्रोक्तिरहित साधारण कथन काव्य नहीं है। कवि वस्तुओं के संबंध का अभिव्यंजन जो कुछ चमत्कार और बाँकेपन के साथ करता है वही वक्रोक्ति है। कुंतल ने ध्वनि आदि काव्य के समस्त उपादानों को वक्रोक्ति में ही खपा दिया है। कहा जा सकता है कि वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा ठहराना वक्रोक्ति-जीवितकार का वैसा ही आग्रह है जैसा अलंकार-संप्रदायवालों का अलंकार को काव्य का प्रधान स्वरूपाधायक बतलाना।

ध्वनि-संप्रदाय

पंचम मुख्य संप्रदाय ध्वन्यालोककार का है। वास्तव में यह रस-संप्रदाय का ही एक व्यावहारिक रूप है जो अलंकारों, रीतियों, गुणों आदि को उनके उचित स्थान पर नियुक्त करता है। इस प्रणाली का प्रयोग विशेषकर नाटकों के उपयुक्त है; क्योंकि रस-निष्पत्ति के लिये जिस लंबे प्रबंध की आवश्यकता होती है वह मुक्तक काव्य में नहीं मिल सकता। इस प्रकार फुटकर पदों में रसात्मकता की प्रतिष्ठा करने के लिये रस-संप्रदाय किसी पथ का निर्देश नहीं करता। ध्वनि-संप्रदाय के आविर्भाव का एक उद्देश यह भी था। ध्वन्यालोक के अनुसार सत्काव्य में चमत्कारपूर्ण व्यंग्यार्थ होता है। ध्वनि तीन प्रकार की होती है—रसध्वनि, अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि। रसध्वनि में नौ रस ही नहीं, सभी भाव और भावाभास आदि भी आ जाते हैं। वस्तुध्वनि द्वारा कोई वस्तु व्यंग्य होती है। अलंकारध्वनि भी वास्तव में वस्तुध्वनि है, केवल वह वस्तु अलंकार के रूप में होती है। ध्वनिकार स्पष्ट शब्दों में यह कह देते हैं कि जिस काव्य से रससिद्धि नहीं होती वह निष्प्रयोजन है। इस

प्रकार वे रस-संप्रदाय से अपना घनिष्ठ संबंध बतलाते हैं। साथ ही वे अलंकारों, गुणों आदि को रसोत्पादन में सहायक मात्र मानकर उनके गौण स्थान को स्पष्ट करते हैं। अब ध्वनि-संप्रदाय काव्य-समीक्षा की सर्वमान्य शैली हो गई है; पर पहले इसे अपनी स्थिति निर्धारित करने में प्रतिहारेंदुराज, कुंतल तथा महिमभट्ट आदि अनेक विद्वानों के कठिन विरोध का सामना करना पड़ा था।

हिंदी में जिस समय रीति-ग्रंथों का निर्माण प्रारंभ हुआ था, उस समय संस्कृत के ये सभी संप्रदाय बन चुके थे और साहित्य के विद्यार्थियों के सामने थे। वास्तव में अलंकार-शास्त्रियों ने काव्य संबंधी समीक्षा को अपने अपने सिद्धांतों के अनुसार वैज्ञानिक भित्ति पर खड़ा किया था, उसमें नवीन उद्भावना या भ्रमसंशोधन के लिये जगह नहीं थी। केवल रुचिविभेद के अनुसार साहित्यसेवियों को अपना अपना मार्ग ग्रहण करना और उस पर चलना था। मार्ग-स्थापन का कार्य पहले ही हो चुका था। हिंदी में जो रीति-ग्रंथ लिखे गए, उनमें से अधिकांश में संस्कृत रीति-ग्रंथों की नकल की गई। अधिकांश अलंकार-शास्त्रियों ने रस और ध्वनि संप्रदायों का अनुसरण किया, पर आचार्य केशवदास अलंकार-संप्रदाय के अनुयायी थे। रसों में शृंगार रस को ही प्रधानता मिली। यह तत्कालीन परिस्थिति का परिणाम था। शृंगार के आलंबन नायक-नायिका हुए जिनके अनेक भेद-विभेद किए गए। उद्दीपन के लिये षड्ऋतु-वर्णन आदि की प्रथा चली। अतिशयोक्ति का आश्रय भी बहुत अधिक लिया जाने लगा। हिंदी के रीतिकारों की ये प्रधान विशेषताएँ हैं। परंतु इस काल के रीतिकारों में अनेक लोग सच्चा कवि-हृदय रखते थे, अतः उनके उद्गारों में हार्दिक अनुभूति

हिंदी में रीति

की मर्मस्पर्शिता मिलती है जो केवल रीति की लीक पीटनेवालों में नहीं मिल सकती। ऐसे कवियों की सौंदर्य-सृष्टि विशेष प्रशंसनीय हुई है।

हिंदी की आचार्य-परंपरा जब से रीति की ओर झुकी तब से कविता बहुत कुछ रीति-सापेक्ष हो गई और उसके समझने-समझाने-वाले भी रीति-ग्रंथों में विशेषज्ञ होने लगे। कविता की उत्तमता की कसौटी बदल गई। जिसमें अलंकारों का समावेश न हो वह कविता ही न रही। आचार्य केशवदास की रामचंद्रचंद्रिका इसी फेर में पड़कर फुटकर छंदों का संग्रह हो गई, जिसमें कहीं रामचंद्र अपनी माता कौशल्या को वैधव्य संबंधी उपदेश देते हैं, कहीं पंचवटी की तुलना धूर्जटि से करते हैं और कहीं बेर-वृक्ष को प्रलयवेला के द्वादशादित्य बतलाते हैं। प्रकृति के रम्य रूपों में कोई आकर्षण नहीं रह गया था, वे केवल अलंकार के डब्बे हो गए। चंद्रमा की सुषमा काव्य के भीतर ही रह गई। बिहारी ने अतिशयोक्ति तथा वस्तुव्यंजना के सामने भावव्यंजना और रसव्यंजना की परवाह नहीं की। तिथि जानने के लिये पत्रे की आवश्यकता न रह गई, गुलाब-जल की भरी शीशी जादू के से प्रभाव से बीच ही में खाली हो गई। अनुप्रास तथा शब्दाडंबर की अतिशयता के लिये पद्माकर का नाम ले लेना पर्याप्त है। काव्यरीति के ज्ञाता ही कविता समझ सकते थे; क्योंकि "नीरभरी गगरी ढरकावे" का अर्थ समझने के लिये नायिकाभेद के तथा ध्वनिव्यंजना के विशेषज्ञ की आवश्यकता स्पष्ट है। इस प्रकार काव्यधारा का स्वच्छंद प्रवाह रुककर रीति की नालियों से बहने लगा। उस समय रीति-ग्रंथों को इतना महत्त्व दिया जाता था कि कवि कहलाने के लिये उसी परिपाटी पर ग्रंथ-रचना करना प्रायः अनिवार्य था। महाकवि भूषण का उदाहरण प्रत्यक्ष है। जिस वीर कवि को

जातीय उत्थान तथा वीरगुणगान की सच्ची लगन थी, उसे भी सामयिक प्रवाह में पड़कर, वीर-रस-समन्वित ही सही, रीति-ग्रंथ लिखना ही पड़ा। नीचे रीति काल के कुछ मुख्य कवियों तथा आचार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है।

केशवदास

यद्यपि समयविभाग के अनुसार केशवदास भक्तिकाल में पड़ते हैं और यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन होने तथा रामचंद्रचंद्रिका आदि ग्रंथ लिखने के कारण ये कोरे रीतिवादी नहीं कहे जा सकते, परंतु उन पर पिछले काल के संस्कृत साहित्य का इतना अधिक प्रभाव पड़ा था कि अपने काल की हिंदी काव्यधारा से पृथक् होकर वे चमत्कारवादी कवि हो गए और हिंदी में रीति-ग्रंथों की परंपरा के आदि आचार्य कहलाए।

केशवदास ने अपना और अपने वंश का परिचय अपने अनेक ग्रंथों में दिया है। उसके आधार पर यह विदित है कि रुद्र-प्रताप नामक एक सूर्यवंशी राजा के यहाँ केशवदास के पितामह कृष्णदत्त मिश्र नियुक्त थे। इन्हीं रुद्रप्रताप के पुत्र मधुकरशाह हुए और इन्होंने केशवदास के पिता श्री काशीनाथ मिश्र का बड़ा सम्मान किया। इन्हीं मधुकरशाह के पुत्र रामशाह ओड़छे के राजा हुए और इन्होंने राज्य का सब भार अपने छोटे भाई इंद्र-जीत के ऊपर छोड़ दिया था। इन्हीं महाराज इंद्रजीत के आश्रय में केशवदास रहा करते थे। इनके विषय में केशव ने लिखा है— ये बहुत ही गंभीर प्रकृति के व्यक्ति थे तथा अत्यंत उदार और दानी थे। ये केशवदास को गुरु के समान मानते थे। इन्होंने केशवदास का ऐसा सम्मान किया जैसा बहुत कम हिंदी कवियों का हुआ है। इंद्रजीत के कारण ही रामशाह भी केशव को मित्र, मंत्री और सखा भाव से मानते थे। इस संबंध में केशव ने स्वयं लिखा है—

गुरु करि मान्यो इंद्रजित तन मन कृपा विचारि ।
ग्राम दए इकबीस तब ताके पाँय पखारि ॥
इंद्रजीत के हेत पुनि राजा राम सुजान ।
मान्यो मंत्री मित्र कै, केशवदास प्रमान ॥

केशवदास का संस्कृत साहित्य का अध्ययन बहुत विस्तृत था। पांडित्य उन्हें अपनी वंश-परंपरा से ही प्राप्त हुआ था। राजनीति का अनुभव भी उन्हें बहुत अच्छा था। बातचीत की कला में केशव अत्यंत पटु थे, क्योंकि इनके समस्त संवाद बहुत सुंदर हुए हैं।

केशवदास जिस समय हुए थे उस समय देश में भक्ति का अधिक प्रचार था इसलिये उन्होंने भी समय के अनुसार भक्ति-काव्य की रचना की है। ये रामचंद्रजी को अपना इष्टदेव मानते थे, ऐसा इन्होंने एक स्थान पर लिखा है :—

मुनिपति यह उपदेस दै जबहीं भए अदृष्ट ।
केसवदास तहीं करयो रामचंद्र जू इष्ट ॥

पर इनकी रामचंद्रिका, कविप्रिया और रसिकप्रिया के पढ़ने से प्रतीत होता है कि विष्णु के किसी रूप के भी वे सच्चे भक्त न थे। रामचंद्रिका में उन्होंने रामचंद्र का वर्णन किया है और कविप्रिया तथा रसिकप्रिया में श्रीकृष्ण का। रसिकप्रिया में इन्होंने कृष्ण के चरित्र को इतना गिरा दिया है कि वे एक साधारण 'रसिया' को छोड़कर और कुछ रह ही नहीं गए हैं। शृंगार के भावावेश में केशवदास यह बात एकदम भूल गए हैं कि श्रीकृष्ण अवतार भी हैं। जनश्रुति के अनुसार कविवर बिहारीलाल केशवदास के पुत्र हैं, पर यह बात अभी निर्विवाद रूप से प्रमाणित नहीं हो पाई है।

मेरे सहयोगी और मित्र स्वर्गीय लाला भगवानदीन ने केशव-दास के ग्रंथों के प्रचार में अपने जीवन का बहुत बड़ा अंश लगाया था। उन्होंने केशव के ग्रंथों का पता लगाया, उनका संपादन किया, उन पर टीकाएँ लिखीं, समालोचनाएँ लिखीं और उनके प्रकाशन का भी प्रबंध किया। मित्रवर लाला भगवानदीन जी केशव को बहुत बड़ा कवि मानते थे और केशव की सूझ के बहुत ही कायल थे। बिहारी और केशव उनके दो बहुत ही प्रिय कवि थे। लालाजी के अनुसार केशवदास-रचित सात पुस्तकें प्राप्त हैं—(१) रामचंद्रिका, (२) कवि-प्रिया, (३) रसिकप्रिया, (४) विज्ञानगीता छंद, (५) बावनी, (६) वीर-सिंहदेवचरित्र, (७) जहाँगीरजसचंद्रिका। इन सात पुस्तकों के अतिरिक्त लालाजी ने केशव की तीन और पुस्तकों का उल्लेख किया है जिनके नाम हैं:—(१) राम अलंकृत मंजरी, (२) नखसिख, (३) छंदशास्त्र। इन सब पुस्तकों में प्रथम चार ही अधिक प्रसिद्ध हैं।

केशवदास के ग्रंथ तथा टीकाकार

रामचंद्रिका—साहित्य के अध्ययन के लिये इस ग्रंथ का अध्य-यन अत्यंत उपयोगी होता है। यह केशवदास की सब से प्रसिद्ध पुस्तक है। इसका स्वरूप तो प्रबंधकाव्य का सा है परंतु कथा-प्रवाह में वह प्रबंध-सौष्ठव नहीं है जो एक प्रबंधकाव्य के लिये अत्यंत आवश्यक है। इस ग्रंथ में छंदों और अलंकारों को अत्यंत महत्त्व दिया गया है इसलिये भाव-व्यंजना में वह गंभीरता नहीं आ पाई है जो उत्तम काव्य का प्राण है। चरित्र-चित्रण भी शृंखलाबद्ध नहीं है। परंतु इसके संवाद बहुत ही सुंदर हुए हैं। इसके संवादों में मर्यादा का पूरा पालन किया गया है। इसके से संवाद कोई प्राचीन हिंदी कवि नहीं लिख सका है।

कविप्रिया—कविप्रिया अलंकार का ग्रंथ है। कविप्रिया में आचार्यत्व की दृष्टि से अलंकारों का विवेचन है और कविशिक्षा पर

भी लिखा गया है। इसमें लक्षणों की भाषा साफ नहीं है और अलंकारों का वर्णन भी शास्त्रीय ढंग से नहीं हो पाया है। परिभाषाएँ स्पष्ट नहीं हैं। लक्षणों और उदाहरणों का समन्वय नहीं है।

रसिकप्रिया—रसिकप्रिया में रसों का विवेचन किया गया है। शृंगार को छोड़कर अन्य रसों का वर्णन इसमें ठीक ठीक विस्तार के साथ नहीं हुआ है। शृंगार का वर्णन वास्तव में अत्यंत व्यापक रूप से करने का प्रयत्न किया गया है। और रसों का भी शृंगार के भीतर समाहार करने की चेष्टा की गई है परंतु इसमें कवि को सफलता नहीं मिली है। आचार्यत्व की दृष्टि से इस ग्रंथ का भी बहुत महत्त्व नहीं है परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से इन पुस्तकों का बहुत कुछ मूल्य है। रामचंद्रिका की अपेक्षा इन दोनों ग्रंथों की भाषा में अधिक प्रवाह है।

विज्ञानगीता—यह पुस्तक एक रूपक के रूप में लिखी गई है। इसमें केशव ने अपने दार्शनिक विचार प्रकट किए हैं। इसमें लिखे हुए विचार गीता से बहुत कुछ मिलते हैं, पर इनमें वह स्निग्धता नहीं जो गीता में है।

टीकाकार—सूरति मिश्र आगरेवालों ने और सरदार कवि तथा नारायण कवि ने कविप्रिया और रसिकप्रिया पर टीका की है। पीछे से लाला भगवानदीन ने रामचंद्रिका पर अत्यंत पूर्ण और विस्तृत टीका लिखी है और कविप्रिया पर भी उन्होंने पांडित्यपूर्ण टीका लिखी है। उनका विचार रसिकप्रिया पर भी ऐसी ही टीका लिखने का था पर उसे पूरा करने का उन्हें समय न मिला। उसे पीछे से उनके शिष्यों ने पूरा किया है।

केशव की कला के भीतर उनकी भावयोजना उनका बाह्यदृश्य-वर्णन, उनके संवाद, उनके अलंकार और उनके रसपरिपाक-कौशल की

चर्चा ही यथेष्ट होगी। ऊपर कहा जा चुका है कि केशव ने रसिकप्रिया में शृंगार रस का ही विस्तृत वर्णन किया है, शेष का वर्णन तो उन्होंने यों ही चलता कर दिया है।

केशव की कला

शृंगार के वर्णन में ही पांडित्य-प्रदर्शन की रुचि, चमत्कार-विधान की प्रेरणा, तथा शृंगार के नंगे दृश्यों को अंकित करने में आनंद की भावना ने केशव को काव्योचित कल्पना, संयम और धार्मिकता से काम नहीं लेने दिया है। रसिकप्रिया और कविप्रिया दोनों में से ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जिनसे पता चलता है कि केशव ने बड़ी सुंदर कल्पना से भी काम लिया है और उनको वह दृष्टि भी प्राप्त थी जो एक उच्च कोटि के कवि के लिये आवश्यक है, पर ऐसा लगता है कि वे अपने युग के वातावरण और अपने संरक्षकों की रुचि के कारण भी स्वतंत्र न थे। एक कारण और भी था। उनकी रुचि क्लिष्ट कल्पना की ओर थी। तीसरे उनके प्रेम के आदर्श बहुत ऊँचे न थे। शृंगार को छोड़कर करुण से करुण दृश्य केशव के हृदय को पिघला नहीं सका है। ऐसे समय में भी उनकी आँखें अलंकार-वैचित्र्य की ओर लगी रहती हैं। रामचंद्रिका में राम का अयोध्या-त्याग, दशरथ की मृत्यु आदि ऐसे स्थल हैं जिनका प्रभाव केशव के हृदय पर बिलकुल नहीं पड़ा है। ऐसे स्थानों को यों ही छोड़कर वे कथानक को आगे बढ़ा देते हैं। प्रिय का प्रिय चिह्न प्रेमी के हृदय को कैसा व्याकुल कर देता है इसके अनुभव के लिये भी केशव के पास समय नहीं था। रामचंद्रिका में उनकी सीता राम की मुद्रिका को आँसुओं से स्नान कराके और कंकण की पदवी प्रदान करके ही रह जाती हैं। केशव की हृदयहीनता के इन उदाहरणों का उल्लेख करने के पश्चात् यहाँ मैं यह अवश्य कहना चाहता हूँ कि लक्ष्मण के शक्ति लगने पर और मेघनाद-

वध पर केशव की यह नीरसता एकदम सहृदयता में परिवर्तित हो गई है और उनके पदों में उनके पाठकों को भी शोक-विभोर करने की सामर्थ्य आ गई है :—

> लक्ष्मण राम जहीं अवलोक्यो, नैनन ते न रह्यो जल रोक्यो।
> बारक लक्ष्मण मोहिं बिलोकौ, मोकहँ प्राण चले तजि रोकौ।
> हौं सुमिरौं गुन केतिक तेरे, सोदर पुत्र सहायक मेरे।
> बोलि उठौ प्रभु को प्रन पारौ, नातरु होत है मो मुख कारौ।

और मेघनाद-निधन पर रावण कह उठता है :—

> आजु आदित्य जल पवन पावक प्रबल
> चंद आनंदमय त्रास जग को हरौ।
> गान किन्नर करौ नृत्य गंधर्व-कुल
> यक्ष विधि लक्ष उर यक्षकर्दम धरौ॥ इत्यादि,

इन शोक की उद्भावना के अत्यंत स्वाभाविक और प्रामाणिक स्थलों को छोड़कर बहुत से अन्य भी स्थल हैं जहाँ केशव ने अपनी अलंकार-मंजूषा त्याग दी है और मानव-अंतःकरण को स्पर्श करनेवाली अनुभूति का परिचय स्पष्ट न देकर उसकी ओर संकेत करके बहुत कुछ कह दिया है। ऐसी अवस्था में केशव को जो लोग हृदयहीन कहते हैं वे उनके प्रति पूर्णतया न्याय नहीं करते हैं। जब विश्वामित्रजी राम-लक्ष्मण को लेकर चलते हैं तो दशरथ की अवस्था का उन्होंने इस प्रकार वर्णन किया है—

> राम चलत नृप के जुग लोचन, बारि भरित भे बारिद रोचन।
> पायन परि ऋषि के सजि मौनहिं, केसव उठि गए भीतर भौनहिं।

आगे चलकर चित्रकूट में श्रीरामचंद्रजी अपनी माताओं से पिता का कुशल-समाचार पूछते हैं। उस समय भी केशव एक मूक चित्र उपस्थित करके हृदय को छू लेते हैं। वे लिखते हैं—

तब पूछियौ रघुराइ, सुख है पिता तन माइ।
तब पुत्र को मुख जोइ क्रम तें उठीं सब रोइ॥

इस पद में शोक की अत्यंत गंभीर अभिव्यक्ति हुई है। इसके अतिरिक्त प्रताप, ऐश्वर्य और वीरता तथा आतंक के वर्णन केशवदास ने अत्यंत सुंदर किए हैं। इसके अतिरिक्त रणभूमि और युद्ध-कौशल का वर्णन भी केशव ने कई स्थलों पर अत्यंत भावपूर्ण रीति से किया है। रामचंद्रिका के पूर्वार्द्ध में भले ही उग्र शब्दों की पूर्ण योजना न होने से तथा भयंकर परिस्थितियों की ठीक ठीक व्यंजना न होने से युद्ध-वर्णन हलके लगते हों पर उत्तरार्द्ध में लव-कुश-युद्ध में ये सब त्रुटियाँ दूर हो गई हैं और युद्धवीर तथा रौद्र दोनों रसों की योजना अत्यंत सफलतापूर्वक हुई है; इतना ही नहीं इनके युद्ध-वर्णन में हमें उन सब शैलियों के अधिकारपूर्ण प्रयोग भी मिलते हैं जिनका प्रयोग केशव से पहले के कवि बराबर करते चले आए थे। रतन-बावनी में रतनसिंह के युद्ध का वर्णन करते समय अपभ्रंशकाव्य की प्रथा के अनुसार प्राकृत शब्दों का भी प्रयोग किया है। इसी प्रकार भयानक और रौद्र रसों का भी वर्णन कई स्थानों पर केशव ने बहुत ही सुंदर किया है। राम के रौद्र रूप के दर्शन हमें रामचंद्रिका की इन पंक्तियो में होते हैं :—

करि आदित्य अदृष्ट नष्ट यम करौं अष्ट बसु।
रुद्रन बोरि समुद्र करौं गंधर्व सर्व पसु॥

भावक्षेत्र को छोड़कर कवि की प्रतिभा की परख के अवसर हमें उन स्थानों पर भी मिलते हैं जहाँ वह अपने पात्रों के रूप और उनकी परिस्थितियों के चित्रण करने का प्रयास करता है। जो कवि जितनी अधिक सफलता से इस प्रकार के सजीव चित्र यथातथ्य रूप में उपस्थित करने में सफल होता है उसकी रचनाएँ

उतनी ही अधिक प्रिय और प्रभावपूर्ण हो जाती हैं। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि केशव को इन बाह्य दृश्यों के चित्रण में भी पूर्ण सफलता नहीं मिली है। शब्दालंकारों के मोह ने केशव के इस प्रयत्न में अत्यंत बाधा उपस्थित की है। चमत्कार की रुचि ने स्वाभाविकता का गला घोंट दिया है। यह सब होते हुए समस्त रामचंद्रिका में से एक दो स्थल अवश्य ऐसे निकाले जा सकते हैं जिनके द्वारा उत्तम वर्णन के दृष्टांत की पूर्ति हो सकती है। परशुराम के रूप का चित्रण और बुढ़ापे का चित्रण ऐसे ही वर्णनों में से हैं। परशुराम के इस रूप वर्णन में उनके रूप की झाँकी के कुछ दर्शन अवश्य होते हैं।

कुशमुद्रिका समिधैं श्रुवा कुस औ कमंडल को लिए।
करमूल सरधनु तर्कसी भृगु लात सी दरसै हिए।
धनुबान तिच्छ कुठार केसव मेखला मृगचर्म स्यों।
रघुवीर को यह देखिए रसवीर सात्त्विक धर्म स्यों।

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति के अतुलित सौंदर्य से प्रभावित होने के लिये जिस भावुकता की आवश्यकता होती है उसका केशव में सर्वथा अभाव है। उनके अलंकार और रसनिरूपण के भीतर प्रकृति को वह स्थान भी ठीक ठीक नहीं मिल पाया है जो इस प्रकार के अन्य संस्कृत कवियों की रचनाओं में प्रकृति को मिला है। संभव है, राजदरबार की कृत्रिमता से वे इतने प्रभावित और उसी में इतने व्यस्त रहे हों कि प्रकृति की ओर देखने का उन्हें अवकाश ही न मिलता हो। रामचंद्रिका में वन, नदी, पंचवटी आदि अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ पर सुंदर प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन पाने की स्वाभाविक आशा से हम कवि की ओर देखते हैं पर वहाँ शब्द की करामात को छोड़कर और कुछ भी न पाकर निराश हो जाते हैं। पंचवटी के वर्णन में—

पांडव की प्रतिमा सम लेखो,
अर्जुन भीम महामति देखो।

इस वर्णन में तो केशव ने इतिहास-विरुद्ध उपमा के दोष का भी ध्यान नहीं रखा है। पंच और पांडव के शब्दसाम्य के पीछे वे ऐसे पड़े कि सारी भावुकता पानी पानी हो गई। इसी पंचवटी को आगे चलकर उन्होंने शिवमूर्ति बना दिया है :—

'चहुँओरन नाचति मुक्ति नटी,
गुन धूरजटी बन पंचवटी'।

इसी प्रकार ऋषियों के आश्रम का सौंदर्य वर्णन करना तो दूर रहा, वहाँ की मनोरम पवित्र शांति का प्रभाव उत्पन्न करने में भी उन्होंने इतनी अतिशयोक्ति से काम लिया है कि सारा आश्रम किसी जीवविद्याविशारद की प्रयोगशाला हो गया है—

केसोदास मृगज बछेरू चूसैं बाघिनीन
चाटत सुरभि बाघ-बालक-बदन है

यदि इतना ही होता तो भी यथेष्ट था पर केशव को इससे संतोष कहाँ है। वे आगे लिखते चले जाते हैं :—

सिंहन की सटा ऐंचैं कलभ करनि करि
सिंहन कौ आसन गयंद कौ रदन है।

नदियों और नदी-तट के सुरम्य दृश्यों के अवसर भी रामचंद्रिका में कई स्थलों पर आए हैं किंतु वहाँ भी प्रकृति की छवि न लिखकर विरोधाभास अलंकार के उदाहरण दिए गए हैं। सरयू और गोदावरी के वर्णन ऐसे ही हैं—

विषमय यह गोदावरी अमृतन को फल देति।
केसव जीवनहार के दुख अशेष हरि लेति॥
अति निपट कुटिल गति यदपि आप
तउ देत शुद्ध गति छुवत आप

इसी प्रकार सूर्योदय का सुंदर वर्णन करते हुए वे उसकी उपमा 'सोनित कलित कपाल' से देकर उस दृश्य का प्रभाव नष्ट कर देते हैं। रामचंद्रिका पर संस्कृत के दो ग्रंथों का बड़ा प्रभाव पड़ा है। इनमें प्रसन्नराघव और हनुमन्नाटक मुख्य हैं। केशव पर प्रसन्नराघव की अपेक्षा हनुमन्नाटक का प्रभाव अधिक है। पर उन्होंने ने वहाँ से भाव लेकर उसका ठीक ठीक निर्वाह नहीं किया है। अनुकूल परिस्थिति के बीच न होने के कारण उन भावों में वह सौंदर्य भी नहीं आ सका है जो उस नाटक में है। कवि की योग्यता की बात तो यह होनी चाहिए कि उस भाव में जो अभाव हो उसकी पूर्ति करके वह उसके सौंदर्य में वृद्धि कर दे, न कि उसका दुरुपयोग करे। एक उदाहरण पर्याप्त होगा। हनुमन्नाटक में राम सामने बैठे हैं, यहाँ उन्हें दिखाकर रावण इस प्रकार वर्णन करता है—

संस्कृत का प्रभाव

अङ्के कृत्वोत्तमाङ्गं प्लवगबलपतेः पादमक्षस्य हन्तु-
र्भूमौ विस्तारितायां त्वचि कनकमृगस्याङ्गशेषं निधाय।
बाणं रक्षःकुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनार्पितं तीक्ष्णमक्ष्णोः
कोणेनोद्वीक्ष्यमाणस्त्वदनुजवचने दत्तकर्णोऽयमास्ते॥

इसी भाव को केशव ने इस प्रकार लिया है—

भूतल के इंद्र भूमि पौढ़े हुते रामचंद्र
मारीच कनकमृगछालहिं बिछाए जू।
कुंभहा कुंभकर्न नासाहर गोद सीस
चरन अकंप अक्ष अरि उर लाए जू॥
देवांतक नारांतक अंतक त्यों मुसकात
बिभीषन बैन तन कानन रुखाए जू।
मेघनाद मकराध महोदर प्रानहर बान
त्यों बिलोकत परम सुख पाए जू॥

पर परिस्थितिभेद से अनुवाद में वह स्वाभाविकता नहीं ला सके हैं जो इस प्रकार के प्रताप-वर्णन के लिये आवश्यक थी।

केशव के संवादों की बड़ी प्रशंसा है पर उनपर भी दोनों पुस्तकों का बहुत प्रभाव पड़ा है। रावण-अंगद-संवाद में बहुत से छंद तो मूल के अनुवाद मात्र ही हैं। जैसे—

आदौ वानरशावकः समतरद्दुर्लंघ्यमम्भोनिधिं
दुर्भेद्यान्प्रविवेश दैत्यनिवहान्संप्रेष्य लङ्कापुरीम्।
छित्वा तद्वनरक्षिणो जनकजां दृष्ट्वा तु भुक्त्वा वनं
हत्वाऽक्षं प्रदहन्पुरीं च स गतो रामः कथं वर्ण्यते॥

और

श्रीरघुनाथ को बानर 'केसव' आयो हो एक न काहू हयो जू।
सागर को मद झारि चिकारि त्रिकूट की देह बिदारि गयो जू॥
सीय निहारि संहारि कै राक्षस सोक असोकबनीहि दयो जू।
अक्षकुमारहि मारिकै लंकहि जारिकै नीकेहि जात भयो जू॥

और

रामादपि च मर्तव्यं मर्तव्यं रावणादपि।
उभयोर्यदि मर्तव्यं वरं रामो न रावणः

तथा

जानि चल्यो मारीच मन, मरन दुहूँ विधि आसु
रावन के कर नरक है हरि कर हरिपुर वासु॥

ऐसे ही अनेक पद उद्धृत किए जा सकते हैं जिनमें ऐसा ही साम्य है। 'गुन धूरजटी बन पंचवटी' वाला पद भी इसी प्रकार का छायानुवाद है। जयदेव कृत प्रसन्नराघव नाटक के भी कई पद या तो ज्यों के त्यों रामचंद्रिका में रखे हैं या उनके छायानुवाद हैं। इतना ही नहीं, रामचंद्रिका के तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम प्रकाश की संपूर्ण कथा का क्रम, प्रधान स्थल और सुंदर उक्तियाँ सब प्रसन्नराघव के अनुसार हैं। स्वयंवर में जो दो

बंदीजन राजाओं का वर्णन करते हैं तथा राजा जनक की प्रतिज्ञा की सूचना देते हैं, यह सब प्रसंग प्रसन्नराघव के प्रथम अंक में इसी रूप में मिलेगा। भेद यही है कि केशव के सुमति, विमति, प्रसन्नराघव के नूपुरज और मंजरीक हैं। रावण और बाणासुर की बातचीत भी बहुत कुछ इसी नाटक के अनुसार है। कविप्रिया में केशव आचार्य दंडी और केशव मिश्र के ग्रंथों से अधिक से अधिक प्रभावित हुए हैं।

केशव के अलंकार

केशव के अलंकारों के संबंध में यहाँ अधिक विस्तार से विचार नहीं करना है, क्योंकि लाला भगवानदीन ने बड़े परिश्रम से इनका उल्लेख अपनी पुस्तकों में कर दिया है यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि केशव के अलंकारों में चाहे सहृदयता का अभाव भले ही हो पर उनमें दूर की सूझ अवश्य थी। उन्होंने एक एक दृश्य को लेकर उत्प्रेक्षा, संदेह और रूपक की झड़ी लगा दी है। परिसंख्या के भी अनेकों उदाहरण मिलेंगे। आलंकारिक योजना करने में केशव कभी नहीं थकते हैं। अलंकार के प्रयोग के लिये उन्होंने वहाँ पर भी स्थान निकाल लिया है जहाँ कोई स्थान दीखता ही नहीं है। अलंकारों की धुन में केशव कामदेव को राक्षसों का उपमान बना गए हैं।

केशव की भाषा

केशव की भाषा व्रजभाषा है परंतु उसपर बुंदेलखंडी का बहुत कुछ प्रभाव है। यह प्रभाव शब्दों के प्रयोग, क्रिया के कालों तथा संज्ञा-सर्वनामों के रूपों में भी दिखाई पड़ता है। कहीं-कहीं बुंदेलखंडी मुहाविरे भी ज्यों के त्यों मिलते हैं और ऐसे अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग मिलता है जो व्रजभाषा में नहीं होता था जैसे आलोक (कलंक), लाँच (रिश्वत), ऐलो (आह), नारी (समूह) इत्यादि। बुंदेलखंडी

शब्दों में खारक (छोहारा), चोली (पिटारी), घोरिला (खूँटी), बरगा (कड़ी), दुगई (दालान), कुची (कुंजी), गौर मदाइन (इंद्रधनुष) आदि प्रधान शब्द हैं। यों तो रूपों की एकरूपता ब्रजभाषा में बहुत कम मिलती है पर केशव के समय तक यों भी ब्रजभाषा के प्रयोग अनिश्चित रहे होंगे। इसलिये केशव के एक ही छंद में देखा के लिये देखियो, दीख, देखियो का प्रयोग मिलता है। केशव की भाषा में विदेशी शब्द बहुत ही कम हैं क्योंकि वे उस वातावरण में पले थे जहाँ निरी संस्कृत का प्रयोग होता था। उन्होंने मुहाविरों का प्रयोग किया है पर लोकोक्तियों की ओर उनकी रुचि नहीं थी। केशव की भाषा में वह प्रौढ़ता नहीं है जो आगे चलकर रीतिकालीन कवियों की विशेषता हो गई थी। रामचंद्रिका की अपेक्षा कविप्रिया और रसिकप्रिया की भाषा अधिक प्रसादगुणयुक्त है।

केशव का आचार्यत्व

केशव के आचार्यत्व पर विचार करते समय रामचंद्रिका को छोड़कर कविप्रिया और रसिकप्रिया पर भी अधिक विचार करना है। ऊपर कहा गया है कि कविप्रिया का आधार 'काव्यादर्श' और 'अलंकारशेखर' नामक ग्रंथ हैं। कविप्रिया के चार अध्यायों में कवि-शिक्षा-संबंधी सामग्री संकलित है और नवें अध्याय से लेकर अंत तक अलंकारों का वर्णन किया गया है। इनका नाम केशव ने विशेषालंकार रखा है। कवि-शिक्षा को उन्होंने सामान्यालंकार मान लिया है। केशव ने कुल सैंतीस अलंकार माने हैं और उनका यह वर्गीकरण आचार्य दंडी के अनुसार है। केशव के इस ग्रंथ का विषय निर्वाह शास्त्रीय दृष्टि से दूषित है। अनेक स्थलों पर लक्षण तथा उदाहरण का समन्वय नहीं है। इसके अतिरिक्त केशव ने जिन अलंकारों के उपभेद किए हैं उन उपभेदों के लक्षण प्रायः नहीं लिखे हैं। कुछ अलंकारों में ऐसी अस्पष्टता कर दी

है कि दो अलंकारों की खिचड़ी सी पका दी है। उन्हीं के बताए लक्षणों से दो अलंकारों में भेद नहीं ज्ञात होता। उदाहरण के लिये विशेषालंकार तथा विभावना दोनों एक से ही हैं। यही हाल 'युक्त' और स्वभावोक्ति का है। केशव ने विरोध और विरोधाभास दो पृथक् अलंकार माने हैं पर इनके जो उदाहरण उन्होंने दिए उनसें यह भेद मिट गया है। अलंकारों का अलंकारत्व किस प्रकार के कथन में होना चाहिए इसका सम्यक् ज्ञान न होने के कारण कई उपभेदों के उदाहरणों में केशव से अनर्थ हो गया है। एक उदाहरण लीजिए। अपह्नुति अलंकार में चमत्कार के लिये प्रस्तुत को छिपाकर अप्रस्तुत को सामने रखा जाता है। केशव ने न जाने क्यों इसे भुला दिया है। इससे उनकी अपह्नुतियाँ पहेलियाँ हो गई हैं। अलंकारों के वर्णन में केशव ने कई एक ऐसी भूलें की हैं जिनसे उनके इस विषय के पंडित होने में संदेह हो जाता है और यह कहना ही पड़ता है कि केशव का अलंकार-शास्त्र का ज्ञान ठीक नहीं था। आचार्य पद के योग्य जिस गंभीर अध्ययन और सूक्ष्म बुद्धि की आवश्यकता होती है उसका केशव में अभाव है। केशव यदि आचार्य दंडी के ग्रंथों का सफल अनुवाद भी कर लेते तो वे हिंदी साहित्य को एक बहुत बड़ी वस्तु प्रदान कर जाते पर उनको तो आज हम उनकी कृतियों के आधार पर एक सफल अनुवादक भी नहीं कह सकते फिर आचार्य किस प्रकार कहें? केशवदास की दूसरी पुस्तक 'रसिकप्रिया' है जिसके आधार पर उनके प्रेमी उनके आचार्यत्व की दुहाई देते हैं। कुछ संस्कृत के आचार्यों के अनुकरण पर केशव ने इसमें शृंगार रस का आचार्यत्व सिद्ध करने का प्रयत्न किया और उन्हें किसी अंश में सफलता भी मिली है। उनकी रसिकप्रिया रस का ग्रंथ होने

के स्थान पर केवल शृंगार रस का ग्रंथ हो गई है। इस ग्रंथ को भी यदि ध्यान से देखा जाय और केशव की ख्याति का जो प्रभासंडल है उसका ध्यान थोड़ी देर के लिये छोड़ दिया जाय तो एक बार फिर स्पष्ट और अप्रिय सत्य कहना ही होगा कि इस रस के भी विभाव, अनुभाव, संचारियों का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया गया है। इसका काव्य से क्या संबंध है? भावों और रसों में कौन सी एकता है? रसाभास क्या है? भावाभास क्या है? इन सबकी ओर भी इस ग्रंथ में ध्यान नहीं दिया गया है। केवल संयोग-शृंगार, विप्रलंभ-शृंगार, नायिका-दर्शन, नायिका-भेद, सात्विक, व्यभिचारी, मान तथा सखी का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। ये दोनों पुस्तकें किसी प्रकार भी केशवदास को आचार्यत्व प्रदान करने में उनका साथ नहीं देती हैं। इन्हें रामचंद्रिका के साथ मिलाकर देखने पर केशव के पक्ष में निर्णय करना कठिन प्रतीत होता है। केशव के इन तीनों ग्रंथों का काव्य की दृष्टि से अधिक मूल्य है। उदाहरण के पद्यों में कहीं-कहीं अच्छी कल्पना के दर्शन हो जाते हैं।

फिर भी सब बातों को देखते हुए यह मानना पड़ेगा कि रीति काल के आचार्य कहे जानेवाले कवियों में केशव का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इनके पहले भी कृपाराम, गोप, मोहनलाल आदि ने रीति साहित्य के निर्माण का प्रारंभ किया था, पर उनकी रचनाएँ केशवदास के सर्वतोमुख प्रयास के सामने एकांगी हो गई हैं। केशवदास को हृदयहीन कहकर हम उनके प्रति अन्याय करते हैं; क्योंकि एक तो उनकी हृदयहीनता जानी-समझी हृदयहीनता है, और फिर अनेक स्थलों में उन्होंने पूर्ण सहृदय

होने का परिचय दिया है। जिस कवि की रसिकता वृद्धावस्था तक बनी रही, उसे हृदयहीन कहा भी कैसे जा सकता है? यह बात अवश्य है कि केशवदास उन कविपुंगवों में नहीं गिने जा सकते जो एक विशिष्ट परिस्थिति के निर्माता हों। वे तो अपने समय की परिस्थिति द्वारा निर्मित हुए हैं और उसके प्रत्यक्ष प्रतिबिंब हैं।

त्रिपाठी-बंधु

इनमें चिंतामणि, भूषण, मतिराम तथा जटाशंकर थे। कुछ लोगों की सम्मति में वे सब भाई नहीं थे, और विभिन्न कालों के कविताकार थे; परंतु जनश्रुति के आधार पर शिवसिंह सेंगर आदि ने इन्हें सगे भाई स्वीकार किया है। वास्तव में ये तिकवाँपुर (कानपुर) के निवासी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे और समकालीन कवि तथा सगे भाई थे।

चिंतामणि सबसे बड़े थे। इन्होंने काव्यविवेक, कविकुल-कल्पतरु, काव्यप्रकाश तथा रामायण आदि ग्रंथ बनाए। नागपुर के तत्कालीन नृपति मकरंदशाह के दरबार में रहकर इन्होंने छंद-विचार ग्रंथ की रचना की और उसे उन्हें ही समर्पित किया। चिंतामणि की रीति-रचना के संबंध में सबसे महत्त्व की बात यह है कि महाकवि आचार्य केशवदास ने हिंदी में जिस अलंकार-संप्रदाय का सृजन किया था, उसे छोड़कर इन्होंने सुंदर रसपूर्ण रचना की जिसमें अलंकारों को उपयुक्त स्थान दिया गया। इस प्रकार वे हिंदी के दूसरे प्रधान रीति-संप्रदाय के प्रायः सर्वप्रथम कवि ठहरते हैं तथा भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से प्रशंस-नीय कहे जा सकते हैं। तत्कालीन मुगल सम्राट् शाहजहाँ ने इन्हें पुरस्कृत करके इनकी योग्यता तथा अपनी गुणग्राहिता का परिचय दिया था। इनके दूसरे भाई भूषण के संबंध में हम अन्यत्र लिख चुके हैं।

हिंदी के रससिद्ध सच्चे कवियों में मतिराम अपनी कविता के कारण प्रसिद्ध हैं। हिंदी साहित्य के इतिहासकार मिश्रबंधुओं ने इन्हें 'हिंदी नवरत्न' में स्थान दिया है और वास्तव में ये उस स्थान के अधिकारी भी हैं। इनकी रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता इनका भाषा-सौष्ठव है। मतिराम की सी प्रसादगुण-संपन्न सरल कोमल व्रजभाषा बहुत कम कवियों ने लिखी होगी।

मतिराम

इनकी पुस्तकों में रसराज और ललितललाम विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त छंदसार, साहित्यसार और लक्षण-शृंगार नामक इनकी अन्य कृतियाँ भी हैं। इनका बनाया, मतिराम सतसई नामक शृंगार-रस-विशिष्ट सात सौ दोहों का संग्रह भी कुछ समय पहले मिला है। यद्यपि इनकी सतसई में बिहारी-सतसई की सी अलंकारयोजना नहीं है और यद्यपि उसकी प्रसिद्धि भी अधिक नहीं है, पर भाषा तथा भावों के सुंदर स्वाभाविक प्रवाह की दृष्टि से वह बिहारी-सतसई से कम नहीं है। बिहारी ने पेंचीले मजमून बाँधकर और अतिशयोक्ति आदि हलके अलंकारों से लादकर कविता-कामिनी की निसर्गसिद्ध श्री बहुत कुछ कम कर दी है। उसके अनुरागी चाहे उन अलंकारों पर ही मुग्ध बने रहें, पर जहाँ हार्दिक अनुभूतियों के खोजी रसिक समीक्षा करेंगे, वहाँ बिहारी के अनेक दोहों को निम्न स्थान ही मिल सकेगा। मतिराम में भावपक्ष का बहुत सुंदर विकास देख पड़ता है।

इनकी कविता की कुछ बानगी लीजिए—

निसि दिन श्रौननि पियूष सो पियत रहै,
छाय रह्यो नाद बाँसुरी के सुरग्राम को।
तरन्नि-तनूजा-तीर नव कुंज बीथिन में,
जहाँ जहाँ देखियत रूप छविधाम को।

कवि मतिराम होत हाँतो ना हिए तैं नेक,
सुद्ध प्रेम गात को परस अभिराम को ।
ऊधो तुम कहत वियोग तजि योग करौ,
योग तब करै जो वियोग होय स्याम को ॥

मानहु आयो है राज कछू चढ़ि बैठत ऐसे पलास के खोड़े ।
गुंज गरे सिर मोर-पखा मतिराम हौ गाय चरावत चोड़े ।
मोतिन को मेरो तोर्‌यो हरा गहि हाथन सों रहे चूनरी ओढ़े ।
ऐसे ही डोलत छैल भए तुम्हें लाज न आवत कामरी ओढ़े ।

बरखा-सी लागी निसि वासर विलोचननि
बाढ्यो परवाह भयो नावनि उतरिबो ।
रह्यो जात कौन पै सुकवि मतिराम अब,
विरह अनल ज्वाल जालनि ते उरिबो ।
जैयत समीप तौ उड़ैयत उसासन सों,
हमको तो भयो उत हेरत हहरिबो ।
कियो कहा चाहत सो कहो न कुँवर कान्ह,
रह्यो अब वाको उपचारन को करिबो ॥

उनके रसराज और ललितललाम रीति कविता के विद्यार्थियों के लिये सरलतम और सर्वोपयुक्त ग्रंथ हैं। मतिराम को बूँदी के महाराज भावसिंह के यहाँ आश्रय मिला था अतः उनकी स्तुति में इन्होंने अनेक छंद कहे हैं, जिनमें कुछ वीर रस के हैं।

रीति काल के कवियों में प्रसिद्धि की दृष्टि से बिहारी अन्यतम हैं। कुछ साहित्य-समीक्षक कवियों के उत्कर्षापकर्ष का निर्णय उनकी कृतियों की प्रसिद्धि तथा प्रचार की दृष्टि से करते हैं, पर ऐसा करने में भ्रांति की संभावना रहती है। जनता का रुचिनिर्माण करने में क्षणिक परिस्थितियाँ बहुत कुछ काम करती हैं, और उसकी साहित्य-

बिहारी

समीक्षा संबंधी कसौटी कभी कभी बिलकुल अनुचित और अशुद्ध भी होती है। प्रसिद्धि तो बहुत कुछ संयोग से भी मिल सकती है। यह सब कहने का हमारा आशय यह नहीं है कि कविवर बिहारी की ख्याति में उनकी कविता की वास्तविक सुंदरता और उत्कृष्टता सहायक नहीं है। हाँ, यह अवश्य है कि इनकी अत्यधिक प्रसिद्धि का कारण साहित्य-संबंधी तत्कालीन अनोखी विचार-परंपरा भी है। बिहारी उस श्रेणी के समीक्षकों में सबसे अधिक प्रिय हैं जो अलग अलग दोहों की कारीगरी पर मुग्ध होते और बात की करामात पसंद करते हैं। सौंदर्य और प्रेम के सुंदरतम चित्र बिहारी ने खींचे हैं, पर अलंकरण की ओर उनकी प्रवृत्ति सबसे अधिक थी। उनकी कविता आवश्यकता से अधिक नपी-तुली हो जाने के कारण सर्वत्र स्वाभाविकता-समन्वित न हीं है। बिहारी ने घाट-बाट देखने में जितना परिश्रम उठाया होगा, उतना वे यदि हृदय की टोह में करते तो हिंदी कविता उन्हें पाकर अधिक सौभाग्यशालिनी होती। फिर भी उनकी सतसई हिंदी की अमर कृति कहलायगी और श्रेणी-विशेष के साहित्य-समीक्षकों तथा काव्य-प्रेमियों के लिये तो वह सर्वश्रेष्ठ रचना है ही। दोहे जैसे छोटे छंद में इतने अलंकारों की सफल योजना करने मेंबिहारी की टक्कर का कदाचित् ही कोई कवि हिंदी में मिले। इन्होंने अनेक दोहों में अनुभावों की बड़ी सुंदर योजना करके रसव्यंजना में अच्छी निपुणता दिखलाई है। परंतु विरह, सुंदरता आदि के वर्णन में जहाँ इन्होंने दूर की सूझ दिखलाने का प्रयत्न किया है वहाँ केवल सूझ ही सूझ रह गई है, सच्चे काव्यरसिकों का उससे कोई मनोरंजन नहीं होता। पर छोटे छोटे दोहों में बड़ी मार्मिकता के साथ अधिक से अधिक भाव भर देने के लिये बिहारी की जो इतनी ख्याति है वह बहुत कुछ सत्य है। इनके दोहों की प्रशंसा में कहा गया है—

सतसैया के दोहरे, ज्यों नावक के तीर।
देखत के छोटे लगें, बेधैं सकल सरीर॥

इन्होंने नीतिसंबंधी दोहे और कुछ सुंदर अन्योक्तियाँ भी कही हैं। इनके कुछ दोहे यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

अधर धरत हरि के परत, ओठ डीठ पद जोति।
हरित बाँस की बाँसुरी, इंद्रधनुष सी होति॥
भूषन भार सम्हारिहैं, क्यों इहि तन सुकुमार।
सूधे पाइ न धरि परैं, सोभा ही के भार॥
इत आवत चलि जात उत, चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सी रहै, लगी उसासन साथ॥
दृग अरुझत टूटत कुटुम, जुरत चतुर सँग प्रीति।
परति गाँठि दुरजन हिए, दई नई यह रीति॥
त्यों त्यों प्यासेई रहत, ज्यों ज्यों पियत अघाइ।
सगुन सलोने रूप की, जु न चख-तृखा बुझाइ॥
बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनि हँसै, देन कहै नटि जाइ॥
नहिं परागु नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो, आगे कौन हवाल॥
यही आस अटक्यो रह्यो, अलि गुलाब के मूल।
ऐहैं बहुरि बसंत रितु, इन डारन वे फूल॥

ये इटावे के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इटावे के आस-पास सनाढ्यों की बस्ती होने के कारण उनके कान्यकुब्ज होने में संदेह हो सकता है; पर देव के वंशज अपने को कान्यकुब्ज दुसरिहा (द्योसरिया-देव) ब्राह्मण बतलाते हैं। रीति-काल के ग्रंथकारों में सबसे प्रचुर परिमाण में

देव

साहित्य का निर्माण करनेवाले देव ही थे; क्योंकि इनके लिखे ५२ या ७२ ग्रंथों में से २६ का पता लग चुका है जिनकी छंद-संख्या कई सहस्र होगी।

बाल्यावस्था से ही इन्होंने जो काव्य-चमत्कार दिखलाया, उससे उनका नैसर्गिक प्रतिभा से समन्वित होना सिद्ध होता है। इस प्रतिभा का उपयोग उन्होंने आश्रयदाता धनियों की मिथ्या प्रशंसा में न कर सत्कविता के क्षेत्र में किया था। देव का सम्मान तत्कालीन किसी नृपति ने नहीं किया। इसका कारण चाहे जो हो, पर परिणाम अच्छा ही हुआ। उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि के लिये बंधनमुक्त होकर विचरण करना आवश्यक होता है, उपकार या प्रसिद्धि के बोझ से दब जाने से कविता का ह्रास अवश्यंभावी है। जनसाधारण ने उनकी कविता का आदर उस समय नहीं किया इसका कारण उसकी विपथगामी रुचि ही कही जायगी। उनके ग्रंथों की टीकाएँ भी बिहारी-सतसई की भाँति नहीं निकलीं। राजदरबार में अत्यधिक सम्मानित होने के कारण बिहारी-सतसई के टीकाकारों को पुरस्कृत होने की आशा रहती थी। देव को वह सुविधा नहीं मिल सकी।

देव का काव्यक्षेत्र बड़ा व्यापक और विस्तृत था। रीति काल के कवियों में इतनी व्यापकता और कहीं नहीं देख पड़ती। देव की सौंदर्य-विवृति सत्य अतः मर्मस्पर्शिनी है। परंतु देव के गायन का मुख्य विषय प्रेम है। उनका प्रेम यद्यपि लौकिक ही कहा जायगा परंतु उनकी तन्मयता के कारण उसमें उनके अंतरतम की पुकार सुन पड़ती है। यही पुकार साहित्य की उत्कृष्टता की सूचिका है। देव की प्रारंभिक रचनाओं में यौवन का उन्माद है, उनमें शृंगारिकता कूट कूटकर भरी है; पर प्रौढ़ावस्था में पहुँचकर उनकी रचनाएँ बहुत कुछ संयत भी हुईं। उनकी दर्शनपच्चीसियों में

अधिकतर पूत भावनाएँ सन्निविष्ट हैं। यह सब कहने का आशय इतना ही है कि देव की रचनाओं में जो क्रमिक विकास मिलता है, वह किसी सच्चे कवि के लिये परम आवश्यक है। रीति-काल के अन्य किसी कवि की कृतियों में अंतर की प्रेरणा से घटित क्रमिक परिवर्तन का इतना स्पष्ट पता नहीं लगता।

जिन कवि को भावों के व्यापक क्षेत्र में आना पड़ता है, उसे भाषा की शक्ति भी बढ़ानी पड़ती है, और कल्पना को भी बहुत कुछ विस्तृत करना पड़ता है। देव का शब्द-भांडार और कल्पना-कोष भी विकसित और समृद्ध था। हाँ, भाषा को अलंकार-समन्वित करने और शब्दों को तोड़ने-मरोड़ने की जो सामान्य प्रवृत्ति कालदोष बनकर व्रजभाषा में व्याप्त हो रही थी, उससे देव भी बच नहीं सके हैं। उनकी कल्पना अधिकतर काव्योपयुक्त पर कहीं कहीं पेंचीली और चक्करदार भी हो गई है।

रीति-काल के थोड़े से आचार्यों में देव की गणना की जाती है। रीति संबंधिनी उनकी कुछ स्वतंत्र उद्भावनाओं का उल्लेख मिश्रबंधुओं ने किया है। पांडित्य की दृष्टि से रीति काल के समस्त कवियों में देव का स्थान आचार्य केशवदास से कुछ नीचे माना जा सकता है, कलाकार की दृष्टि से वे बिहारी से निम्न ठहर सकते हैं, परंतु अनुभव और सूक्ष्मदर्शिता में उच्च कोटि की काव्यप्रतिभा का मिश्रण करने और सुंदर कल्पनाओं की अनोखी शक्ति लेकर विकसित होने के कारण हिंदी काव्यक्षेत्र में सहृदय और प्रेमी कवि देव को रीतिकाल का प्रमुख कवि स्वीकार करना पड़ता है।

इनकी कविता के कुछ उदाहरण यहाँ उपस्थित किए जाते हैं—

वारौं कोटि इंदु अरविंद रस बिंद पर,
मानै न मलिंद बिंद समकै सुधासरो।

मलै मल्लि मालती कदंब कचनार चंपा,
चापे हू न चाहै चित चरन टिकासरो ॥
पदुमिनि तू ही षटपदु को परम पदु,
"देव" अनुकूल्यो और फूल्यो तो कहा सरो।
रस रिस रास रोस आसरो सरन बिसे,
बीसो बिसवास रोकि राख्यो निसि बासरो ॥

कोटि कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोई कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।
कैसो परलोक नरलोक बर लोकन में,
लीन्हीं मैं असोक लोक लोकन ते न्यारी हौं ॥
तन जाहि मन जाहि 'देव' गुरजन जाहि,
जीव क्यों न जाहि टेक टरत न टारी हौं।
वृंदावनवारी बनवारी के मुकुटवारी,
पीत पटवारी वहि मूरति पै वारी हौं ॥

सुनिकै धुनि चातक मोरनि की चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सों।
अनुराग भरे हरि बागनि मैं सखि रागत राग अचूकनि सों ॥
कवि 'देव' घटा उनई जु नई बन भूमि भई दल दूकनि सों।
रँगराती हरी हहराती लता झुकि जाती समीर के झूँकनि सों ॥

सूनो कै परम पद ऊनो कै अनंत मद,
नूनो कै नदीस नद इंदिरा झुरै परी।
महिमा मुनीसन की संपति दिगीसन की,
ईसनि की सिद्धि ब्रज वीथी बिथुरै परी ॥
भादों की अँधेरी अधिराति मथुरा के पथ,
पाय कै सँयोग "देव" देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन अपार परब्रह्मरासि,
जसुदा के कोरै एक बार ही कुरै परी ॥

होगा, प्रतापगढ़ (अवध) के रहनेवाले कायस्थ कवि भिखारीदास की रचनाओं में काव्यांगों का विवेचन अच्छे विस्तार से किया गया है। उनका काव्यनिर्णय ग्रंथ अब भी रीति के विद्यार्थियों का प्रिय ग्रंथ है। इसके अतिरिक्त उनकी रची छंदार्णव-पिंगल, रससारांश, शृंगारनिर्णय आदि अन्य पुस्तकें भी हैं। दासजी के आश्रयदाता प्रतापगढ़ के अधिपति पृथ्वीजीतसिंह के भाई हिंदूपतिसिंह थे।

भिखारीदास

दासजी के आचार्यत्व की बड़ी प्रशंसा की जाती है और रीति के सब अंगों का विवेचन करने के कारण उनकी कृतियाँ बड़े आदर से देखी जाती हैं। उनकी सुंदर समीक्षाओं तथा मौलिक भावनाओं का उल्लेख भी किया गया है।

कविता की दृष्टि से दासजी की रचनाएँ बहुत ऊँची नहीं उठतीं। रीतिकाल के पूर्ववर्ती कवियों के भावों को लेकर स्वतंत्र विषय खड़ा करने में यद्यपि वे बड़े पटु थे, पर भावों के निर्वाह की मौलिक शक्ति न होने के कारण उन्हें सफलता कम मिली है। अवध में रहकर शुद्ध चलती ब्रजभाषा लिख सकना तो बहुत कठिन है; पर दासजी की भाषा सामान्यतः शुद्ध और साहित्यिक है। इससे उनके ब्रजभाषा के विस्तृत अध्ययन का पता चलता है।

समीक्षा बुद्धि के अभाव के कारण रीति की लीक पर चलनेवाले अनेक कवियों से भिखारीदास का स्थान बहुत ऊँचा है, पर कवियों की बहुत ऊँची पंक्ति में उन्हें कभी स्थान नहीं दिया गया।

रीति काल के अंतिम चरण के ये सबसे प्रसिद्ध कवि हैं। ये तैलंग ब्राह्मण मोहनलाल भट्ट के पुत्र थे। पिता की प्रसिद्धि के कारण अनेक राजदरबारों में इनका सम्मान हुआ था। अवध के तत्कालीन सेनाध्यक्ष हिम्मतबहादुर की स्तुति में इन्होंने हिम्मतबहादुर-विरदावली नामक

पद्माकर

पुस्तक लिखी। इनके मुख्य आश्रयदाता जयपुराधीश जगतसिंह थे जिनको इन्होंने अपना जगद्विनोद ग्रंथ समर्पित किया था। इनका अलंकार-ग्रंथ पद्माभरण भी जयपुर में ही लिखा गया था। प्रबोधपचासा और गंगालहरी इनकी अंतिम रचनाएँ थीं। मृत्यु के कुछ काल पहले से ये कानपुर में गंगातट पर निवास करने लगे थे।

पद्माकर की शृंगाररस की कविताएँ इतनी प्रसिद्ध हुई कि इनके नाम पर कितने ही कविनामधारियों ने अपनी कुत्सित वासनाओं से सने उद्‌गारों को मनमाने ढंग से फैलाया। आज भी पद्माकर के नाम की ओट लेकर बहुत सी अश्लील रचनाएँ देहातों की कविमंडली में सुनी सुनाई जाती हैं। पद्माकर की कृतियों में यदि थोड़ा अश्लीलत्व है तो उनके अनुकरणकारियों में उसका दसगुना।

पद्माकर की अनुप्रासप्रियता भी बहुत प्रसिद्ध है। जहाँ अनुप्रासों की ओर अधिक ध्यान दिया जायगा वहाँ भावों का नैसर्गिक प्रवाह अवश्य भंग होगा और भाषा में अवश्य तोड़-मरोड़ करनी पड़ेगी। संतोष की बात इतनी ही है कि उनके छंदों में उनकी भावधारा को सरल स्वच्छंद प्रवाह मिला है, जिनमें हावों की सुंदर योजना के बीच में सुंदर चित्र खड़े किए गए हैं। शृंगार की ओर अतिशयता से प्रवृत्त रहने के कारण इनका रामरसायन नामक वाल्मीकि-रामायण का अनुवाद-ग्रंथ अच्छा नहीं बन पड़ा। वह युग प्रबंधकाव्य का न था। मुक्तक रचनाओं में पद्माकर ने अच्छा चमत्कार प्रदर्शित किया है। आधुनिक हिंदी के कुछ कवियों तथा समीक्षकों की दृष्टि में पद्माकर रीति काल के सर्वोत्कृष्ट कवि ठहरते हैं। जगद्विनोद और पद्माभरण रीति का अध्ययन करनेवालों के लिये सरल ग्रंथ हैं। इनकी भाषा का प्रवाह बड़ा ही सुंदर और चमत्कार-युक्त है।

पद्माकर की कविता के कुछ उद्धरण यहाँ दिए जाते हैं—

देखु पदमाकर गोविंद की अमित छवि,
संकर-समेत विधि आनँद सों बाढ़ो है।
झिझिकत झूमत मुदित मुसुकात गहि,
अंचल को छोर दोऊ हाथन सों आढ़ो है॥
पटकत पाँव होत पैजनी झुनुक रंच,
नेक नेक नैनन तें नीर कन काढ़ो है।
आगे नंदरानी के तनक पय पीवे काज,
तीनि लोक ठाकुर सो ठुनुकत ठाढ़ो है॥

प्रबल प्रताप-कुल-दीपक छता के पुन्य,
पालक पिता के राम राजा ज्यों भगतराज।
कान्ह अवतार बैरी बारिधि मथन काज,
सील के जहाज बली विक्रम तखतराज॥
म्लेच्छ अंधकार मेटिबे को मारतंड दिन,
दूलह दुनी के हिंदुजन के नखतराज।
पारथ से पृथु से परिच्छित पुरंदर से,
जादौ से जजाति से जनक से जगतराज॥

सुर-मुख नूर दै कै भूसुरनि दान दै कै,
मन दै कै तोस तुर्रा सिर पै सपूती को।
मास मंसहारन अहारन अघाय,
तरवार तन ताय दयो सुक्ख रन दूती को॥
श्रोण दैकै जोगिनन भोग दै वरांगना,
मुंड दैकै पारवतीपति मजबूती को।
मार दै अरिन अरजुन अरजुन सिंह,
गयो देवलोक ओप दैकै रजपूती को॥

दाहन तैं दूनी तेज तिगुनी त्रिसूलन तैं
चिल्लिन तैं चौगुनी चलाँक चक्रचाली तैं।
कहै पदमाकर महीप रघुनाथ राव,
ऐसी समसेर सेर सत्रुन पै घाली तैं॥
पंचगुनी पब्ब तैं पचीसगुनी पावक तैं,
प्रगट पचासगुनी प्रलय प्रनाली तैं।
सतगुनी सेस तैं सहस्रगुनी साँपन तैं,
लाखगुनी लूक तैं करोरगुनी काली तैं॥

टप्पे की टकोर टक्करन की तड़ातड़ित,
माचै जब कूरम-करिंदों को लड़ालड़ी।
कहै पदमाकर झपट्ट की झड़ाझड़ मैं,
सुंडों की सड़ासड़ भुसुंडों की भड़ाभड़ी।
मस्ती की भड़ाभड़ जड़ाजड़ जँजीरन की,
पत्रों की पड़ापड़ गरज्जों की गड़ागड़ी।
धक्कों की धड़ाधड़ अड़ंग की अड़ाअड़ में,
ह्वै रहै कड़ाकड़ सुदंतों की कड़ाभड़ी॥

प्रतापसाहि

चरखारी के महाराज विक्रमसाहि के आश्रय में अनेक सुंदर ग्रंथों की रचना करनेवाले प्रतापसाहि हिंदी के रीतिकाल के अंतिम आचार्य और कवि हुए। इनके "व्यंग्यार्थ-कौमुदी", "काव्य-विलास" आदि ग्रंथों से इनके पांडित्य तथा कवित्व दोनों का पता चलता है। ब्रज की शुद्ध भाषा पर इनका अच्छा अधिकार था। ये पद्माकर की भाँति अनुप्रासप्रिय नहीं थे। व्यंग्यार्थ-कौमुदी में रीति-परंपरा की अत्यंत प्रौढ़ अवस्था के अनुरूप अनेक रूढ़िगत रचनाएँ हैं, फिर भी शुद्ध काव्य की दृष्टि से भी उसमें उत्कृष्ट स्थलों की कमी नहीं है। आचार्यत्व और काव्यत्व का ऐसा सुंदर संयोग बहुत

की थोड़े कवियों में देख पड़ता है। समस्यापूर्ति करने के अभ्यासी कवियों का सा भावशैथिल्य प्रतापसाहि में बहुत कम पाया जाता है, जिससे उनके सच्चे कवि-हृदय का पता चलता है।

घोर घटा घहरैं नभमंडल तैसिय दामिनि की दुति जागत।
धावत धूरि भरे धुरवा मुरवा गिरिशृंगन पै अनुरागत॥
फैली नई हरियाई निहारि सँजोगिनि के हियरे अनुरागत।
रीति नई रितु पावस में ब्रजराज लखैं रितुराज सों लागत॥
तड़पै तड़िता चहुँओरन तें छिति छाई समीरन की लहरैं।
मदमाते महा गिरिशृंगन पै गन मंजु मयूरन के कहरैं॥
इनकी करनी बरनी न परै सु गरूर गुमानन सों गहरैं।
घन ये नभमंडल में छहरैं घहरैं कहुँ जाय कहूँ ठहरैं॥

रीति काल की कविता में प्रतापसाहि के उपरांत कोई बड़ा कवि नहीं हुआ, हाँ शृंगार-रस के फुटकर पद्यों की रचना द्विजदेव आदि कुछ कवियों ने उनके बाद भी सफलतापूर्वक की।

रीति की परिपाटी के बाहर प्रेम संबंधी सुंदर मुक्तक छंदों की रचना करनेवालों में इन तीन कवियों का प्रमुख स्थान है।

घनानंद, बोधा, ठाकुर

रीति के भीतर रहकर बँधे बँधाये विभाव, अनुभाव और संचारियों के संयोग से और परंपरा-प्रचलित उपमानों की योजना से काव्य का ढाँचा खड़ा करना कवि-कर्म को विशेष ऊँचे नहीं पहुँचाता। प्रकृति के रम्य रूपों को सूक्ष्म दृष्टि से देखकर उन पर मुग्ध होना एक बात है और नायक-नायिका की विहार-स्थली को उद्दीपन के रूप में दिखाना दूसरी बात। एक में निसर्गसिद्ध काव्यत्व है, दूसरे में काव्याभास मात्र। उसी भाँति अनेक नायक-नायिकाओं के विभेद दिखाते हुए, हावों आदि को जोड़-जाड़कर खड़ा कर देने में कवि की सहृदयता का वैसा पता नहीं लग सकता जैसा तल्लीनता की

अवस्था में प्रेम के मार्मिक उद्गारों और स्त्री-पुरुष के मधुर संबंध के रमणीय प्रसंगों का स्वाभाविक चित्रण करने में। घनानंद, बोधा और ठाकुर (बुँदेलखंडी) तीनों ही प्रेम की उमंग में मस्त सच्चे कवि हुए। यह ठीक है कि प्रेम का लौकिक पक्ष न ग्रहण करने के कारण उनकी कविता ऐकांतिक प्रेमसंबंधिनी अतः अलोकोपयोगी हो गई है; परंतु उस काल की बँधी परिपाटी से स्वतंत्र होकर मनोहर रचना करने के कारण ये तीनों ही कवि हिंदी में आदर की दृष्टि से देखे जायँगे। घनानंद की भाषा भी व्रज की टकसाली भाषा थी। उनकी जैसी भाषा रीतिकाल के कम कवियों ने व्यवहृत की है।

रीतिकाल की कविता की बाहरी तड़क-भड़क के विरुद्ध घनानंद की कविता में भाषा की स्वाभाविक शक्ति के विकास के साथ जो सच्ची प्रेम की पीर पाई जाती है उसके संबंध में निम्न-लिखित सवैया बहुत ठीक कहा गया है—

प्रेम सदा अति ऊँचो लहै सु कहै इहि भाँति की बात छकी।
सुनि कै सब के मन लालच दौरे पै बौरे लखैं सब बुद्धि चकी॥
जग की कविताई के धोखे रहैं ह्याँ प्रवीनन की मति जाति जकी।
समुझै कविता घन आनँद की हिय आँखिन प्रेम की पीर तकी॥

इन्होंने वियोग-शृंगार का ही वर्णन अधिक किया है और इनमें वेदना की गहराई के साथ भाषा पर अद्भुत अधिकार पाया जाता है। मुहावरों का भी बड़ा सुंदर प्रयोग हुआ है। कुछ छंद नीचे दिये जाते हैं—

भोर तें साँझ लों कानन ओर निहारति बावरी नैकु न हारति।
साँझ तें भोर लों तारनि ताकिबो तारन सों इक तार न टारति॥
जो कहूँ आवतो दीठि परै घन आनँद आँसुनि औसर गारति।
मोहन सोंहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के मन आरति॥

जहाँ तै पधारै मेरे नैननि ही पाँव धारै,
वारैं ये बिचारे प्रान पैंड पैंड पै मनौ।
आतुर न होहु हा हा नैकु फैंट छोरि बैठौ,
मोहिं वा बिसासी को है ब्यौरो बूझिबो घनौ॥
हाय निर्दई कों हमारी सुधि कैसें आई,
कौन बिधि दीनी पाती दीन जानि कै भनौ।
झूठ की सचाई छाक्यौ त्यों हित कचाई पाक्यौ,
ताके गुनगन घनआनँद कहा गनौ॥

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नैकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ चलैं तजि आपनपौ झुझुकैं कपटी जे निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक ते दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हो लला मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

अंतर मैं बासी पै प्रवासी कैसो अंतर है
मेरी न सुनत दैया आपनीयौ ना कहै।
लोचननि तारे ह्वै सुझाओ सब सूझौ नाहिं,
बूझी न परति ऐसो सोचनि कहा दहै॥
हौ तौ जान राय जाने जाहु न अजान याते
आनँद के घन छाया छाय उघरे रहौ।
मूरति मया की हा हा सूरति दिखैए नैकु,
हमैं खोय या बिधि हो कौन धौं लहालहौ॥

इस काल के अंतिम समय में यशवंतयशोचंद्रिका और यशवंत-चंद्रिका नाम के दो प्रसिद्ध ग्रंथ राजपुताने से प्रकाशित हुए और उनका बहुत कुछ आदर हुआ।

रीति काल में कवियों की ऐसी बाढ़ आई थी कि ऊपर के पृष्ठों में केवल प्रधान प्रधान धारावाही कवियों का उल्लेख ही हो सका है। जिस देश में, जिस काल में कविकर्म शृंखलित, नियमित

और रीतिबद्ध हो जाता है वहाँ उस काल में मध्यम श्रेणी के अलंकारप्रिय कवियों को स्वभावतः अधिक संख्या हुआ करती है। कविता जब प्रतिभा-सापेक्ष न रहकर बहुत कुछ अध्ययन-सापेक्ष हो जाती और बुद्धिवाद की ओर झुकती है तब कविगण पांडित्य-प्रदर्शन को काव्य का मुख्य उद्देश समझने लगते हैं। कविता अपना वास्तविक सौंदर्य खो देती और कृत्रिम बन जाती है। अँगरेजी साहित्य के इतिहास में पोप और ड्राइडेन की कविता बहुत कुछ ऐसी ही है। हिंदी में श्रीपति, कुलपति, सुखदेव मिश्र और महाराज जसवंतसिंह कवि नहीं कहे जा सकते, अलंकार-ग्रंथ-निर्माता ही कहे जायँगे। साहित्यिक विश्लेषण के अनसार इन्हें साहित्य-समालोचकों की श्रेणी में स्थान मिलना चाहिए, कवियों की श्रेणी में नहीं। कविताकारों में उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त वेणी प्रवीण, द्विजदेव आदि के नाम भी किसी प्रकार आ जायँगे। तत्कालीन मुसलमान कवियों में आलम-शेख का जोड़ा प्रसिद्ध है। रसलीन और अलीमुहिब खाँ की रचनाएँ भी थोड़ा-बहुत मूल्य अवश्य रखती हैं।

फुटकर कविगण

यद्यपि रीति काल में हिंदी कविता की अंग-पुष्टि बहुलता से हुई, पर साथ ही कलापक्ष की ओर जितना अधिक ध्यान दिया गया उतना भावपक्ष की ओर नहीं दिया गया। आचार्यत्व तथा कवित्व के मिश्रण ने भी ऐसी खिचड़ी पकाई जो स्वादिष्ठ होने पर भी हितकर न हुई। आचार्यत्व में संस्कृत की बहुत कुछ नकल की गई और वह नकल भी एकांगी हुई। सिद्धांतों को लेकर उन पर विवेचनापूर्ण ग्रंथों के निर्माण की ओर ध्यान नहीं दिया गया और केवल पुरानी लकीर को ही पीटते रहने की रुचि ने साहित्य के इस अंग की यथेष्ट पुष्टि न होने दी।

——

ग्यारहवाँ अध्याय

आधुनिक काल

पद्य

कविता का जो प्रवाह केशवदास और चिंतामणि आदि ने बहाया, देव और बिहारी के समय में वह पूर्णता को पहुँचकर क्षीण होने लगा तथा पद्माकर और प्रतापसाहि तक पहुँचते पहुँचते उसकी गति प्रायः मंद पड़ गई। यह तो हम पहले ही कह चुके हैं कि संपूर्ण रीति-काल में अधिकांश निम्न कोटि का साहित्य तैयार होता रहा, जिसका कारण तत्कालीन जनता तथा रईसों की अभिरुचि थी। कविता का उच्च लक्ष्य भुला दिया गया था। जीवन-संबंधिनी स्थायी तथा उच्च भावनाएँ लुप्त हो गई थीं और कविता गंदी वासनाओं की साधिका मात्र बन रही थी। यह ठीक है कि इस काल के कुछ प्रतिभाशाली कवियों ने कहीं कहीं गार्हस्थ्य जीवन के मधुर संबंधों की बड़ी ही सुंदर अभिव्यंजना की है तथा प्रेम और सौंदर्य के छोटे छोटे रमणीक दृश्य मुक्तकों में दिखाए हैं; पर ऐसे कवियों की संख्या बहुत अधिक न थी। अधिकांश कवि अलंकारों के पीछे पागल होकर घूम रहे थे और रीति के संकीर्ण घेरे के बाहर निकलने में असमर्थ थे। जिस देश की जिस काल में ऐसी साहित्यिक प्रगति होती है, वह देश उस काल में सामाजिक, राजनीतिक तथा नैतिक आदि सभी दृष्टियों से पतित हो जाता है। पर ऐसी अवस्था सदैव नहीं

रीति-धारा का अंत तथा आधुनिक काल का उदय

रहती, कुछ समय के उपरांत उच्च लक्ष्य से संपन्न साहित्यकारों के प्रसाद से उसकी दशा का सुधार और संस्कार हुआ करता है।

शृंगार काल के अंतिम चरण में पद्माकर से बढ़कर कोई कवि नहीं हुआ। उन्हें हम इस समय का प्रतिनिधि कवि मान सकते हैं। शृंगारिक कविता में अश्लीलता का समावेश करके, अनुप्रासों की भरमार करके और समस्या-पूर्ति की परंपरा का बीजारोपण करके उन्होंने जिस परिपाटी की पुष्टि की थी, आज भी वह थोड़ी-बहुत देखी जाती है। देहातों में कहीं चले जाइए, पद्माकर के सबसे अधिक कवित्त लोगों को कंठाग्र मिलेंगे, नव-सिखुए कवियों को उनका ही सहारा देख पड़ेगा और समस्या-पूर्तियों का प्रचलन भी खूब मिलेगा। अर्थालंकारों की ओर उतना ध्यान न भी हो, पर अनुप्रासों की योजना तो देहाती कवियों की विशेषता हो रही है। यह केवल एक श्रेणी के लोगों की बात है। जो लोग अभी सनातन परंपरा का पालन करते जा रहे हैं, जिन लोगों ने कविता को मनोरंजन और चमत्कार-प्रदर्शन का साधन बना लिया है, जिन्हें अब भी देहातों के बाहर निकल-कर प्रगतिशील समाज की कृतियों को देखने का अवसर नहीं मिला है और जो अब भी देश के कुछ कोनों में छिपे हुए विलासी रईसों से यथासमय थोड़ा बहुत झटक लेने के फेर में रहते हैं, उनके लिये कविता-कामिनी का वही रूप अब भी बना है जो भारतीय जन-समाज के उस अवनत युग में था। परंतु संतोष की बात इतनी ही है कि ऐसे लोगों की संख्या प्रतिदिन घटती ही जा रही है और अब साहित्यसंबंधी व्यापक और उच्च विचारों का प्रचार होने लगा है।

कुछ लोगों का कथन है कि हिंदी की शृंगार-परंपरा का अंत करके उसमें नवीन युग का आविर्भाव करनेवाले कारणों में सबसे

प्रधान कारण अँगरेजों का भारतवर्ष में आगमन है। उनके मत से अँगरेजों ने इस देश में आकर यहाँ के लोगों को शिक्षित किया और उन्हें देश-प्रेम करना सिखलाया। यहीं से देशप्रेम की भावना से समन्वित साहित्य की सृष्टि हुई। इस बात को हम दूसरे रूप में स्वीकार करते हैं। यह ठीक है कि अँगरेजी राज्य के भारतवर्ष में प्रतिष्ठित होने पर हमारे हृदयों में जाति-प्रेम, देश प्रेम आदि के भाव बढ़े; पर इसके लिये हम अँगरेजों के कृतज्ञ नहीं, उनकी कूटनीति के कृतज्ञ हों तो हों। विदेशी शासन के प्रतिष्ठित होने पर विजयी देश की रीति-नीति और आचार-व्यवहार की छाप विजित देश पर अवश्य पड़ती है, पर जब विजेता अपने साहित्य और धर्म का प्रच्छन्न या प्रकट रीति से प्रचार करता और विजित के साहित्य आदि को अनुन्नत बतलाता है, तब थोड़े समय के लिये उसकी यह प्रपंच-नीति भले ही सफल हो, पर जब उसकी पोल खुल जाती है और जब विजित देश अपने पूर्व-गौरव का स्मरण कर जाग उठता है तब सामाजिक, राजनीतिक, साहित्यिक आदि प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिघात की प्रबल लहरें उठने लगती हैं, जिसके सामने विदेशीय आक्रमणकारियों की प्रवंचना नहीं चल सकती। वह काल सर्वतोमुखी हलचल का होता है, क्योंकि उस काल में पराधीन देश अपनी संपूर्ण शक्ति से दासता की बेड़ियों को तोड़ फेंकने की चेष्टा करता है और रूढ़ियों के प्रतिकूल प्रबल आंदोलन करके सफलता प्राप्त करता है।

वास्तविक बात तो यह है कि कोई भी परिस्थिति सदा एक सी नहीं रहती। परिवर्तन में ही प्रगति और प्रगति में ही जीवन है, अतः सदा एक सी स्थिति में पड़े रहना तो बँधे हुए जल के समान किसी भी जाति के जीवन में आयु-नाशक विकार उत्पन्न कर

उसे मृत्यु की ओर ले जाने की सूचना देता है। इस कारण प्राकृतिक नियम के अनुसार ही कभी बाहरी आकस्मिक घटनाएँ और कभी भीतरी स्वाभाविक आवश्यकताएँ उपस्थित या उत्पन्न होकर स्थिर और विकृत परिस्थिति का अंत करके नवीन परिस्थिति को जन्म देती हैं। फिर तदुत्पन्न नवीन आकांक्षाएँ, आवश्यकताएँ, भाव तथा विचार जाति के हृदय को आन्दोलित कर देते हैं और वे स्वभावतः उस जाति के तत्कालीन साहित्य में भी उचित स्थान ग्रहण कर लेते हैं। हिंदी साहित्य के आरंभकाल में वीर कविता का प्रादुर्भाव जिस प्रकार देश की भीतरी राजनीतिक अव्यवस्था और बाह्य विदेशी आक्रमणों के कारण हुआ; मध्यकालीन भक्ति काव्य के मूल में जैसे शासक और पड़ोसी विदेशियों के अधिकाधिक संपर्क से उत्पन्न परिस्थिति तथा अपनी पूर्व संस्कृति के स्मरण द्वारा अपने उद्धार की बेचैनी दिखाई पड़ती है, और जिस प्रकार शृंगार काव्य की प्रत्येक पंक्ति में हम देश की तत्कालीन समृद्धि और विलास-वैभव से उत्पन्न आत्मविस्मरण का अद्भुत उदाहरण देख पाते हैं, ठीक उसी प्रकार बीसवीं शती के आरंभ में ही हिंदी साहित्य के आधुनिक काल का उदय भी अत्यंत स्वाभाविक कारणों से और अत्यंत स्वाभाविक परिस्थिति में हुआ। देश की अवस्था उस समय उस श्रांत और नशे में बेहोश धनवान् पथिक की सी थी जो बिना किसी प्रबल आघात के जाग नहीं सकता और जागने पर अपने को ठगा हुआ, लुटा हुआ, क्लांत और परवश पाता है। फिर अपनी बेबसी में खोकर वह घबराहट, बेचैनी और व्यथा से पागल होकर छटपटाता और अपने प्रयत्न को विफल पाता है। आपसी झगड़ों में फँसा हुआ और विलास से उन्मत्त देश जब समुद्र-पार के विदेशियों के चंगुल में भली भाँति जकड़ उठा, तब वह एक बार घोर व्यथा का

अनुभव कर छटपटा उठा। सं० १९१४ का विद्रोह उसी व्यथा का बाह्य रूप था। पर इस घटना से देश ने यह भी अच्छी तरह अनुभव कर लिया कि वह अपनी शक्ति को बुरी तरह खो चुका है और ऐसी अवस्था में इस प्रकार का प्रयत्न व्यर्थ और मूर्खतापूर्ण होगा। अब अपने को नवीन परिस्थिति के अनुकूल बनाने के अतिरिक्त जीने का दूसरा कोई उपाय शेष नहीं रह गया था अतः भारतीय जनता ने अपने नवीन शासकों से सहयोग करके अपनी स्थिति को सँभालने का भरसक प्रयत्न किया, जो धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि बहुमुखी आन्दोलनों के रूप में प्रकट हुआ। साहित्य भी अपने कर्तव्य में पीछे नहीं रहा, उसमें हम तत्कालीन मनोभावों का दर्शन स्पष्ट रूप में पाते हैं।

आधुनिक काल की विशेषताएँ

यद्यपि आधुनिक काल हिंदी साहित्य के सर्वतोमुख विकास का युग है, किंतु उसकी सबसे बड़ी विशेषता है गद्य साहित्य का विकास। इसके पूर्व के साहित्य में कालानुसार परिवर्तन होते आ रहे थे, पर उसमें प्रधानता पद्य ही की थी, गद्य साहित्य तो नगण्य था। आधुनिक काल गद्य की उन्नति के पूर्ण अनुकूल रहा और उसमें गद्य की धारा अनेक शाखाओं में होकर पूर्ण वेग से बही। इस कारण गद्य के विकास का उल्लेख पृथक् अध्याय में करना उचित होगा। यहाँ हम पद्य साहित्य पर ही विचार करेंगे।

यह हम देख चुके हैं कि रीति काल में काव्य की भाषा प्रधानतः व्रजभाषा थी और छंदों में सवैया, कवित्त, दोहे आदि की प्रधानता थी। नायक-नायिका के प्रेम का वर्णन मुख्य विषय था और अलंकारादि का प्रदर्शन कविता का उत्तम आदर्श। उस काल में कवियों ने कविता-कामिनी का सँवार-सिंगार अपने भरसक किया, परंतु उसमें चपल वार-वनिता का क्रीत विलास और कृत्रिम

शृंगार ही अधिक था, अभिजात कुलवधू की प्रकृत अंग-सुषमा और स्वाभाविक हृदय-सौंदर्य की बहुत कमी थी। आधुनिक काल में आरंभ से ही गद्य की भाषा तो निर्विवाद रूप से खड़ी बोली स्वीकृत हुई पर पद्य की भाषा परंपरानुसार ब्रजभाषा ही रही। यह अवश्य है कि नायिका-भेद और अलंकार ही कविता का विषय नहीं रहा, समय के अनुसार उसमें वर्तमान से असंतोष, समाज के उद्धार तथा देशभक्ति, भाषा-प्रेम आदि की आवाज ऊँची की गई। इससे नवीन विषयों के अनुसार ब्रजभाषा को भी अपनी गति बदलनी पड़ी। उसमें स्वाभाविकता अधिक आई। परंतु कविता की दृष्टि से यह कहना पड़ेगा कि यद्यपि भाषा अलंकारों के व्यर्थ भार से अपने को मुक्त कर चली पर वह पद्यात्मक निबंध ही लिखने में अधिक व्यस्त रही, सच्ची कविता का दर्शन कम हुआ। आगे चलकर भाषा का भी झगड़ा उपस्थित हो गया और कविता में भी ब्रजभाषा का स्थान खड़ी बोली लेने लगी। कुछ ऐसे भी प्रसिद्ध कवि हुए जिन्होंने दोनों भाषाओं में निपुणता के साथ रचनाएँ कीं परंतु अधिकतर लोगों ने किसी एक का पक्ष लेना ही अधिक उचित समझा। फलतः ब्रजभाषा ने अपने अस्तित्व और अधिकार को बनाये रखने का प्रबल प्रयत्न किया। परंतु समय की गति खड़ी बोली के साथ थी। खड़ी बोली में शीघ्र ही सुंदर और उच्च कोटि की रचनाएँ होने लगीं और उसने ब्रजभाषा को पीछे कर दिया। कविता के क्षेत्र में खड़ी बोली के आने के साथ साथ उसमें कुछ विशेष परिवर्तन दिखाई पड़ने लगे। पहले खड़ी बोली ने भी परंपरा के अनुसरण का ही पूर्ण प्रयत्न किया। दोहे, सवैये, कवित्त आदि में भी वह ढली, पर हरिगीतिका, चौबोला आदि उसके अधिक उपयुक्त पड़े। उर्दू छंदों में भी प्रयत्न हुए और संस्कृत वर्णवृत्तों में भी। अलंकार आदि का भी

सर्वथा त्याग नहीं हुआ। विषय पौराणिक, सामाजिक, ऐतिहासिक आदि रहे। परंतु अंत में कुछ कवियों को ये बंधन भी अरुचिकर लगे। उन्होंने काव्यगत रूढ़ियों से अपने को सर्वथा मुक्त करने का प्रयत्न किया। परंपरागत काव्यनियमों का, छंद, तुक, अलंकार आदि का त्याग कर उन्होंने स्वच्छंद मार्ग को अपनाया परंतु यह अवश्य मानना पड़ेगा कि ऐसे कवियों को कविता की भाषा का शब्दकोश, पद-लालित्य एवं व्यंजनाशक्ति बढ़ाने का बहुत बड़ा श्रेय प्राप्त है। खड़ी बोली को मँज-सँवरकर संस्कृत और शक्तिसंपन्न बनने में इनसे बहुत बड़ी सहायता मिली।

उक्त नवीन परिवर्तनों के साथ कविता में छायावाद या रहस्यवाद को भी स्थान मिला। इस काल की कविता की भाषा, शैली और विषयों के चुनाव आदि पर बँगला और अँगरेजी साहित्य का भी बहुत कुछ प्रभाव स्वीकार करना पड़ेगा। यद्यपि यह अनुकरण आरंभ में निराशाजनक प्रतीत होता था, पर कालांतर में स्वतंत्र प्रतिभा और मौलिकता के भी दिव्य दर्शन हुए तथा साहित्य ने अपनी परंपरागत संस्कृति से भी सजीव संबंध स्थापित किया। 'पुराण' को मथकर उसमें से भी 'नव' नवनीत निकाला गया जो निश्चय ही आधुनिक हिंदी काव्य की शक्ति और आयु को बढ़ानेवाला सिद्ध होगा। फिर भी देश तथा विदेश के राजनीतिक आन्दोलनों के फलस्वरूप वर्तमान जीवन के प्रति असंतोष की भावना बराबर जाग्रत् रही और कुछ कवियों ने तो काव्य में आधुनिक जीवन के प्रच्छन्न दर्शन अथवा झिलमिल झाँकी से संतुष्ट न रहकर उसका नग्न अभिनय दिखलाने में ही कविता की सार्थकता समझ ली। हम कविता का वर्तमान जीवन से भी संबंध उतना ही आवश्यक समझते हैं जितना भूत और भविष्य से, परंतु भूत और भविष्य को नानी की कहानी और स्वप्नजल्पना

कहकर केवल वर्तमान की ही पुकार करना और उससे भी तदात्मता न स्थापित कर केवल कुछ ऊपर से पढ़े-सुने सिद्धांतों की पुष्टि करना ही कविता के स्वाभाविक स्वरूप की प्रतिष्ठा के लिये पर्याप्त नहीं हो सकता। वर्तमान की आशा-आकांक्षा और उसके सुख-दुःख हमारी जीवित-जाग्रत समस्याएँ हैं। निश्चय ही रोटी, मजदूर और किसान की भी उपेक्षा करना काल का प्रतिगामी होना है, परंतु इसी दृष्टि से हमारी सम्मति में वर्तमान के कवि का कर्त्तव्य और भी कठिन और उत्तरदायित्वपूर्ण है। भूत के आधार और भविष्य के लक्ष्य को छोड़कर वह अपने उस कर्त्तव्य को पूरा नहीं करता। जब तक वह अपने देश और समाज के वास्तविक जीवन एवं संस्कृति के हृदय में पैठकर तथा उसके साथ स्वयं एकाकार होकर वर्तमान की समस्याओं में सचमुच घुल-मिल नहीं जाता, तब तक उसकी रचना में हम अनुभूति की वह सचाई और गहराई नहीं पा सकते, जो कविता का प्राण है। पर इस विषय में निराश होने का कोई कारण नहीं है। हमारी कविता का भविष्य उज्ज्वल है।

हिंदी की ह्रासकारिणी शृंगारिक कविता के प्रतिकूल आन्दोलन का श्रीगणेश उस दिन से समझा जाना चाहिए जिस दिन भारतेंदु

भारतेंदु हरिश्चंद्र

हरिश्चंद्र ने अपने "भारत-दुर्दशा" नाटक के प्रारंभ में समस्त देशवासियों को संबोधित करके देश की गिरी हुई अवस्था पर उन्हें आँसू बहाने को आमंत्रित किया था—

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हा ! हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई॥

इस देश के और यहाँ के साहित्य के इतिहास में वह दिन किसी अन्य महापुरुष के जयंती-दिवस से किसी प्रकार कम महत्त्व-

पूर्ण नहीं हो सकता। उस दिन शताब्दियों से सोते हुए साहित्य ने जागने का उपक्रम किया था, उस दिन रूढ़ियों की अनिष्टकर परंपरा के विरुद्ध प्रबल क्रांति की घोषणा हुई थी, उस दिन छिन्न भिन्न देश को एक सूत्र में बाँधने की शुभ भावना का उदय हुआ था, उस दिन देश और जाति के प्राण एक सत्कवि ने सच्चे जातीय जीवन की झलक दिखाई थी और उसी दिन संकीर्ण प्रांतीय मनोवृत्तियों का अंत करने के लिये स्वय सरस्वती ने राष्ट्र-भाषा के प्रतिनिधि कवि के कंठ में बैठकर एक राष्ट्रीय भावना उच्छ्वसित की थी। मुक्तकेशिनी, शुभ्रवसना, परवशा भारत-माता की करुणोज्ज्वल छवि देश ने और देश के साहित्य ने उसी दिन देखी थी और उसी दिन सुनी थी टूटी-फूटी शृंगारिक वीणा के बदले एक गंभीर झंकार, जिसे सुनते ही एक नवीन जीवन के उल्लास में वह नाच उठा था। वह दिवस निश्चय ही परम मंगलमय था; क्योंकि आज भी उसका स्मरण कर हम अपने को सौभाग्यशाली समझते हैं। यदि सच पूछा जाय तो उसी दिन से साहित्य में एक नवीन चेतना हुई और उसी दिन से उसके दिन फिरे। आज हम जिस साहित्यिक प्रगति पर गर्व करते हैं, उसका बीजारोपण इसी शुभ दिवस में हुआ था।

राजा राममोहन राय, स्वामी दयानंद, भारतेंदु हरिश्चंद्र आदि के उद्योग से सामाजिक, सांप्रदायिक, राजनीतिक तथा साहित्यिक क्षेत्रों में जो हलचल मची, उसके परिणाम-स्वरूप सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात हुई जनता में शिक्षा की अभिरुचि। संस्कृत तथा उर्दू-फारसी की ओर प्रवृत्ति करनेवाली प्रेरणा स्वामी दयानंद से अधिक मिली और हिंदी-अँगरेजी की पढ़ाई तो कुछ पहले से ही प्रारंभ हो चुकी थी। पड़ोस में होने के कारण उन्नतिशील बँगला भाषा की ओर भी कुछ लोगों का ध्यान लगभग उसी समय से

खिंचा। इस प्रबल शिक्षाप्रचार का जो प्रभाव राजनीतिक अभिज्ञता, सामाजिक जागर्ति और धार्मिक चेतना आदि के रूप में पड़ा, वह तो पड़ा ही, हिंदी साहित्य क्षेत्र भी उसके शुभ-परिणाम-स्वरूप अनंत उर्वर हो गया। सारा साहित्य नवीन प्रकाश से परिपूर्ण होकर ज्योति की शत सहस्र किरणें विकीर्ण करने लगा। हमारी कविता भी सजग हो उठी। वह अपनी स्थविरता का परित्याग कर आगे बढ़ी और सामयिक प्रवृत्तियों के अनुकूल रूप-रंग बदलकर शिक्षित जनता के साहचर्य में आ गई। स्वयं देवी सरस्वती ने अपने अलौकिक कर-स्पर्श से कविता-कामिनी को सुवर्णमयी बना दिया था। फिर भला भक्ति-गद्गद भाव से घर घर उसकी आरती क्यों न उतारी जाती, क्यों न उसकी यश-प्रशस्ति अमिट अक्षरों से हमारे हृदय-पटल पर अंकित कर दी जाती? उस काल की हिंदी कविता मुख्यत: देशप्रेम और जातीयता की भावना को लेकर उदित हुई थी, यद्यपि अन्य प्रकार की रचनाएँ भी थोड़ी बहुत होती रहती थीं।

भारतेंदु हरिश्चंद्र (सं० १९०७-१९४२) की कविता हिंदी में नवीन प्रगति की पताका लेकर आई थी। उस समय के अन्य कवियों ने सच्चे सैनिकों की भाँति अपने सेनापति का अनुगमन किया था। उन सभी कवियों पर भारतेंदु का प्रभाव स्पष्टत: देख पड़ता है। यहाँ हम हरिश्चंद्र की फुटकर रचनाओं की बात नहीं कहते जो चली आती हुई शृंगारिक कविता की श्रेणी की ही मानी जायँगी। उनकी जो रचनाएँ जातीय भावनाओं से प्रेरित होकर लिखी गईं, जिनमें देश की अवस्था और समाज की अवस्था आदि का वर्णन है, यहाँ उन्हीं का विवेचन अभीष्ट है। हम यह स्वीकार करते हैं कि भारतेंदु में उत्कट देश-प्रेम और प्रगाढ़ समाज-हितैषिता के भाव थे, परंतु साथ ही हम यह भी मान लेते हैं कि उनका

२४

देशानुराग, जातिप्रेम आदि बाह्य परिस्थितियों के फल-स्वरूप थे, उन्हें उन्होंने जीवन के प्रवाह के भीतर से नहीं देखा था। अनेक अवसरों पर तो उन्होंने राजा शिवप्रसाद आदि के विरोध में स्वदेशप्रेम का व्रत धारण किया था। इसी कारण उनकी तत्संबंधिनी रचनाएँ विशेष तन्मयता की सूचना नहीं देतीं, कहीं कहीं तो बँगला आदि के अनुवादों के रूप में ही व्यक्त हुई हैं। क्षणिक परिस्थितियों के आधार पर निर्मित साहित्य के मूल में भावना की वह तीव्रता और स्थिरता नहीं होती जो स्थायी साहित्य के लिये अपेक्षित है। राज-नीति और समाजनीति को जीवन के अविच्छिन्न अंग बनाकर जो रचनाएँ होंगी, काव्य की दृष्टि से उनका ही महत्त्व होगा, उन्हें प्रचारक या उपदेशक की दृष्टि से देखने से कविकर्म में अवश्य बाधा पड़ेगी।

प्राकृतिक वर्णनों की जो परिपाटी रीति ग्रंथकारों ने चला रखी थी, वह बहुत अधिक संकुचित थी। कवियों ने प्रकृति के नाना रूपों को विविध अलंकारों की योजना के लिये ही रख छोड़ा था, वे भावों का आलंबन न बनकर उद्दीपन मात्र रह गए थे। वाल्मीकि रामायण के वर्षा और शरद्‌ऋतु के वर्णनों में प्रकृति के विविध दृश्य जिस संश्लिष्ट रूप में खींचे गए हैं, उससे कवि का सूक्ष्म निरीक्षण तो भासित होता ही है साथ ही उसका प्रकृति के प्रति निसर्गसिद्ध अनुराग भी लक्षित होता है। उन वर्णनों में प्रकृति आलंबन है और कवि आश्रय। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की सिद्धि के लिये अलंकार-वस्तुओं का उल्लेखमात्र करनेवाले कवियों और प्रकृति को सजीव सत्ता मानकर उससे अंतःकरण की आत्मीयता स्थापित करनेवाले कवियों में बड़ा अंतर होता है। भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रकृति-वर्णन यद्यपि विविध वस्तुओं की योजना की दृष्टि से रीतिकाल के कवियों से अधिक सुंदर और

हृदयग्राही हुआ है; पर उसके साथ उनके भावों का संबंध विशेष गहन और अविच्छिन्न नहीं जान पड़ता। हरिश्चंद्र स्वयं नागरिक थे, प्रकृति की मुक्त विभूति का जो अनंत प्रसार नगरों के बाहर व्याप्त है, उसका साक्षात्कार उन्होंने कम किया था। इसके अतिरिक्त वे समाज-सुधारक आदि भी थे, जिसके कारण उन्हें अपनी दृष्टि मनुष्य के बनाए हुए सामाजिक घेरे में ही रख छोड़ने को बाध्य होना पड़ा था।

परंतु हिंदी कविता के उस परिवर्तनकाल में हरिश्चंद्र जैसे महान् व्यक्ति को देखकर हम चकित हुए विना नहीं रह सकते। यह ठीक है कि शुद्ध काव्य-समीक्षा की दृष्टि से उनकी रचनाएँ सूर और तुलसी की कोटि को नहीं पहुँचतीं, और यह भी ठीक है कि कबीर, जायसी आदि कवियों की वाणी की समता भी वे नहीं कर सकते; पर इससे उनका महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। रीति-कविता की शताब्दियों से चली आती हुई गंदी गली से निकल शुद्ध वायु में विचरण करने का श्रेय हरिश्चंद्र को पूरा पूरा प्राप्त है। वे और उनके साथी बड़े ही सहृदय व्यक्ति थे जिन्हें अपनी धुन में मस्त रहना आता था। मौलिक साहित्यकारों में हरिश्चंद्र का स्थान हिंदी में बराबर ऊँचा रहेगा। वे प्रेमी जीव थे, पर उनका देश-प्रेम भी अतिशय प्रबल था। यह स्वीकार करते हुए भी कि व्यापकता और स्थायित्व की दृष्टि से विशेष उत्कृष्ट श्रेणी के साहित्य की उन्होंने सृष्टि नहीं की, हमको यह मानना पड़ेगा कि मुक्तक रचना में जातीयता के भावों को सफलतापूर्वक भरकर उन्होंने हिंदी कविता का अपार उपकार किया। भारतेंदु हरिश्चंद्र का वास्तविक महत्त्व परिवर्तन उपस्थित करने में और साहित्य को शुद्ध मार्ग से ले चलने में है, उच्च कोटि की काव्य-रचना करने में उतना नहीं है। परिवर्तन उपस्थित करने का

महत्त्व कितना अधिक होता है और इस दृष्टि से हरिश्चंद्र का स्थान हिंदी-साहित्य में कितना ऊँचा है इसका अनुमान हम तभी कर सकेंगे जब उनके पीछे की साहित्यिक प्रगति में हम उनके प्रभाव का साक्षात्कार करेंगे और उनके समसामयिक सभी कवियों में उनकी अमिट छाप देखेंगे। शृंगारिक कविता की प्रबल वेग से बहती हुई जिस धारा का अवरोध करने में हिंदी के प्रसिद्ध वीर कवि भूषण समर्थ नहीं हुए थे, भारतेंदु उसमें पूर्णतः सफल हुए। इससे भी उनके उच्च पद का पता लग सकता है।

भारतेंदु ने अपने नाटकों में प्रसंगानुसार जो कविताएँ लिखीं उनके अतिरिक्त उन्होंने स्फुट रचनाएँ बहुत बड़ी संख्या में कीं जिनमें प्रायः सभी सामयिक विषयों पर उन्होंने कुछ न कुछ कहा। क़विसमाज के लिये वे समस्यापूर्तियाँ भी किया करते थे। राज-भक्ति संबंधिनी भी कई कविताएँ उन्होंने लिखीं, पर देशभक्ति और भाषा-प्रेम को वे कहीं नहीं भूलते थे। राजा या राजपुरुषों की प्रशंसा करते हुए भी वे भारत माता की करुणकथा अवश्य सुना जाते थे। ब्रिटिश राजकुमार के स्वागतोत्सव का वर्णन करते हुए वे भारत-जननी से प्रार्थना करते हैं—

मति रोओ रोओ न तुम, जननी व्याकुल होय।
उठहु उठहु धीरज धरहु, लेहु कुँवर मुख जोय॥

तब दुःखिनी भारत माता राजकुमार से इस प्रकार कहती है—

सुनत सेज तजि भारत माई। उठी तुरंतहि जिय अकुलाई॥
निबिड़ केस दोउ कर निरुआरी। पीत बदन की कांति पसारी॥
भरे नेत्र अँसुवन जलधारा। लै उसास यह वचन उचारा॥

× × × ×

अतिहिं अकिंचन भारतवासा। अतिहि छीन हिंदुन की आसा॥
भूलि ब्रिटिश बल धारि सनेहू। भारत सुतन गोद करि लेहू॥

कहि कृष्ण इन्हैं मति तुच्छ करौ । नहिं कीटहुँ तुच्छ विचार धरौ ।।
इनहूँ कहँ जीवन देह दया । इनहूँ कहँ ज्ञान सनेह मया ।।

इत्यादि । युवराज के स्वागतार्थ अमीरों और राजा-नवाबों को ललकारने में और एक करुण व्यंग और प्रच्छन्न भर्त्सना स्पष्ट सुनाई पड़ती है—

कहाँ सबै राजा कुँअर, और अमीर नवाब ।
आज राजदरबार में, हाजिर होहु सिताब ।।
परम मोक्ष फल राजपद, परसन जीवन मांहि ।
बृटन देवता राजसुत-पद, परसहु चित चाहि ।।
कित हुलकर कित सेंधिया, कित बेगम भूपाल ।
कित काशीपति कित रहे सिक्खराज पटियाल ।।
कित लायल ईजानगर, मानी नृप मेवार ।
कितै जोधपुर जैपुरी, त्रावंकोर कछार ।।
गले बाँधि इस्टार सब, जटित हीरमनि कोर ।
धावहु धावहु दौरि कै, कलकत्ता की ओर ।।

हिंदी के लिये भारतेंदु के मन में क्या भाव थे यह उनके हिंदी की उन्नति पर दिए गए व्याख्यान से भली भाँति प्रकट है । 'ग्रीषमै प्यारे हिमंत बनाइए' समस्या की पूर्ति करते हुए वे अपने उद्गार किस प्रकार प्रकट करते हैं—

भोज मरे अरु विक्रमहू किनको अब रोइकै काव्य सुनाइए ।
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रंथन नीर डुबाइए ।।
राजा भए सब स्वारथ पीन अमीरहू हीन किन्हैं दरसाइए ।
नाहक देनी समस्या अबै यह गीषमै प्यारे हिमंत बनाइए ।।

देश और समाज की बुराइयों को जहाँ भी अवसर पाते थे, अवश्य प्रकट करते थे । खुसरो के समान उन्होंने कहमुकरियाँ

भी लिखी हैं जिनमें अँगरेजी, ग्रेजुएट, पुलिस, चुंगी आदि पर व्यंग किया है--

धन लेकर कुछ काम न आवै । ऊँची नीची राह दिखावै ॥
समय पड़े पर साधै गुंगी । क्यों सखि साजन नहिं सखि चुंगी ॥
तीन बुलाए तेरह आवैं । निज निज बिपता रोइ सुनावैं ॥
आँखौ फूटे भरा न पेट । क्यों सखि साजन नहीं ग्रेजुएट ॥

परंतु इन सब सामयिक विषयों के अतिरिक्त भारतेंदुजी के भक्ति और शृंगार रस के सवैये, कवित्त और गेय पद बहुत बड़ी संख्या में हैं जो कविता की पुरानी परंपरा के अंतर्गत आते हैं। पर उनमें सजीवता है, भावों की सचाई है। उनकी विरह-व्यंजना में घनानंद की सी कसक पाई जाती है--

आजु लौं जौ न मिले तो कहा हम तो तुम्हरे सब भाँति कहावैं ।
मेरो उराहनो है कछु नाहिं सबै फल आपने भाग को पावैं ॥
जो हरिचंद भई सो भई अब प्रान चले चहैं तासों सुनावैं ।
प्यारे जू है जग की यह रीति बिदा के समै सब कंठ लगावैं ॥

इन दुखियान को न चैन सपनेहू मिल्यो
तासों सदा व्याकुल विकल अकुलायँगी ।
प्यारे "हरिचंद जू" की बीती जानि औधि प्रान
चाहत चले पै ये तो संग ना समायँगी ॥
देख्यो एक बार हू न नैन भरि तोहिं यातें
जौन जौन लोक जैहैं तहाँ पछितायँगी ।
बिना प्राण प्यारे भए दरस तुम्हारे हाय
मरे हू पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी ॥

जैसा पहले कहा जा चुका है, भारतेंदु प्रकृति के कवि नहीं थे। प्राकृतिक दृश्यों से दूर रहने के कारण उधर उनका ध्यान ही न था। इसका पता इसी बात से चल जाता है कि जहाँ कहीं उन्होंने

प्राकृतिक दृश्य का वर्णन किया भी है वहाँ उनकी दृष्टि रह रहकर मानवीय जगत् की ओर लौट आती है। उदाहरण के लिये उनका गंगा और यमुना वर्णन प्रसिद्ध है।

हरिश्चंद्र के समकालीन व्यक्ति

हरिश्चंद्र के उपरांत हिंदी के कवियों की प्रवृत्ति अँगरेजी की लीरिक कविता के अनुकरण में छोटे छोटे गेय पद बनाने और उन्हें पत्रों में प्रकाशित करने की ओर हुई। लीरिक कविता में आत्माभिव्यंजन की प्रधानता रहनी चाहिए; पर हिंदी के तत्कालीन कविताकारों में यह बात कम देखी जाती है। न तो विषयों के उपयुक्त चुनाव की दृष्टि से और न तन्मयता की दृष्टि से उनकी रचनाएँ श्रेष्ठ लीरिक कविताओं में गिनी जा सकती हैं। यह स्पष्ट जान पड़ता है कि शिक्षा आदि विषयों पर कविता लिखनेवाले व्यक्ति में काव्य की सच्ची प्रेरणा कम होती है, निबंध-रचना का भाव अधिक होता है। हिंदी के उस काल के कवियों ने ऐसे ही विषयों पर कविता की, जिससे जन-समाज में जागर्ति तो फैली, पर कविता का विशेष कल्याण न हो सका। काव्य के लिये निबंधों की सी बुद्धिगम्य विचारप्रणाली की आवश्यकता नहीं होती, भावों को उच्छ्वसित करना आवश्यक होता है। अनेक प्रमाणों को एकत्र कर पद्य का ढाँचा खड़ा करना कविता नहीं है, और चाहे जो कुछ हो। उस काल की हिंदी कविता में समाजसुधार और जातीयता का इतना दृढ़ प्रभाव पड़ चुका था कि उनके प्रभाव से मुक्त होकर रचना करना किसी कवि के लिये संभव नहीं था।

अब तक ब्रजभाषा ही कविता का माध्यम थी और कवित्त सवैया आदि छंदों का ही अधिक प्रयोग होता था। पर इस समय के लगभग भाषा के माध्यम में परिवर्तन किया गया। ब्रजभाषा के बदले खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा। इस समय तक खड़ी

बोली हिंदी गद्य की प्रचलित भाषा हो चुकी थी, पर पद्य में अपनी कोमलता और सौंदर्य के कारण ब्रजभाषा ही व्यवहार में लाई जा रही थी। खड़ी बोली के पक्षपातियों का सबसे बड़ा तर्क यही था कि बोलचाल की जो भाषा हो उससे विभिन्न भाषा का प्रयोग कविता में न होना चाहिए। यहाँ हम इस तर्क की उपयुक्तता पर कुछ भी नहीं कहेंगे। पर पढ़ी-लिखी जनता की प्रवृत्ति खड़ी बोली की ओर अधिक हो रही थी. इसमें संदेह नहीं। छंदों में भी अनेकरूपता आने लगी थी। नए नए छंदों का इस काल में अच्छा आविष्कार हुआ। परंतु इस काल की सबसे महत्त्वपूर्ण बात है व्याकरण की प्रतिष्ठा। भारतेंदु हरिश्चंद्र के समसामयिक कवियों को जो मार्ग प्रशस्त करना था, उसमें व्याकरण के जटिल नियमों को स्थान नहीं दिया जा सकता था। हिंदी के उस क्रांति-युग में व्याकरण की व्यवस्था संभव भी नहीं थी। उस समय तो कविता को रीति की संकीर्णता से निकालना था, उसे खुली हवा में लाकर स्वस्थ करना था. पर कुछ काल के उपरांत जब हिंदी गद्य कुछ उन्नत हुआ तब भाषा-संस्कार आदि की ओर ध्यान दिया गया। यह सब होते हुए भी हमको इतना तो अवश्य स्वीकृत करना पड़ेगा कि उस काल की खड़ी बोली बड़ी कर्कशता लेकर आई थी, उसमें काव्योपयुक्त कोमलता नहीं थी। परंतु कर्कशता में कोमलता का समावेश करने और व्याकरण के नियमों से भाषा को शृंखलित करने की चेष्टा उस काल में अवश्य हुई थी।

पंडित श्रीधर पाठक (सं० १९१६-१९८५) और पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी (सं० १९२१-१९९५) खड़ी बोली की कविता के प्रथम लेखक और आचार्य हुए। पाठकजी ने गोल्डस्मिथ की कवितापुस्तकों का अनुवाद "ऊजड़ गाँव", "एकांतवासी योगी" और "श्रांत

पथिक" के नाम से किया और मौलिक कविताएँ भी कीं। द्विवेदीजी ने मराठी साहित्य की प्रगति से परिचित होकर हिंदी की सर्वश्रेष्ठ मासिक पत्रिका सरस्वती में छोटी छोटी रचनाएँ कीं और अनेक कवियों को प्रोत्साहन दिया। यदि पाठकजी में कवित्व द्विवेदीजी से अधिक है तो द्विवेदीजी में भाषा का मार्जन पाठकजी की अपेक्षा अधिक है। उस समय खड़ी बोली का जो अनिश्चित रूप प्रचलित था उसे सुधारकर काव्योपयुक्त बनाने की चेष्टा करने के कारण द्विवेदीजी का स्थान अधिक महत्त्वपूर्ण समझा जायगा। परंतु मराठी कविता की कर्कशता द्विवेदीजी की रचनाओं में भी देख पड़ी। कुछ काल उपरांत द्विवेदीजी ने कुमारसंभव आदि संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद कविता में किए, जो अपने ढंग के अनुपम हुए। पाठकजी ने ब्रजभाषा का पल्ला भी पकड़ा और बड़ी ही मधुर कविता का सृजन किया। द्विवेदीजी के अनुयायियों में आगे चलकर अनेक प्रसिद्ध कवि हुए, जिनमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त सबसे अधिक यशस्वी हैं। पाठकजी को प्रकृति की रम्य क्रीड़ाभूमि काश्मीर में तथा अन्य मनोहर पहाड़ी प्रदेशों में रहने का सुअवसर मिला था, जिसके फल-स्वरूप उनके रसिक हृदय ने प्राकृतिक दृश्यों के साथ आंतरिक अनुराग प्राप्त कर लिया था। इस अनुराग की स्पष्ट झलक उनकी रचनाओं में देख पड़ती है। उनका कश्मीर-सुषमा का वर्णन देखिए –

पाठकजी और द्विवेदीजी

प्रकृति यहाँ एकांत बैठि निज रूप सँवारति।
पल पल पलटति भेस छनिक छवि छिन छिन धारति॥
विमल अंबु सर मुकुरन्ह महँ मुखबिंब निहारति।
अपनी छवि पै मोहि आपुही तन मन वारति॥

× × × ×

चहुँ दिसि हिमगिरिसिखर हीरमनि मौलि अवलि मनु।
स्रवत सरित सित धार द्रवत सोइ चंद्रहार जनु॥
फल फूलन छबि छटा छई जो वन उपवन की।
उदित भई मनु अवनि उदर ते निधि रतनन की॥
तुहिन सिखर सरिता सर विपिनन की मिलि सो छबि।
छई मंडलाकार रही चारहुँ दिसि यों फबि॥
मानहुँ मनिमय मौलिमाल आकृति अलबेली।
बाँधी विधि अनमोल गोल भारत सिर सेली॥

इनकी खड़ी बोली की रचना भी बड़ी सरल और सरस होती थी—

बिजन वन प्रांत था प्रकृति मुख शांत था,
अटन का समय था रजनि का उदय था।
प्रसव के काल की लालिमा में लसा,
बालशशि व्योम की ओर था आ रहा।
सद्य उत्फुल्ल अरविंद नभ नील सुवि-
शाल नभ-वक्ष पर जा रहा था चढ़ा॥

उपाध्यायजी और नाथूरामजी

पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय (सं० जन्म १९१२ वि०) और पंडित नाथूराम शंकर शर्मा (सं० १९१६-१९८९) हिंदी के उन प्रसिद्ध कवियों में हैं जिन्होंने द्विवेदीजी के प्रभाव के बाहर रहकर काव्य-रचना की। अपने प्रारंभिक कविताकाल में उपाध्यायजी ब्रजभाषा में कविता करते थे; पर आगे चलकर उन्होंने संस्कृत पदावली का आश्रय लेकर संस्कृत वृत्तों में प्रियप्रवास की रचना की। प्रियप्रवास में उपाध्यायजी की कवित्वशक्ति बड़ी सुंदर देख पड़ी थी और उसके कुछ स्थलों में काव्यत्व उच्च कोटि का मिलता था, जिसे देखकर उनके उज्ज्वल भविष्य की कल्पना की गई थी, परंतु प्रियप्रवास की रचना के

उपरांत उन्हें काव्य में मुहावरों का चमत्कार दिखाने तथा उपदेशों और व्यंग्यों द्वारा समाजसुधार करने की धुन सवार हुई। कवि न बनकर वे समाजसुधारक, उपदेशक और मुहावरों के संग्रहकार बन गए। यह ठीक है कि उनकी ढेर की ढेर रचनाओं में कुछ छोटी छोटी कृतियाँ अंतःकरण की अकृत्रिम प्रेरणा से लिखी जाने के कारण अच्छी बन पड़ी हैं, पर अधिकांश कविताएँ बनावटी और परिश्रमपूर्वक गढ़ी हुई जान पड़ती हैं। प्रियप्रवास में भी संस्कृत छंदों का आश्रय लेने के कारण उनको भाषा और उसके व्याकरण की तोड़-मरोड़ करनी पड़ी है। इससे प्रसाद गुण का अभाव हो गया है। इधर वैदेही-वनवास की रचना उन्होंने पूर्व-प्रणाली पर की है जो उत्तम कोटि का काव्य हुआ है। अब यदि उपाध्यायजी कविता के उच्च लक्ष्य की ओर ध्यान देकर प्रिय-प्रवास और वैदेही वनवास की ओर फिरें तो उनसे हिंदी का गौरव बढ़ सकता है। यह प्रायः देखा जाता है कि प्रौढ़ता की ओर अग्रसर होते हुए लेखक या कवि में भावों की प्रचुरता तथा शब्दों की संकीर्णता हो जाती है। इसके कहने का यह तात्पर्य है कि थोड़े थोड़े शब्दों में गूढ़ से गूढ़ भावों का व्यंजन किया जाता है। उपाध्यायजी इस नियम के अपवाद देख पड़ते हैं।

प्रियप्रवास की कुछ पंक्तियाँ उनकी रचना के उदाहरणार्थ यहाँ उद्धृत की जाती हैं—

> चंद्रोज्ज्वला, रजतपत्रवती, मनोज्ञा,
> शांता, नितांत सरसा, सुपियूषसिक्ता।
> शुभ्रांगिनी, सुपवना, सुजला, सुकूला,
> सत्पुष्पसौरभवती वनमेदिनी थी॥

× × × ×

ऐसी अलौकिक अपूर्व वसुंधरा में
ऐसे मनोरम अलंकृत काल को पा।
वंशी अचानक बजी अति ही रसीली
आनंदकंद व्रजगोपगणाग्रणी की॥

× × × ×

आँखों अनूप छवि है जिसने विलोकी
वंशी-निनाद मन दे जिसने सुना है,
देखा विहार इस यामिनि में जिन्होंने
कैसे मुकुंद उनके उर से कढ़ेंगे?

× × × ×

कुंजें वही, थल वही, यमुना वही है
बेलें वही, वन वही, विटपी वही है।
हैं पुष्प पल्लव वही, व्रज भी वही है
ए किंतु श्याम बिन हैं न वही जनाते॥

पंडित नाथूराम शर्मा विलक्षण शब्दनिर्माता और कवि थे। आर्यसमाजी होते हुए भी उनकी सब कविताएँ सांप्रदायिक नहीं हो गई हैं और कुछ में तो उत्तम कोटि के कवित्व की झलक मिलती है। शृंगार-रस के पद्माकरी कवियों की भाँति भी इन्होंने कुछ कविताएँ कीं, पर वे उनके योग्य नहीं कही जा सकतीं।

मैथिलीशरणजी गुप्त

बाबू मैथिलीशरण गुप्त (जन्म सं० १९४३ वि०) आधुनिक खड़ी बोली के सबसे प्रसिद्ध और प्रतिनिधि कवि हैं। पंडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी के प्रभाव में रहकर उन्होंने अपनी भाषा का बड़ा ही सुंदर और परिमार्जित रूप खड़ा किया। द्विवेदीजी की ही भाँति उनकी भाषा में संस्कृत का पुट रहता है पर "प्रियप्रवास" की भाँति वह अतिशय संस्कृतगर्भित नहीं होती। उर्दू के बहुत ही थोड़े शब्दों को ग्रहण करने के कारण वे पंडित

गयाप्रसाद "सनेही" जी की उर्दूमिश्रित कविताशैली से भी विभिन्न रूप में हमारे सामने आते हैं। भाषा की दृष्टि से उनका मध्यम मार्ग ही कहा जायगा। उनकी पहली रचना भारत-भारती अब भी अनेक देशप्रेमी नवयुवकों का कंठहार हो रही है और कितने नवसिखुए कवि अब भी उसका अनुकरण करते देखे जाते हैं।

मानस-भवन में आर्य जन जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी भारती॥

कवि की इस अभिलाषा के अनुसार ही उसकी भारत-भारती देश भर में खूब गूँजी। पर काव्य की दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व नहीं है। काव्य की दृष्टि से उनका जयद्रथवध खंड-काव्य उत्कृष्ट हुआ है। उसमें वीररस का पूर्ण परिपाक और बीच बीच में करुणरस के सुंदर छींटे देखकर मन रसमग्न हो जाता है। अपनी "हिंदू" शीर्षक कविता-पुस्तक में गुप्तजी उपदेशक बनकर "गीता" का अनुकरण करते देखे जाते हैं; पर सामयिक प्रवाह में पड़कर ऐसी कविता की सृष्टि करने के लिये हम उन्हें दोष नहीं दे सकते। आधुनिक रचनाओं में पंचवटी सर्वश्रेष्ठ है। उसमें लक्ष्मण का चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल चित्रित हुआ है और पूरी पुस्तक में सुंदर पद्यों की अनोखी छटा देख पड़ती है। मैथिलीशरण गुप्तजी ने 'साकेत', 'यशोधरा' और 'द्वापर' नामक काव्यों की भी रचना की है। साकेत महाकाव्य है। उसमें साकेत (अयोध्या) को केंद्र बनाकर रामकथा का वर्णन किया गया है। कवि राम-लक्ष्मण-सीता के साथ वन नहीं जाता; भरत, शत्रुघ्न, मांडवी, श्रुतिकीर्ति, उर्मिला आदि के साथ अयोध्या ही का वर्णन करना अपना उद्देश्य बनाता है। विशेषतया उर्मिला के चरित्र से कवि अधिक अपनाव दिखलाता है। इस महाकाव्य में स्थल-स्थल पर कवि की प्रतिभा खूब चमकी है। किंतु अधिकांश स्थल, विशेषकर आरंभ के, शिथिल और शुष्क हैं।

फिर भी इसमें संदेह नहीं कि यह ग्रंथ आधुनिक कवियों में उन्हें उच्च आसन प्रदान करता है। इस ग्रंथ में नंदिग्राम के मंदिर में राम के प्रत्यावर्तन की प्रतीक्षा करते हुए भरत का चित्र देखिए—

उटज अजिर में पूज्य पुजारी उदासीन सा बैठा है।
आप देवविग्रह-मंदिर से निकल लीन सा बैठा है॥
मिले भरत में राम हमें तो मिलें भरत को राम कभी।
वही रूप है, वही रंग है, वही जटाएँ वही सभी॥
बाईं ओर धनुष की शोभा दाईं ओर निषंग-छटा।
वाम पाणि में प्रत्यंचा है पर दक्षिण में एक जटा॥
आठ मास चातक जीता है अपने घन का ध्यान किए।
आशा कर निज घनश्याम की हमने बरसों बिता दिए॥

लक्ष्मण के वन से लौट आने की उमंग में सखी उर्मिला का शृंगार करने चलती है। तब वह कहती है—

हाय सखी शृंगार मुझे अब भी सोहेंगे?
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे?
मैंने जो वह दग्धवर्तिका चित्र लिखा है,
तू क्या उसमें आज उठाने चली शिखा है?
नहीं नहीं प्राणेश मुझी से छले न जावें,
जैसी हूँ मैं नाथ मुझे वैसा ही पावें।
शूर्पणखा मैं नहीं—हाय, तू तो रोती है।
अरी, हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है॥

यशोधरा में बुद्ध-वैराग्य के बाद यशोधरा का वर्णन है। यह करुण रस का सुंदर काव्य है, किंतु स्थल स्थल पर व्यर्थ के वाग्विस्तार ने काव्य के प्रभाव को क्षीण कर दिया है। द्वापर नए ढंग का काव्य है जिसमें कृष्ण-कथा से संबंध रखनेवाले पात्र अपने अपने मुँह से

एक प्रकार से अपनी अपनी जीवन-कथा कहते हैं। ढंग सर्वथा मौलिक है और गुप्तजी की उपज को सिद्ध करता है। गुप्तजी का आधुनिक समय का प्रतिनिधि कवि होना इसी बात से सिद्ध होता है कि उनकी छायावाद के ढँग की रचनाएँ भी उस श्रेणी के कवियों की प्रशंसा पा चुकी हैं। गुप्तजी की कविता में कहीं कृत्रिमता नहीं देख पड़ती परंतु इसमें भी संदेह नहीं कि उनका अधिकांश काव्य पद्यमय गद्य है। इन्होंने बँगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त के "मेघनादवध", "वीरांगना", "विरहिणी व्रजांगना" तथा नवीनचंद्र सेन के "पलासीर युद्ध" का भी हिंदी में अनुवाद किया है। इन अनुवादों में गुप्तजी को अद्भुत सफलता मिली है। इनसे उनकी विलक्षण क्षमता का पता तो चलता ही है, खड़ी बोली की भी शब्दशक्ति प्रकट होती है। इनके अनुवादों में अनुवाद का नहीं मौलिक रचना का स्वाद मिलता है—

शिखिनि ! विरसवदना हो बैठी तरु-शाखा पर तू कैसे ?
तेरे प्राण न देख श्याम को रोते हैं क्या मुझ जैसे ?
तू भी है दुखिया क्या, आहा ! उन पर कौन नहीं मरता ?
किसे नहीं शशि शीतल करता, किसका हृदय नहीं हरता ?

(विरहिणी व्रजांगना)

पंडित गयाप्रसाद शुक्ल सनेही (जन्म सं० १९४० वि०) और लाला भगवानदीन की कविता (सं० १९२३-१९८७) उर्दू मिली भाषा में है। दोनों ही राष्ट्रीयता के भाव लेकर आए और दोनों की रचनाएँ ओजस्विनी हुईं। अंतर इतना ही है कि सनेहीजी ने आधुनिक समाज को अपनी कविता का लक्ष्य बनाया और दीनजी महाराणा प्रताप, शिवाजी आदि वीर नृपतियों की प्रशस्तियाँ लिखने में लगे रहे। राष्ट्रीय कवियों को साहित्य की

सनेहीजी और दीनजी

क्लिष्ट भाषा लेकर नहीं चलना पड़ता, उन्हें तो जनता की प्रचलित भाषा का आश्रय लेना पड़ता है। इस दृष्टि से सनेहीजी और और दीनजी दोनों ने ही भाषा का उपयुक्त चुनाव किया है। दोनों की भाषा सरल बोलचाल की खड़ी बोली है और दोनों ने उर्दू छंदों का भी प्रयोग किया है, पर दोनों में ओज और रसात्मकता पूरी है।

सनेही—

या भारती तुम्हारा चलन देख देखकर,
नव नायिका से नित्य लगन देख देखकर,
परकीया में लगा हुआ मन देख देखकर,
उजड़ा हुआ स्वदेश का वन देख देखकर,
आकुल अजस्र धार से आँसू बहा रही।
होकर अधीर धैर्य-भवन है ढहा रही॥

दीन—

परताप य सुन मान की अभिमान भरी बात।
वीरों की तरह मान को दी बात की इक लात॥
जिस बात से बस मान भी जिच खाके हुए मात।
दिखलाते बनी और अधिक कुछ न करामात॥
गंभीर सी आवाज में राना ने कहा यों।
जो करके दिखाना व कहते हो भला क्यों?

सनेहीजी की कुछ शृंगारिक रचनाएँ अच्छी नहीं हुई हैं, पर वे उनकी प्रारंभिक कृतियाँ हैं।

राष्ट्रीय कवियों को पूरी सफलता तभी मिल सकती है जब वे राष्ट्रीय आंदोलन में स्वयं सम्मिलित हों और उत्साहपूर्वक जनता को मुक्ति का पथ दिखलावे। चंद, भूषण आदि वीर कवियों ने ऐसा ही किया था। हिंदी के आधुनिक राष्ट्रीय कवियों में

पंडित माखनलाल चतुर्वेदी (जन्म सं० १९४५ वि०) और पंडित बालकृष्ण शर्मा (जन्म सं० १९५४ वि०) का कार्य इस दृष्टि से प्रशंसनीय कहा जायगा।

शुक्लजी

पंडित रामचंद्र शुक्ल (सं० १९४१—१९९८) की प्रसिद्धि उत्कृष्ट गद्यलेखक और समलोचक की दृष्टि से है, उनकी कविताएँ उन्हें अधिक सम्मानित नहीं कर सकी हैं। बुद्धचरित के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाएँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं, संगृहीत नहीं हुई हैं। शुक्लजी हिंदी के विद्वान् और दार्शनिक आलोचक हैं, परंतु उनकी सहृदयता भी विशेष उल्लेखनीय है। वन्य प्रकृति के उजाड़ और सूने स्वरूप के प्रति भी उनका जितना अनुराग है उतना बागीचों में खिले हुए गुलाब के फूल के प्रति नहीं। सौंदर्य को बड़े ही व्यापक रूप में देखने की अंतर्दृष्टि हिंदी में शुक्लजी को मिली है। उनके प्राकृतिक वर्णन बुद्धचरित के सर्वश्रेष्ठ अंश हैं। उनसे उनका सूक्ष्म निरीक्षण प्रतिभासित होता है। "हृदय के मधुर भार" शीर्षक उनके फुटकर पद्यों में कहीं व्यंग्य और कहीं मीठी चुटकियों के द्वारा मानव-समाज की अज्ञता, दुर्बलता और अहंकारिता का नग्न रूप दिखाया गया है। यथा—

देखते हैं श्वान एक धूप में है खड़ा आगे,
आश्रय के हेतु जिसे वृक्ष ने बुलाया है।
साहस न होता उसे छाया में बढ़ाए पैर,
जहाँ क्रूर आसन मनुष्य ने जमाया है॥
पूँछ में विनीत वीज्यमान प्रेम व्यंजना है,
लगी दीन दृष्टि लटी लोममयी काया है।
एक दुतकार को दबाती चुचकारें वहीं,
यहाँ जगी प्रीति वहाँ भगी भीति छाया है॥

पूँछ को हिलाता चुपचाप वह आया चला,
बैठ गया सारा डील डाल वहीं हार के।
हाँफता है खोले मुँह विरल धवल दंत
बीच लंबी लाल जीभ बाहर पसार के॥
ऊपर को मुँह किए ताकता हमें कभी,
नीचे दबा भाषाहीन भावना के भार के।
"क्रूरता न करें, बड़ी कृपा क्या हमारी यही,
हम तुम दोनों हैं भिखारी एक द्वार के॥"

त्रिपाठीजी

पंडित रामनरेश त्रिपाठी (जन्म सं० १९४६) ने हिंदी में 'मिलन', 'पथिक' तथा 'स्वप्न' नामक तीन खंड-काव्यों की रचना की है। उनकी भाषा में संस्कृत का सौंदर्य दर्शनीय है। यद्यपि उनमें भावों की प्रचुरता नहीं है, पर एक ही वस्तु को बड़ी सुंदरता से कई बार दिखाने में उन्हें बड़ी सफलता मिली है। राष्ट्रीयता की भावना उनकी पुस्तकों में भरी पड़ी है। इसी से राजनीतिक क्षेत्र के बड़े बड़े व्यक्तियों ने उनकी प्रशंसा की है, यद्यपि उनकी राजनीति कहीं कहीं उनकी कविता में बाधक हो गई है। 'विधवा का दर्पण' शीर्षक उनकी एक मुक्तक रचना, हिंदी में उनकी अब तक की कृतियों में उच्च स्थान की अधिकारिणी है। त्रिपाठीजी की 'अन्वेषण' आदि अन्य छोटी छोटी रचनाएँ भी बड़ी ही सुंदर बन पड़ी हैं। उनके 'स्वप्न' से निम्नलिखित उदाहरण उपस्थित किए जाते हैं—

घन में किस प्रियतम से चपला करती है विनोद हँस हँसकर।
किसके लिये उषा उठती है प्रतिदिन कर शृंगार मनोहर॥
मंजु मोतियों से प्रभात में तृण का मरकत सा सुंदर कर।
भरकर कौन खड़ा करता है किसके स्वागत को प्रतिवासर?

प्रातःकाल समीर कहाँ से उपवन में चुपचाप पहुँचकर।
क्या संदेश सुना जाता है घूम घूम प्रत्येक द्वार पर॥
फूलों के आनन अचरज से खुल पड़ते हैं जिसे श्रवण कर।
थामे नहीं हँसी थमती है मुँह मुँदते ही नहीं जन्म भर ?

ठाकुर गोपालशरणसिंह (जन्म सं० १९४८ वि०) चलती भाषा में उत्कृष्ट कविता करते हैं। ये कोमल भावनाओं के कवि हैं। इनकी रचनाओं में प्रेम की प्रधानता है। वह प्रेम कहीं ईश्वरोन्मुख होता है, कहीं संसार के प्रति और देश के प्रति। इनका प्रेम पवित्र है और इनकी शृंगारिक रचनाओं में भी सुरुचि सर्वत्र दिखाई देती है। ये सांसारिक सुख-दुःख से विशेष प्रभावित हुए हैं। आपकी अधिकांश रचनाएँ मानव-जीवन से संबंध रखती हैं। छोटे-छोटे गीतों में पीड़ित आत्माओं का करुण स्वर स्पष्ट सुनाई देता है। पंडित जगदंबाप्रसाद मिश्र 'हितैषी' (जन्म सं० १९५३) प्रत्येक रस की कविता करते हैं जिसमें विनोद की मात्रा वतमान रहती है। आपकी भाषा अत्यंत परिमार्जित एवं मुहाविरेदार होती है और आपके भाव अनूठे और उच्च होते हैं। कथनप्रणाली अत्यंत सरल है और अनुप्रास की अपूर्व छटा उसका विशेष गुण है। सवैया छंद लिखने में आप बड़े कुशल हैं। उसमें एक प्रकार की विचित्र नवीनता ला देते हैं।

गोपालशरण सिंह और हितैषीजी

ब्रजभाषा में कविता करनेवालों में हरिश्चंद्र के उपरांत प्रेमघन और श्रीधर पाठक श्रेष्ठ कवि हुए। इनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इनके उपरांत पंडित सत्यनारायण शर्मा कविरत्न और बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (सं० १९२३—१९८९ वि०) का नाम उल्लेखनीय है। कविरत्नजी ब्रजमंडल के रहनेवाले ब्रजपति के अनन्य भक्त, बड़े ही

ब्रजभाषा के आधुनिक कवि

रसिक और सरल स्वभाव के व्यक्ति थे। उनकी रचनाओं में ब्रज की माधुरी लबालब भरी है। स्वदेशानुराग की सच्ची झलक दिखलानेवाले थोड़े कवियों में इनकी गणना होगी। 'रत्नाकरजी' ब्रजभाषा के आधुनिक सर्वोत्कृष्ट कवि थे। इनका 'हरिश्चंद्र काव्य' सुंदर हुआ है, पर 'गंगावतरण' नामक नवीन रचना में इनकी सच्ची काव्य-प्रतिभा चमक उठी है। इस ग्रंथ में रत्नाकरजी ने प्रकृति के नाना रूपों के साथ अपने हार्दिक भावों का सामंजस्य दिखा दिया है। इनका उद्धवशतक काव्य भी बहुत सुंदर हुआ है। रत्नाकरजी की भाषाशैली पद्माकरी कही जा सकती है और अनुभावों के प्रस्तुत करने में उन्होंने आधुनिक मनोविज्ञान के सिद्धांत का उपयोग किया है। आधुनिक काल के ब्रजभाषा के कवियों में रत्नाकरजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। उनके 'गंगावतरण' से कुछ छंद यहाँ उनकी रचना के उदाहरणार्थ उद्धृत किए जाते हैं—

> निकसि कमंडल तें उमंडि नभ मंडल खंडति।
> धाई धार अपार वेग सौं वायु विहंडति॥
> भयौ घोर अति सब्द धमक सौं त्रिभुवन तर्जे।
> महामेघ मिलि मनहुँ एक संगहिं सब गर्जे॥

× × × ×

> निज दरेर सौं पौनपटल फारति फहरावति।
> सुरपुर के अति सघन घोर घन घसि घहरावति॥
> चली धार धुधुकारि धरा दिसि काटति कावा।
> सगर-सुतनि के पाप-ताप पर बोलति धावा॥

× × × ×

> विपुल वेग सौं कबहुँ उमँगि आगे कौं धावति।
> सौ सौ जोजन लौं सुढार ढरतिहि चलि आवति॥

फटिक-सिला के वर विसाल मन विस्मय बोहत।
मनहुँ बिसद छद अनाधार अंबर मैं सोहत॥

व्रजभाषा के आधुनिक कवियों में वियोगी हरिजी (जन्म सं० १९५३) की भी अच्छी प्रसिद्धि है। ये भक्त हैं, दार्शनिक हैं और वीररस की कविता करते हैं। यद्यपि यह युग व्रजभाषा का नहीं है तथापि उपर्युक्त कवियों की रचनाएँ उत्कृष्ट भी हुई हैं और पठित जनता में उनका प्रचार भी हुआ है।

अन्य कविगण

इस युग के अन्य कवियों में पंडित रूपनारायण पांडेय, (जन्म सं० १९४१), बाबू सियारामशरण गुप्त (जन्म सं० १९५२), पंडित अनूप शर्मा, पंडित गिरिधर शर्मा (जन्म सं०१९३८), पंडित कामताप्रसाद गुरु (जन्म सं० १९३२), पंडित रामचरित उपाध्याय (जन्म सं० १९२९), पंडित लोचनप्रसाद पांडेय (जन्म सं० १९४३) आदि भी उल्लेख योग्य हैं। रूपनारायणजी की भाषा चलती हुई खड़ी बोली है। उनकी कविता में पूरी रसात्मकता है। हिंदी की लीरिक कविताओं में उनकी 'वन-विहंगम' शीर्षक रचना उत्कृष्ट है। सियाराम-शरणजी ने सामाजिक कुरीतियों पर इतनी तीव्र व्यंग्यमयी और करुण कविता की है कि चित्त पर स्थायी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। समाजनीति को काव्योपयोगी बनाने की विधि हिंदी में सियारामशरणजी को सबसे अधिक आती है। इस क्षेत्र में उनकी सफलता प्रायः अद्वितीय है। वीररस की फड़कती हुई कविता करने के कारण पंडित अनूप शर्मा को कुछ लोग आधुनिक भूषण कहते हैं। वास्तव में इनकी अनेक रचनाएँ अपूर्व ओजस्विनी हुई हैं। 'सुनाल' नामक खंडकाव्य तथा फुटकर कविताओं के अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत वर्णवृत्तों में 'सिद्धार्थ' नाम का महाकाव्य लिखा है। पंडित गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' संस्कृत के विद्वान् और

हिंदी के अच्छे कवि हैं। इन्हें गुजराती और बँगला की कविता-पुस्तकों के अनुवाद में अच्छी सफलता मिली है। गुरुजी की कविताओं में व्याकरण के नियमों की अच्छी रक्षा हुई है। पंडित रामचरित उपाध्याय और पंडित लोचनप्रसाद पांडेय को आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने प्रोत्साहित कर कवि बनाया था। उपाध्यायजी की रामचरितचिंतामणि अपने ढंग की सुंदर पुस्तक है। पांडेयजी की छोटी छोटी रचनाएँ अच्छी हुई हैं। इन कवियों के अतिरिक्त स्वर्गीय पंडित मन्नन द्विवेदी (सं० १९४२—१९७८) की कविताएँ भी महत्त्व रखती हैं।

हिंदी की काव्यधारा का सामान्य परिचय ऊपर दिया गया है। अब थोड़े समय से हिंदी कविता में रहस्यवाद या छायावाद की सृष्टि हो रही है। कुछ लोग रहस्यवाद या छायावाद को आध्यात्मिक कविता बतलाते हैं और पाश्चात्य देशों के उदाहरण द्वारा यह सिद्ध करते हैं कि धर्मगुरुओं और ज्ञानियों ने ही रहस्यवाद की कविता की है। इँगलैंड के अनेक रहस्यवादी कवि सांप्रदायिक कवियों की श्रेणी में आवेंगे, क्योंकि उनकी कविता में लोकसामान्य भावों का समावेश नहीं है, विभिन्न संप्रदायों की विचारपरंपरा के अनुसार उसकी रचना हुई है। परंतु रहस्यवाद की कविता सांप्रदायिक आधार को ग्रहण किए बिना भी लिखी जा सकती है। इँगलैंड के ब्लेक, फारस के उमर खैयाम और भारत के जायसी आदि कवियों ने बहुत कुछ ऐसी ही कविता की है। यह ठीक है कि उनकी काव्यगत अनुभूतियाँ सामान्य अनुभूतियों से विभिन्न हैं; पर वे सत्य हैं, अतः उनमें रसात्मकता पूरी मात्रा में पाई जाती है। हिंदी के कवि जायसी ने प्रकृति के विविध रूपों में अनंत विच्छेद और अनंत संयोग की जो झलक दिखलाई है, उसका उन्होंने स्वतः

छायावाद

अनुभव किया था, केवल सूफी संप्रदाय की किंवदंती के आधार पर वह अवलंबित नहीं है। हिंदी की आधुनिक रहस्यवाद की कविता में थोड़ी बहुत सांप्रदायिकता अवश्य घुस आई है। छायावाद की कविता में सबसे खटकनेवाली बात उसके भावों की अप्रासादकता है। इस संसार के उस पार जो जीवन है उसका रहस्य जान लेना सबके लिये सुगम नहीं है। दार्शनिक सिद्धांतों की अनुभूति भी सबका काम नहीं है। यह मान लेना कि जो सुगमता से दूसरों की समझ में न आ सके अथवा जिसमें विभिन्न या विपरीत भावों के द्योतक शब्दों का साहचर्य स्थापित किया जाय ऐसी कविता प्रतिभा की एकमात्र द्योतक है, कहाँ तक अनुचित या असंभव है, इसके कहने की आवश्यकता नहीं है।

हिंदी में छायावाद अथवा रहस्यवाद की कुछ समय तक तीव्र आलोचना होती रही और उसका पक्ष समर्थन करनेवाले कवियों तथा आलोचकों ने उसका मंडन भी विविध विधि से किया। आरंभ में यह समझना ही कठिन था कि इस प्रकार की कविता और तदितर कविताओं में भेद क्या है। कुछ लोगों ने उसकी यही सरल परिभाषा मान ली थी कि नवीन धारा की ऐसी सब रचनाएँ छायावाद की हैं जो समझ में न आएँ। इसका कारण यह था कि पुरानी धारा के पक्षपाती अँगरेजी और बँगला साहित्य से प्रभावित तथा स्वच्छंदता की प्रवृत्ति से उद्भूत नए ढंग की कविताओं की शैली से अपने को पूर्ण परिचित नहीं कर सके थे। पर हमारे नवीन शैली के सच्चे कवि इससे घबराए नहीं, वरन् और उत्साह के साथ अपनी रचनाओं में संलग्न रहे, और आगे चलकर उन्हीं ने मैदान अपने हाथ में कर लिया। पुरानी धारा के कवि भी उनसे प्रभावित हुए।

कटु आलोचना का यह सुफल अवश्य हुआ कि छायावाद के नाम पर जो बहुत सा कूड़ा-करकट भर रहा था उसका वेग रुक गया, सच्चे रत्न सामने आ गए।

यहाँ यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि भाषा, छंद, शैली आदि की दृष्टि से नवीन समस्त रचनाएँ छायावाद की नहीं कही जा सकतीं। छायावाद और रहस्यवाद वस्तुतः एक दूसरे के पर्याय हैं और काव्य के विषय से संबंध रखते हैं, शैली या भाषा से नहीं। अज्ञात और अव्यक्त सत्ता के प्रति जिसमें भाव प्रकट किए जाते हैं वही कविता रहस्यवाद की कही जा सकती है। यह सच है कि आधुनिक रहस्यवाद की कविता भी नवीन शैली के अंतर्गत हुई है, पर रहस्यवाद से शैली आदि की नवीनता का भेद करने के लिये उसे स्वच्छंदतावाद या नवीनतावाद कहना ही उचित होगा। हिंदी के रहस्यवादी कवियों में जिनकी गणना होती है, वे सबके सब रहस्यवादी नहीं हैं। उनमें से कुछ ने तो रहस्यवाद की एक भी कविता नहीं लिखी। अँगरेजी लीरिक कविता के ढंग पर रचना करनेवाले कितने ही नवीन कवि रहस्यवादी कहलाने लगे हैं।

प्रसाद

बाबू जयशंकर प्रसाद (सं० १९४६—१९९४) कुछ पहले से ही रहस्यवाद की रचनाएँ करने लगे थे। उनकी कविता में सूफी कवियों का ढंग अधिकतर पाया जाता है, यद्यपि अँगरेजी कविता की पालिश भी उनमें कम नहीं है। प्रसादजी ने संस्कृत साहित्य का भी अच्छा अध्ययन किया था और उनकी कविता की भाषा संस्कृत-प्रधान है। वे अत्यंत भावुकहृदय थे। उनकी कविता भी अत्यंत भावुकतामयी है। सूक्ष्म लाक्षणिकता और भावनामय आभ्यंतर जीवन का स्पष्टीकरण

उनकी विशेषता है। लाक्षणिकता के बल से वे भावना को साकार करना खूब जानते थे—

इस करुणाकलित हृदय में, क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में, वेदना असीम गरजती ?

× × × ×

आती है शून्य क्षितिज से, क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी,
टकराती बिलखाती सी, पगली सी देती फेरी ?

वे आर्य जाति के अतीत के बड़े उपासक थे और उसका पुनर्निर्माण कर उन्होंने अपने नाटकों और काव्यों के रूप में जगत् के सामने रखा। उनके नाटक या तो भावनाओं से संबंध रखते हैं या भारत के अतीत काल से। अजातशत्रु, राज्यश्री, स्कंदगुप्त, जनमेजय का नागयज्ञ, चंद्रगुप्त आदि नाटक सब प्राचीन भारत से संबंध रखते हैं और कहीं कहीं आज का मार्ग निर्दिष्ट करते हैं, जैसे 'स्कंदगुप्त' में। स्कंदगुप्त में खिंगिल पर स्कंदगुप्त के आक्रमण के समय मातृगुप्त जो राष्ट्रीय गीत गाता है उसमें अपनी संस्कृति के प्रति उचित अभिमान के साथ आधुनिक सच्चे देशभक्त की भावना का भी योग है—

हमीं ने दिया शांति संदेश सुखी होते देकर आनंद।
विजय केवल लोहे की नहीं धर्म की रही धरा पर धूम ॥
भिक्षु होकर रहते सम्राट् दया दिखलाते घर घर घूम।

× × × ×

किसी का हमने छीना नहीं प्रकृति का रहा पालना यहीं ॥
हमारी जन्मभूमि थी यहीं कहीं से हम आए थे नहीं।

× × × ×

जियें तो सदा इसी के लिये यही अभिमान रहे यह हर्ष।
निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष ॥

अन्यत्र मातृगुप्त देश की दुर्दशा से दुखी होकर भगवान् से प्रार्थना करता है—

उतारोगे अब कब भूभार।
वार वार क्यों कह रक्खा था लूँगा मैं अवतार॥ इत्यादि

और देवसेना के गान में भी आज की पीड़ित और अकर्मण्य भारतीय जनता के प्रति उद्बोधन का राग सुनाई पड़ता है—

देश की दुर्दशा निहारोगे, डूबते को कभी उबारोगे?
कुछ करोगे कि बस सदा रोकर, दीन हो दैव को पुकारोगे॥
इत्यादि।

प्रत्येक नाटक में सुंदर गीत स्थल स्थल पर बिखरे हुए हैं जिनमें काव्य का उत्कर्ष दिखलाई देता है, यद्यपि भाषा-शैली तथा भावों की सूक्ष्मता के कारण सामान्य पाठकों के लिये उनमें दुरूहता आ गई है।

प्रसादजी की कल्पना उनके तीव्र सौंदर्य-प्रेम के अनुरूप ही अत्यंत कोमल तथा उनकी प्रतिभा बड़ी संपन्न थी। पर उनके सौंदर्य-प्रेम में शारीरिक पक्ष का आधार होते हुए भी प्रधानता मानसिक पक्ष की ही पाई जाती है और उस पर उनकी दार्शनिकता का प्रभाव बराबर पाया जाता है। ससीम रूप-सौंदर्य भी उनके निस्सीम हृदय में आकर उन्हें निस्सीम सौंदर्य की ओर ले जाता है जो चिर-सुंदर के साथ चिर-सत्य और चिर-आनंद है, जो वस्तुतः अपने ही चैतन्य (आत्मा) की वह शिव अवस्था है जिसे वह जड़ता की माया के वशीभूत होकर खो बैठता है—

माना कि रूप सीमा है, यौवन में सुंदर! तेरे,
पर एक बार आए थे, निस्सीम हृदय में मेरे।

तुम रूप रूप थे केवल, या हृदय भी रहा तुमको।
जड़ता की सब माया थी, चैतन्य समझकर हमको।

मनुष्य के जीवन में विरह और मिलन, दुख और सुख आँख और मन के खेल के कारण होता है। वास्तव में यह सब नियति-नटी की ही क्रीड़ा है। इससे ऊपर उठकर कवि का ध्येय है—

हो उदासीन दोनों से, दुख सुख से मेल कराएँ।
ममता की हानि उठाकर, दो रूठे हुए मनाएँ॥

अपने 'कामायनी' नामक महाकाव्य में उन्होंने भारतीय इतिहास के अरुणोदय अर्थात् मनुकाल का पुनर्निर्माण किया है। और अपनी कल्पना और खोज के द्वारा उस युग का एक चित्र प्रस्तुत किया है जहाँ पुरातत्त्ववेत्ताओं की भी दृष्टि अच्छी तरह प्रवेश नहीं कर पाई है।

इस महाकाव्य में मानव का इतिहास तो है ही, साथ ही इसमें कवि की काव्य-कला का पूर्ण विकास हुआ है और उसके दार्शनिक विचारों की भी रूप-रेखा बहुत कुछ स्पष्ट हो गई है जिस पर अभेद शैव दर्शन की गहरी छाप है। आत्मा स्वयं स्वतंत्र और शिव तथा आनंद स्वरूप और किसी प्रकार के भेद या द्वंद्व से रहित है। अपनी इस अवस्था को भूलकर ही वह बंधन और दुःख में पड़ता है और उसे पुनः प्राप्त कर लेना ही जीव का परम साध्य है। स्वतंत्र अवस्था में आत्मा की इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियाँ पूर्ण समन्वित रहती हैं, पर बद्ध अवस्था में माया या नियति की कृपा से वे बिखरी रहती हैं, इसी से जीव आनंद प्राप्त नहीं कर सकता। एक बार संसार में बद्ध हो जाने पर फिर केवल श्रद्धा के द्वारा ही मनुष्य अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। 'कामायनी' में मनु श्रद्धा को ही

भूलकर दुःख झेल रहे थे और अंत में श्रद्धा ही के प्रभाव से इच्छा, ज्ञान और क्रिया के तीनों बिंदु फिर एक हो गए और मनु को आनंद प्राप्त हुआ। प्रसाद ने संवेदन, चिंता, मनीषा, बुद्धि या विवेक को दुःख का कारण कहकर उसकी निंदा की है, यह उनके बुद्धिवाद का विरोध उपर्युक्त शैव दर्शन के अनुसार ही है। इसमें ज्ञान बंधन का कारण बतलाया गया है। पर उसका अर्थ अभेद का ज्ञान नहीं जो कि बंधन से छुड़ानेवाला है, वरन् भेद और अनेकता का ज्ञान है जो मायाकृत है। स्मृति की अवस्था से निकलकर विस्मृति की अवस्था में जाने के लिये प्रसाद की प्रायः सभी रचनाओं में जो उनकी व्याकुलता दिखाई पड़ती है उसमें भी बुद्धि, संवेदन, विवेक या 'ज्ञान' का तिरस्कार इसी लिये है।

निराला

निरालाजी (जन्म सं० १९५३) ने प्रकृत कवि की सहज भावुकता के साथ साथ काव्य-क्षेत्र में दार्शनिक दृष्टि-कोण का प्रवेश किया है। उनकी रचनाओं को यह दार्शनिकता सूत्र रूप से वेधती चली जाती है और कहीं कहीं तो स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है। उनकी भावुकता उसे ऐसा बाना पहना लेती है जिससे वह काव्य के क्षेत्र में खटकनेवाली वस्तु नहीं रह जाती। पदावली के चयन तथा शब्दों के द्वारा चित्र-निर्माण में निराला बहुत निपुण हैं। उनमें स्वतंत्रता की प्रवृत्ति बहुत तीव्र रूप में विद्यमान है। छंद के बंधन से कविता को मुक्त करने का उन्होंने बहुत प्रयत्न किया है। वे बहुधा मुक्तक छंद में ही अपनी कविताएँ रचा करते हैं। परंतु उनके ये मुक्त छंद भी नाद-सौंदर्य से हीन नहीं हैं। उनकी अपनी गति है। कवित्त के आधार पर उनका निर्माण हुआ है जिससे वे हिंदी की प्रकृति के विरुद्ध नहीं पड़ते।

उनकी संध्या सुंदरी का मोहक चित्र देखिए—

दिवसावसान का समय,
मेघमय आसमान से उतर रही है
वह संध्या सुंदरी परी सी
धीरे धीरे धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का नहीं कहीं आभास,
मधुर मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किंतु गंभीर—नहीं है उनमें हास विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले काले बालों से,
हृदय राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की सी लता किंतु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह,
छाँह सी अंबरपथ से चली।—

निराला की शब्दावली बहुधा संस्कृत-गर्भित होती है, किंतु वे इस विषय में कट्टरता के पक्षपाती नहीं। परंतु कभी कभी संस्कृत के ऐसे अप्रचलित शब्दों का प्रयोग कर बैठते हैं कि बहुत सामान्य भाव भी दुरूह हो जाता है। अपनी हाल में प्रकाशित 'तुलसीदास' नाम की रचना में उन्होंने तुलसीदास के जीवन को बड़े भव्य रूप में उपस्थित किया है।

निराला तथा पंडित सुमित्रानंदन पंत ने पश्चिमीय शैली का अधिक प्रश्रय लिया है और रवींद्रनाथ की भाँति वैष्णव कविता की भी सहायता ली है।

सुमित्रानंदन पंत (जन्म सं० १९५७) हलकी लाक्षणिकता को लेकर कोमलता की शक्ति का निदर्शन करने काव्यक्षेत्र में अवतरित हुए। उनके भाव सुकुमार, भाषा मधुर और कल्पना कोमल है।

विशेष कर प्रकृति के नाना रूपों से उनके हृदय का सामंजस्य घटित हुआ है और उनके दर्शन से प्राप्त आह्लाद का उन्होंने अपने काव्य में वर्णन किया है। इसके अनंतर मानव-प्रकृति की विभिन्न कोमल दशाओं और अंतर्दशाओं ने भी उनके हृदय को ध्वनि-पूर्ण किया है। 'पल्लव' में उनकी कविताएँ बहुधा प्रकृति से ही संबंध रखती हैं। 'ग्रंथि प्रेम' की ओर अग्रसर हुई है। 'वीणा' और 'गुंजन' में अन्य नाना प्रकार की सुख-दुःख की अनुभूतियों ने गीतों का रूप धारण किया है। सुमित्रानंदन पंत में कल्पना का चमत्कार, भावुकतामय प्रगल्भता और शब्द-लालित्य प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। खड़ी बोली के रूखेपन को दूर कर उसमें काव्योपयोगी मधुरता लाने में उनका सबसे अधिक हाथ है। उनकी रचनाओं में खड़ी बोली बहुत कुछ कोमल होकर आई है। वस्तुओं का मनोरम चित्र उपस्थित करने में पंत के लाक्षणिक प्रयोग बड़े सुंदर बन पड़े हैं। जैसे—

पंत

आज पल्लवित हुई है डाल,
झुकेगा कल गुंजित मधुमास;
मुग्ध होंगे मधु से मधु बाल;
सुरभि से अस्थिर मरुताकाश !

विभिन्न चित्रों के गुणानुरूप शब्दों का चयन भी बड़ी पटुता के साथ किया गया है—

पावन ऋतु थी पर्वत प्रदेश;
पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश।
मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड़,
अवलोक रहा है बार बार
नीचे जल में निज महाकार;

—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण सा फैला है विशाल !!

कवि की कल्पना केवल सुंदर पर्वतीय दृश्य, शिशु की स्वर्गीय मुस्कराहट और निशा के मौन निमंत्रण में ही बँधी नहीं रहती, विषय के अनुरूप वह सुकुमार लक्ष्मी से भयंकर चंडी का रूप भी धारण कर सकती है—

अहे वासुकि सहस्रफण !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर !
शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अंबर !
मृत्यु तुम्हारा गरलदंत, कंचुक कल्पांतर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र-कुंडल
दिङ्मंडल !

इधर कुछ समय से पंत की लेखनी कल्पना के रंगीन आकाश से उतरकर सामान्य धरा पर के यथार्थ जीवन की अनुभूतियों के चित्रण में विशेष रूप से प्रवृत्त हुई है और इस पर काल की गति के साथ साथ चली है। उस पर देश के वर्तमान लोकप्रिय राजनीतिक सिद्धांतों का भी प्रभाव स्पष्ट है। ऐसी कविताओं का संग्रह 'युगांत' और 'युगवाणी' में हुआ है।

श्री महादेवी वर्मा (जन्म सं० १९६४) में भी रहस्य-भावना का आधिक्य है। जिस कसक और अंतर्वेदना से प्रेरित होकर उनका संगीत फूट पड़ता है वह सांसारिक अभाव से जनित नहीं, किसी जगद्बाह्य वासना से उद्भूत है। उनकी कविता निस्संदेह हृदय पर चोट करनेवाली होती है।

महादेवी

प्रमुख रहस्यवादी कवियों में केवल महादेवी ही ऐसी हैं जिनमें रहस्यात्मकता की धारा एक रूप से बराबर अब तक चली आ रही है। 'नीहार,' 'रश्मि,' 'नीरजा' और 'सांध्यगीत' के अतिरिक्त 'यामा' में भी उनकी कविताओं का संग्रह प्रकाशित हुआ है। इनकी भाषा में कोमलता तथा कल्पना में सुकुमारता है। वेदना की कसमसाहट तथा करुणा और निराशा की एक अंतर्धारा इनकी रचनाओं में व्यापक रूप से पाई जाती है।

निराशा के झोंकों ने देव !
भरी मानस कुंजों में धूल,
वेदनाओं के झंझावात
गए बिखरा यह जीवन फूल।

× × ×

और—

मैं नीर भरी दुख की बदली !

× × ×

विस्तृत नभ का कोई कोना,
मेरा न कभी अपना होना,
परिचय इतना, इतिहास यही—
उमड़ी कल थी मिट आज चली !

परंतु स्वयं कवि को इससे कोई निराशा नहीं। उनका जीवन इसी वेदना और करुणा में रमा हुआ है। पीड़ा में ही उन्हें गौरव का अनुभव होता है और मिलन की याद लिए हुए उन्हें उसी पीड़ा के साथ मिट जाने की अभिलाषा है—

अपने इस सूनेपन की
मैं हूँ रानी मतवाली

प्राणों का दीप जलाकर
करती रहती दीवाली!
मेरी आहें सोती हैं
इन ओठों की ओटों में
मेरा सर्वस्व छिपा है
इन दीवानी चोटों में!

वे अपना मिटने का अधिकार बराबर सुरक्षित रखना चाहती हैं—

क्या अमरों का लोक मिलेगा तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे यह मेरा मिटने का अधिकार!

इनके अतिरिक्त पंडित मोहनलाल महतो की रचनाओं में भी रहस्यवाद की छाप है। रवींद्रनाथ को काव्यगुरु स्वीकार करनेवाले ये ही हैं, यद्यपि रवींद्र की कविता की थोड़ी-बहुत छाया सब में मिलती है। नवयुवक कवियों में सोहनलाल द्विवेदी ने इधर कई खंड काव्य लिखे हैं जिससे उनकी प्रसिद्धि हुई है।

अब तक की कविता का ऊपर जो विवरण दिया गया है, उससे यह तो प्रकट होता है कि कविता की अनेकमुखी प्रगति इस युग में हो रही है, पर साथ ही यह भी प्रकट होता है कि विशेष अंतर्दृष्टि-संपन्न महान् कवियों का अभ्युदय अब तक नहीं हुआ है। यह युग हिंदी के सर्वतोमुख विकास का है। पश्चिमीय शैलियों का ग्रहण इस युग की प्रधान विशेषता है। साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रगति हो रही है, फिर भी अब तक परिवर्तन का ही युग चल रहा है। परिवर्तन के युग में जीवन की महान् और चिरकालीन भावनाओं को लेकर काव्यरचना करना प्रायः असंभव होता है। साहित्यकारों का लक्ष्य जब तक परिवर्तन की ओर से हटकर जीवन की ओर नहीं

हिंदी कविता का भविष्य

२६

जाता, तब तक उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि नहीं हो सकती। परंतु इस समय देश की राजनीतिक और सामाजिक स्थिति भी अच्छी नहीं है। प्रतिभाशाली अनेक व्यक्ति साहित्यक्षेत्र से अलग काम करते हैं। साहित्य अब तक जीवन की गहनता के बाहर का दिखलाऊ नंदन-निकुंज बना हुआ है, इसलिये सच्चे कर्मनिष्ठ उस ओर से विरक्त रहते हैं, साहित्य के लिये यह दुर्भाग्य की बात है। रूस और फ्रांस के उत्कृष्ट साहित्यकार प्रबल क्रांतियों के भीतर से उत्पन्न हुए थे, तमाशा देखनेवालों के अंदर से नहीं। भारत में भी क्रांति का वैसा ही युग आया हुआ है। आशा की जाती है कि निकट भविष्य में ही इस सर्वतोव्याप्त हलचल के बीच में किसी दिव्यात्मा का उदय होगा जिससे हिंदी कविता की कल्याण-साधना होगी और जिससे अखिल भारतीय जनसमाज को श्रेयमार्ग मिलेगा।

समस्यापूर्ति

समस्यापूर्ति की प्रथा बहुत पुरानी है पर उसका इतना बाहुल्य कभी नहीं हुआ था जितना आजकल है। पहले पहल किसी भाषा में कविता करने की अभिरुचि उत्पन्न करने के लिये समस्यापूर्ति का सहारा लेना लाभकारक हो सकता है। यह साधनमात्र है, इसे साध्य का स्थान देना उचित नहीं।

"समस्यापूर्ति से पूर्तिकारों की कवित्व-दर्प की वृत्ति भले ही तुष्ट हो जाय और कविसम्मेलनों के सभापतियों की यशोलिप्सा की पूर्ति भी हो जाय पर उससे कविता का उद्देश्य पूरा नहीं हो सकता, क्योंकि समस्यापूर्ति की प्रथा नई कविता को जन्म नहीं दे सकती। किसी पदांश या चरण को लेकर उस पर जोड़-तोड़ लगाकर एक ढाँचा खड़ा कर देना कविता की अधूरी नकल हो सकती है, पर कविता नहीं। कविता हृदय का व्यापार है; दिमाग को खुजलाकर उसका आह्वान नहीं किया जा सकता। जब तक

किसी विषय में कवि की वृत्ति न रमेगी, वह उसमें तल्लीन न होगा, तब तक उसके उद्‌गार नहीं निकल सकते। सृष्टि के सौंदर्य का अनुभव करके कवि जो आनंद पाता है, उसका विस्तार जब इतना हो जाता है कि वह उसे अपने हृदय में नहीं रोक सकता तब उसका अजस्र प्रवाह फूट पड़ता है। बिना इस प्रवाह को रास्ता दिए उसके हृदय को चैन नहीं मिलता। तुलसीदासजी के 'स्वांतःसुखाय' का अर्थ इसी बेचैनी को दूर करना है। रामचंद्रजी के रूप, शक्ति और शील के जिस सौंदर्य को वे अनुभव कर रहे थे उसका आनंद दूसरों को बाँटकर देने के लिये वे विह्वल हो रहे थे, कवि बनने के सुख की प्राप्ति के लिये नहीं। यह विह्वलता क्या कभी उस समस्यापूर्तिकार में हो सकती है, जिसे कल किसी कवि-सम्मेलन में जाकर कविता सुनाने की बड़ी उत्कंठा है और जो इसी लिये आधी रात तक सिर पर हाथ रखे बैठा है और यशप्राप्ति के लिये विह्वल है। कविता की जननी स्वार्थ नहीं, त्याग है। कविता में त्याग ही स्वार्थ है। रीतिकाल के केशव आदि कवि क्यों नहीं सफल हुए? इसी लिये कि उनमें यह त्याग नहीं था, यह विह्वलता नहीं थी; उन्होंने पैसे के लिये, अपने आश्रयदाताओं की रुचि की तुष्टि के लिये, उनकी चाटुकारी के लिये काव्य लिखे थे। आजकल के समस्यापूर्तिकार पैसे की इच्छा से नहीं, अपने कवित्व-दर्प की तुष्टि के लिये काव्य करते हैं।

इस विह्वलता के मूल में कवि का संदेश है। कवि अपने जीवन की अनुभूतियों के निष्कर्ष को संसार के सम्मुख रखना चाहता है, चाहे उससे कोई लाभ उठावे या न उठावे। क्या यह संदेश समस्यापूर्तिकार दे सकता है? उसके पास वह अनुभूति से भरा हृदय कहाँ? उसे तो अपनी दिमागी कसरत का भरोसा रहता है, वह पद्योत्पादक हृदयहीन मशीन है जो बाहर से कोई

पेच दबाने से चलती है, उसका परिचालन भीतर से नहीं होता। इसी से उसका काव्य भी निष्प्राण होता है। वह दूसरे के हृदय में सीधे पहुँचकर वह उथल-पुथल नहीं मचा सकता जो हृदय से निकली हुई सजीव स्पंदन करती हुई कविता कर सकती है।

यही नहीं, उसका काव्य जाति के सामने कोई आदर्श भी नहीं रख सकता। नीति का तो उसके लिये प्रश्न ही नहीं उठ सकता। अतएव उसका मूल्य कितना हो सकता है, यह स्पष्ट ही है।

कविता चरित्र-निर्माण के लिये सबसे अधिक प्रभावोत्पादक साधन है, क्योंकि वह मस्तिष्क के द्वारा नहीं, हृदय के द्वारा शिक्षा देती है। कवि अपने ही आप शिक्षक और शिष्य तथा नेता और अनुयायी होता है; वह लोगों के ऊपर खुदा के कहर की तरह नहीं गिर पड़ता, वह उनको गालियाँ नहीं देता, उनके आगे नरक का भय नहीं रखता, प्रत्युत उनके मन में बुरे कार्यों से ग्लानि उत्पन्न करता है और भले कार्यों के लिये प्रेम। यह कवि का बहुत बड़ा महत्त्व है। अब यदि यह काम ऐसे लोगों के हाथ पड़ गया जिनमें कुछ भी तत्त्व नहीं है, केवल पाषंड है, यशोलिप्सा है, दिखावट है, तो जाति का क्या उपकार हो सकता है?

हिंदी भाषा की कविता के भविष्य को सुधारने के लिये यह आवश्यक है कि उसमें इस प्रकार के काँच के नकली मणियों का आदर न हो और उसका प्रवाह झूठे छायावाद, पाषंड और समस्यापूर्ति की प्रवृत्ति की ओर से हटाकर किसी नए उद्देश्य की ओर मोड़ा जाय। हिंदी भाषा के भारतीय राष्ट्रभाषा होने के कारण यह और भी आवश्यक हो जाता है।"

[एक अप्रकाशित लेख से

——

बारहवाँ अध्याय

आधुनिक काल

गद्य

आधुनिक युग की सबसे बड़ी विशेषता है खड़ी बोली में गद्य का विकास। इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। पर जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ी बोली को अपनाया। यह कार्य एक दिन में नहीं हुआ। अरब, फारस और तुर्किस्तान से आए हुए सिपाहियों को यहाँ वालों से बातचीत करने में पहले बड़ी कठिनता होती थी। न ये उनकी अरबी, फारसी समझते थे और न वे इनकी हिंदवी। पर बिना वाग्व्यवहार के काम चलना असंभव था, अतः दोनों ने दोनों के कुछ कुछ शब्द सीखकर किसी प्रकार आदान प्रदान का मार्ग निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में पहले पहल एक खिचड़ी पकी जिसमें दाल चावल सब खड़ी बोली के थे सिर्फ नमक आगंतुकों ने मिलाया। आरंभ में तो वह निरी बाजारू बोली थी, पर धीरे धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों को यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ स्थिर हो चला। जहाँ पहले शुद्ध, अशुद्ध बोलनेवालों से सही गलत बोल-

गद्य का विकास

वाने के लिये शाहजहाँ को "शुद्धौ सहीह इत्युक्तौ ह्यशुद्धो गलतः स्मृतः" का प्रचार करना पड़ा था वहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध-अशुद्ध न निकलकर सही गलत निकला करता है। आजकल जैसे अँगरेजी पढ़े लिखे भी अपने नौकर से एक ग्लास पानी न माँगकर एक गिलास ही माँगते हैं, वैसे उस समय मुख-सुख उच्चारण और परस्पर बोध-सौकर्य के अनुरोध से वे लोग अपने ओजवेक का उजबक, कुतका का कोतका कर लेने देते और स्वयं करते थे, एवं ये लोग बेरहमन सुनकर भी नहीं चौंकते थे। बैसवाड़ी हिंदी, बुँदेलखंडी हिंदी, पंडिताऊ हिंदी और बाबू इँगलिश की तरह यह उस समय उर्दू हिंदी कहलाती थी, पर पीछे भेदक उर्दू शब्द स्वयं भेद्य बनकर उसी प्रकार उस भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा जिस तरह 'संस्कृत वाक्' के लिये केवल 'संस्कृत' शब्द। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सबसे बड़ा साधन मानकर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ जहाँ फैलते गए, वे इसे अपने साथ लेते गए। उन्होंने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि उसके व्याकरण पर भी फारसी अरबी व्याकरण का रंग चढ़ाया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए। एक तो हिंदी कहलाता रहा और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का संघटन हिंदी के ही अनुसार रखकर, अँगरेजों ने इसका एक तीसरा रूप हिंदुस्तानी बनाया। अतएव इस समय खड़ी बोली के तीन रूप वर्तमान हैं—(१) शुद्ध हिंदी जो हिंदुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है, (२) उर्दू जिसका प्रचार विशेषकर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओं की घर के बाहर की

बोलचाल की भाषा है, और (३) हिंदुस्तानी जिसमें साधारणतः हिंदी उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसका बहुत से लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं; अभी तक यह उच्च कोटि के गंभीर साहित्य की रचना के अनुपयुक्त पाई गई है।

प्रत्येक उन्नत भाषा के साहित्यिक और बोलचाल के रूप में कुछ अंतर पाया जाता है। हिंदुस्तानी की साधारण परिभाषा के अनुसार वह हिंदी के बोलचाल के रूप का ही नाम है, अतः उसमें गंभीर साहित्य की रचना हो भी नहीं सकती। परंतु कतिपय उर्दू साहित्य के विद्वान् उर्दू को ही हिंदुस्तानी के नाम से अभिहित करते हैं, जिसमें अरबी, फारसी तक के तत्सम शब्दों का तो स्वतंत्रता और प्रचुरता से व्यवहार होता है, पर संस्कृत के सरल और अति प्रचलित राजा, माता, पिता, गुरु जैसे शब्दों का कठोर बहिष्कार किया जाता है। हिंदुस्तानी के नाम से भाषा का एक और रूप गढ़ने की भी निष्फल चेष्टा की गई जिसमें संस्कृत और फारसी आदि के शब्दों का बेढंगा मेल बैठाया गया। इस प्रकार के प्रयत्नों के मूल में राजनीतिक कारण हैं,

पद्य में खड़ी बोली का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से पाया जाता है, परंतु गद्य में भी वह उतनी नई नहीं है जितनी समझी जाती है। भ्रमवश हिंदी में खड़ी बोली गद्य के जन्मदाता लल्लूजी लाल माने जाते हैं। यह भ्रम उन अँगरेजों के कारण फैला है जो अपने आने के पहले गद्य का अस्तित्व हिंदी में स्वीकार ही नहीं करते। परंतु यह बात असत्य है। अकबर बादशाह के यहाँ संवत् १६२० के लगभग गंग भाट था। उसने "चंद छंद बरनन की महिमा" खड़ी बोली के गद्य में लिखी है। उसके पहले का कोई प्रामाणिक गद्य लेख न मिलने के कारण उसे खड़ी बोली का प्रथम गद्यलेखक मानना चाहिए। लल्लूजीलाल हिंदवी को आधुनिक

रूप देनेवाले भी नहीं हैं। उनके और पहले का मुंशी सदासुख का किया हुआ भागवत का हिंदी अनुवाद सुखसागर वर्तमान है। इसके अनंतर इंशाउल्लाखाँ, लल्लूजीलाल तथा सदल मिश्र का समय आता है। इंशाउल्लाखाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुंदर है पर वाक्यों की रचना उर्दू ढंग की है। इसी लिये कुछ लोग उसे हिंदी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। लल्लूजीलाल के प्रेमसागर से सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। प्रेमसागर में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय करिके, बुलाय कर आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदल मिश्र में यह बात नहीं है। सारांश यह कि लल्लूजीलाल के प्रेमसागर की भाषा हिंदी गद्य-साहित्य के विकास की दृष्टि से उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है जितनी सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की।

लल्लूजीलाल और सदल मिश्र दोनों ही सज्जनों का कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज से घनिष्ठ संबंध था जिसकी स्थापना सं० १८५७ में मार्क्विस वेलेजली के द्वारा हुई थी और जिसके फारसी और हिंदुस्तानी विभाग के अध्यक्ष डा० गिलक्रिस्ट थे। लल्लूजीलाल भाखा मुंशी तथा सदल मिश्र हिंदुस्तानी विभाग में अध्यापक थे। परंतु इस संबंध से यह समझना भ्रम होगा कि डा० गिलक्रिस्ट अथवा फोर्ट विलियम कालेज ने हिंदी गद्य की उन्नति के लिये प्रयत्न किया। डा० गिलक्रिस्ट वस्तुतः फारसी लिपि और उर्दू भाषा के पक्षपाती थे जिसे वे हिंदुस्तानी कहते थे। यह उस समय थोड़े से शिक्षित हिंदू मुसलमानों के व्यवहार में आनेवाली भाषा थी जिसे डा० गिलक्रिस्ट भ्रमवश भारतीय जनता की सामान्य भाषा समझते थे। अतः उनके लिये यह

स्वाभाविक था कि वे उर्दू गद्य को प्रोत्साहन देते। लल्लूजी-लाल और सदल मिश्र से कालेज के लिये पुस्तकें अवश्य लिखाई गईं, परंतु प्रेमसागर की आवश्यकता केवल उर्दू पढ़नेवालों को भाखा के मुहावरों तथा हिंदू जनता के रीति-रिवाज से परिचित कराने के लिये थी और नासिकेतोपाख्यान को कालेज के पाठ्य-क्रम में कोई स्थान ही नहीं दिया गया। प्रेमसागर के अतिरिक्त लल्लूजीलाल की 'बैतालपचीसी' और 'सिंहासनबत्तीसी' नाम की पुस्तकों की भाषा वही हिंदुस्तानी या उर्दू है और उनकी 'राजनीति' की भाषा ब्रजभाषा है। यह बात अवश्य है कि आगे चलकर सं० १८८१ में कालेज के पाठ्य-क्रम में हिंदी की कुछ अधिक पूछ हुई, पर गद्य का स्थान उसमें नहीं था। इन बातों से स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी खड़ी बोली गद्य की अपेक्षा डा० गिलक्रिस्ट और फोर्ट विलियम कालेज का ऋण उर्दू पर ही अधिक है।

जो कुछ भी हो, यह तो मानना पड़ेगा कि सदासुख, इंशा, लल्लूजीलाल और सदल मिश्र इन चारों व्यक्तियों ने हिंदी गद्य में ग्रंथ-रचना की चेष्टा की, अतः आधुनिक हिंदी गद्य के प्रतिष्ठापकों में चारों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें मुंशी सदासुख और सदल मिश्र की भाषा अधिक उपयुक्त ठहरती है। इन दोनों में भी सदासुख को अधिक सम्मान मिलना चाहिए, क्योंकि ये कुछ पहले भी हुए और इन्होंने अधिक साधु भाषा का व्यवहार भी किया। इनके उपरांत विदेशों से आई हुई खीष्टीय मत का प्रचार करनेवाली धर्मसंस्थाओं अथवा मिशनों ने हिंदी में अपने कुछ धर्मग्रंथों, विशेषकर बाइबिल का अनुवाद किया। बाइबिल का अनुवाद भाषा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह देश के विस्तृत भू-भाग में फैली हुई खड़ी बोली की

सामान्यतः साधु भाषा में किया गया है। पता चलता है कि राजनीतिक दाँवपेंच को पहले से ही जानने और प्रयोग करनेवाले अँगरेजों ने मुसलमानों की उर्दू को कचहरियों में जगह दी थी, पर वे भली भाँति जानते थे कि उर्दू यहाँ के जनसमाज की भाषा कदापि नहीं; नहीं तो बाइबिल के अनुवाद के शुद्ध हिंदी में होने का कोई कारण नहीं। उर्दूपन उससे बहुत दूर रखा गया। उसकी भाषा का रूप सदासुख और लल्लूजीलाल की भाषा की ही भाँति है, पर विदेशीय रचनाशैली के कारण थोड़ा बहुत अंतर अवश्य देख पड़ता है। लल्लूजीलाल की भाषा में व्रज की बोली मिली हुई है, पर उपर्युक्त अनुवाद ग्रंथों में उसका बहिष्कार कर मानो खड़ी बोली के आगामी प्रसार की पूर्व-सूचना सी दी गई है। जब ईसाइयों की धर्म-पुस्तकें निकल रही थीं तब छापने की कल इस देश में आ चुकी थी, जिससे पुस्तकों के प्रचार में बड़ी सहायता मिली।

छापेखानों के फैल जाने पर हिंदी की पुस्तकें शीघ्रता से बढ़ चलीं। इसी समय सरकारी अँगरेजी स्कूल भी खुले और उनमें हिंदी उर्दू का झगड़ा खड़ा किया गया। मुसलमानों की ओर से सरकार को यह समझाया गया कि उर्दू को छोड़कर दूसरी भाषा संयुक्त प्रांत में है ही नहीं। कचहरियों में उर्दू का प्रयोग होता है, मदरसों में भी होना चाहिए। परंतु सत्य का तिरस्कार बहुत दिनों तक नहीं किया जा सकता। देवनागरी लिपि की सरलता और उसका देशव्यापी प्रचार अँगरेजों की दृष्टि में आ चुका था। लिपि के विचार से उर्दू की क्लिष्टता और अनुपयुक्तता भी आँखों के सामने आती जा रही थी। परंतु नीति के लिये सब कुछ किया जा सकता है। अँगरेज समझकर भी नहीं समझना चाहते थे। इसी समय युक्त प्रांत में स्कूलों के इंस्पेक्टर हिंदी के पक्षपाती काशी के

राजा शिवप्रसाद (सं० १८८०-१९५२) नियुक्त किए गए। राजा साहब के प्रयत्न से देवनागरी लिपि स्वीकार की गई और स्कूलों में हिंदी को स्थान मिला। राजा साहब ने अपने अनेक परिचित मित्रों से पुस्तकें लिखवाईं और स्वयं भी लिखीं। उनकी लिखी हुई कुछ पुस्तकों में अच्छी हिंदी मिलती है, पर अधिकांश में उर्दू-प्रधान भाषा ही उन्होंने लिखी। ऐसा उन्होंने समय और नीति को देखते हुए अच्छा ही किया। इसी समय के लगभग हिंदी में संस्कृत के शकुंतला नाटक आदि का अनुवाद करनेवाले राजा लक्ष्मणसिंह (सं० १८८३-१९५३) हुए जिनकी कृतियों में सर्वत्र शुद्ध संस्कृत-विशिष्ट खड़ी बोली प्रयुक्त हुई है। दोनों राजा साहबों ने अपने अपने ढंग से हिंदी का महान् उपकार किया था इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

गद्य के क्षेत्र में भारतेंदु और उनके समकालीन

भारतेंदु हरिश्चंद्र (सं० १९०७-१९४२) के कार्य-क्षेत्र में आते ही हिंदी में समुन्नति का युग आया। अब तक तो खड़ी बोली गद्य का विकास होता रहा और पाठशालाओं के उपयुक्त छोटी छोटी पुस्तकें लिखी जाती रहीं, पर अब साहित्य के अनेक अंगों पर ध्यान दिया गया और उनमें पुस्तक-रचना का प्रयत्न किया गया। भारतेंदु ने अपने बंगाल-भ्रमण के उपरांत बँगला के नाटकों का अनुवाद किया और मौलिक नाटकों की रचना की। कविता में देशप्रेम के भावों का प्रादुर्भाव हुआ। पत्र-पत्रिकाएँ निकलीं। हरिश्चंद्र मैगजीन और हरिश्चंद्र पत्रिका भारतेंदुजी के पत्र थे। छोटे छोटे निबंध भी लिखे जाने लगे। उनके लिखनेवालों में हरिश्चंद्र के अतिरिक्त पंडित बालकृष्ण भट्ट (सं० १९०१-१९७१), पंडित प्रतापनारायण मिश्र (सं० १९१३-१९५१), पंडित बदरीनारायण चौधरी (सं० १९१२-१९८०), ठाकुर जगमोहनसिंह (सं० १९१४-१९५६) आदि थे।

नाटककारों में श्रीनिवासदास (सं० १९०८-१९४४) और राधाकृष्ण-दास (सं० १९२२-१९६४) का नाम उल्लेखनीय है। "परीक्षागुरु" नामक एक अच्छा उपन्यास भी उस समय लिखा गया। आर्यसमाज के कार्यकर्त्ताओं में स्वामी दयानंद के उपरांत सबसे प्रसिद्ध पंडित भीमसेन शर्मा (सं० १९११-१९७४) हुए जिन्होंने आर्यसमाज का अच्छा साहित्य तैयार किया। पंडित अंबिकादत्त व्यास (सं० १९१५-१९५७) भी उस काल के मौलिक लेखकों में से थे। अखबार-नवीसों में बाबू बालमुकुंद गुप्त (सं० १९२२-१९६४) सबसे अधिक प्रसिद्ध हुए। इस प्रकार हम देखते हैं कि गद्य के विभिन्न अंगों को लेकर बड़े ही उत्साहपूर्वक उनमें मौलिक रचनाएँ करने वाले हिंदी के ये उन्नायक बड़े ही शुभ अवसर पर उदय हुए थे। इनकी वाणी में हिंदी के बाल्यकाल की झलक है, पर यौवनागम की सूचना भी मिलती है। देशप्रेम और जातिप्रेम की भावनाओं को लेकर साहित्य-क्षेत्र में आने के कारण इन सब की रचनाएँ हिंदी में अपने ढंग की अनोखी हुई हैं।

भारतेंदु की नाटक-रचना शैली में भारतीय शैली और पाश्चात्य शैली का सम्मिश्रण हुआ है। भारतीय शैली के अंकों और गर्भांकों तथा विष्कंभक आदि को बदलकर बँगला के ढंग पर अंक और दृश्य की परिपाटी चली, पर संस्कृत के सूत्रधार नटी प्रस्तावना आदि ज्यों के त्यों बने रहे। चरित्रों का चित्रण करने में भारतेंदु ने संस्कृत के वर्गीकरणों का अनुसरण किया, पात्रों की वैयक्तिक विशेषताओं की ओर ध्यान नहीं दिया। यद्यपि उनके अनेक नाटक अनुवादित नाटक ही हैं और उनके मौलिक अधिकांश नाटकों में भी कथानक का निर्माण उन्हें नहीं करना पड़ा है, पर कुछ नाटकों में उन्होंने अपनी कथानक-निर्माण की शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। सत्य हरिश्चंद्र में सत्य का उच्च आदर्श दिखाया

गया है। अन्य नाटकों में प्रेम की पवित्र धारा बही है। भारत-दुर्दशा में स्वदेशानुराग चमक उठा है। भारतेंदु की परिमार्जित गद्य शैली का व्यवहार उनके सभी नाटकों में देख पड़ता है, हाँ, विषय और प्रसंग के अनुसार भाषा सरल अथवा जटिल हो गई है। लाला श्रीनिवासदास के "रणधीर प्रेममोहिनी", "संयोगता स्वयंवर" आदि नाटक तथा बाबू राधाकृष्णदास का "महाराणा प्रताप नाटक" साहित्यिक दृष्टि से अच्छे हैं, यद्यपि रंगशाला के उपयुक्त नहीं। प्रेमघनजी का "भारत सौभाग्य" नाटक भी अच्छा है, पर बहुत बड़ा हो गया है। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (सं० १९२५-१९७२) का "चंद्रकला भानुकुमार नाटक" गद्य काव्य की शैली में लिखी गई सुंदर कृति है।

नागरी-प्रचारिणी सभा और सरस्वती

हिंदी साहित्य का यह विकास बड़ा ही आशाप्रद और उत्साह-वर्द्धक था। थोड़े समय की यह साहित्यिक प्रगति उस काल के लेखकों के मनोयोग और कृति-शीलता की परिचायक हुई है। इस काल के उपरांत साहित्य के सभी अंगों की बड़ी सुंदर उन्नति हो चली और प्रत्येक क्षेत्र में अच्छे अच्छे लेखकों का अभ्युदय हुआ। साहित्य के सौभाग्य से उसी समय काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की नींव डाली गई और सरस्वती जैसी उच्च कोटि की मासिक पत्रिका निकली। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी जैसे श्रेष्ठ पत्रकार और व्याकरणविद् विद्वान् के हाथों में जाकर 'सरस्वती' ने भाषासंस्कार का जो अभूतपूर्व कार्य किया उसका सब श्रेय उसके संपादक को है। भाषा को काट-छाँटकर दुरुस्त करने, व्याकरण के नियमों की प्रतिष्ठा करने, नवीन लेखकों में उत्साह बढ़ाने और अँगरेजी की ओर झुके हुए अनेक नवयुवकों को हिंदी की ओर खींचने का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य द्विवेदीजी ने किया।

भारतेंदु हरिश्चंद्र के गोलोकवास के आठ वर्ष के उपरांत हिंदी भाषा और नागरी लिपि के प्रचार, प्रसार तथा उन्नति के उद्देश से संवत् १९५० में काशी नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इस सभा ने अब तक हिंदी भाषा और नागरी लिपि की अमूल्य और गौरवप्रद सेवा की है। हिंदी के प्राचीन ग्रंथों का अनुसंधान करने और उन्हें छापकर प्रकाशित करने का मूल्यवान् कार्य इस संस्था की प्रसिद्धि का कारण हुआ है। प्राचीन साहित्यिक खोज संबंधिनी 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका' में बड़े ही मार्मिक और गंभीर लेखों की शृंखला चली। यह पत्रिका विद्वन्मंडली में बड़े आदर की दृष्टि से देखी जाती है। हिंदी में विज्ञानसंबंधी शब्दों की रचना कर वैज्ञानिक कोष का निर्माण सभा ने कराया और पारितोषिक देकर उच्च साहित्य के निर्माण की प्रेरणा की। हिंदी-शब्दसागर जैसे प्रामाणिक, उपयोगी और महत्त्वपूर्ण कोश का प्रकाशन कर सभा धन्य हुई है।

"काशी नागरी-प्रचारिणी सभा से हिंदी भाषा तथा साहित्य के इतिहास का नया परिच्छेद प्रारंभ होता है। हिंदी-संसार में आज सर्वत्र जो स्पष्ट युगांतर दिखाई दे रहा है उसके श्रेय की सबसे अधिक अधिकारिणी यह सभा ही है। विगत वर्षों के बीच हिंदी की उन्नति के जितने बड़े बड़े काम हुए हैं या तो खुद उसके अपने प्रयत्न से हुए हैं, या उसकी प्रेरणा, प्रभाव अथवा उदाहरण से हुए हैं। कार्यों के महत्त्व का ऐसे लोगों के लिये ठीक अनुमान करना भी कठिन है जिन्हें सभा के कार्यक्षेत्र में आने के पहले की हिंदी की अवस्था की प्रत्यक्ष जानकारी नहीं है। उस समय हिंदी हर तरह दीन-हीन थी। उस समय उसके पास न अपना कोई इतिहास था, न कोश, न व्याकरण; साहित्य का खजाना खाली पड़ा था। बाहर की कौन

कहे, खास अपने घर में भी उसकी पूछ और आदर न था। कचहरियों में वह अछूत थी, कालेज में घुसने न पाती थी, स्कूलों में भी एक कोने में दबकी रहती थी, हिंदू विद्यार्थी भी उससे दूर दूर रहते थे, अँगरेजी उर्दू को शुद्ध लिखने बोलने में असमर्थ हिंदी-भाषी भी उसे अपनाने में अपनी छुटाई समझते थे। सभा-समाजों की कौन कहे घर के काम-काज, हिसाब-किताब, चिट्ठी-पत्री में भी प्रायः उसका बहिष्कार ही था। पर आज इन सभी बातों में बिलकुल दूसरा ही युग दिखाई दे रहा है। आज की हिंदी उस समय की हिंदी से हर बात में भिन्न है और इतनी भिन्न है कि पुराने परिचितों के लिये भी उसका पहचानना कठिन हो गया है। जिस भाषा को २५-३० साल पहले, बहुतों के विचार से, भाषा का पद भी प्राप्त न था आज उसका राष्ट्रभाषा पद प्रायः सर्वमान्य है। जिस भाषा में बातचीत और पत्र-व्यवहार करने में मिडिल के विद्यार्थी की भी हेठी होती थी उसे न बोल सकने के लिये आज बड़े बड़े अहिंदी-भाषी नेता तथा विद्वान् भी लज्जित होते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र में काम करने के लिये आज हिंदी का ज्ञान एक आवश्यक गुण समझा जाता है। प्रचार का यह हाल है कि मद्रास और आसाम जैसे प्रांतों में भी आज हिंदी का डंका बज रहा है। साहित्य की भी आज कम से कम ऐसी स्थिति अवश्य है कि अन्य उन्नत प्रांतीय भाषाओं से हिंदी मजे से नजर मिला सके, बल्कि उसके एकाध अंग में वह उनसे आगे भी निकल गई है। हिंदी भाषा की यह प्रगति संभवतः भाषाओं के विकास के इतिहास में अभूतपूर्व घटना है। इतने काल में इतनी दिशाओं में इतनी अधिक उन्नति शायद ही किसी और भाषा की हुई हो और जो संस्था इस संपूर्ण प्रगति का अप्रत्यक्ष तथा आंशिक कारण भी मानी जा सकती हो वह निःसंदेह धन्य है।" ['आज' ६-११-८५

सारांश यह कि 'सरस्वती' पत्रिका के प्रकाशन और काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना के उपरांत हिंदी गद्य की दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति होने लगी। भाषा में प्रौढ़ता और शक्ति आई तथा कितनी ही सुंदर शैलियों का आविर्भाव हुआ। जिस प्रकार उर्दू में लखनऊ और देहली के दो केंद्र माने जाते थे, और उनकी अलग अलग शैली चली थी, उस प्रकार हिंदी में स्थानभेद के अनुसार शैलीभेद तो नहीं हुआ पर व्यक्तिगत कितनी ही शैलियाँ निकलीं जो आगे चलकर वर्गबद्ध शैलियाँ बन गईं। स्थान का भी प्रभाव अवश्य पड़ा। काशी के अधिकांश लेखक संस्कृत-प्रधान भाषा लिखते हैं, कानपुर और लखनऊ के साहित्यिकों पर द्विवेदीजी की भाषा का प्रभाव पड़ा है। प्रयाग में दोनों श्रेणियों के लेखक मिलते हैं। देहली केंद्र के लेखकों में पंडित पद्मसिंह शर्मा अपनी चटपटी शैली के लिये प्रसिद्ध हैं। हास्यविनोद, बहस-मुबाहसा, व्यंग्य, व्याख्यान आदि के उपयुक्त कितनी ही शैलियों का आविर्भाव हुआ और हो रहा है। अँगरेजी के विद्वानों के हिंदी की ओर झुकने के कारण अँगरेजी रचनाप्रणाली का प्रभाव भी विशेष पड़ा। इस प्रकार हिंदी में कितनी ही शैलियों का जन्म और विकास हुआ। मासिक पत्रिकाओं के निकलने से सामयिक साहित्य की अच्छी श्रीवृद्धि हुई। राजनीतिक आंदोलन के फल-स्वरूप हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का उद्योग किया जा रहा है। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने हिंदी के प्रचार में अच्छा योग दिया है। राजनीतिक आंदोलन और शिक्षा की उन्नति के साथ ही पत्र-पत्रिकाएँ बढ़ती जा रही हैं। साहित्य के सब अंग भर रहे हैं। विश्वविद्यालयों में हिंदी उच्चतम कक्षाओं में पढ़ाई जाने लगी है। विविध विषयों की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं।

पहले हम हिंदी कविता की अब तक की प्रगति का संक्षिप्त विवरण दे चुके हैं, गद्य के विविध अंगों का आधुनिक-काल में जो विकास हुआ है अब उसका दिग्दर्शन कराते हैं—

भारतेंदु हरिश्चंद्र के समय से ही साहित्यिक समालोचना होने लगी थी, पर पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय से उसका स्वरूप निश्चित हुआ। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ अधिकांश निर्णयात्मक होती थीं।

समालोचना

सरस्वती में पुस्तकों की भी और संस्कृत तथा हिंदी के कुछ कवियों की भी द्विवेदीजी ने समालोचनाएँ लिखीं। द्विवेदीजी की चलाई हुई पुस्तक-समीक्षा की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण अब तक मासिक पत्रिकाओं में हो रहा है। द्विवेदीजी की समालोचनाएँ भाषा की गड़बड़ी को दूर करने में बहुत सहायक हुईं, साथ ही आलोचना में संयत होकर लिखने का ढंग भी प्रतिष्ठित हुआ। द्विवेदीजी के समकालीन समालोचकों में मिश्रबंधुओं (ज्येष्ठ-जन्म सं० १९३०, कनिष्ठ-जन्म सं० १९३५) का स्थान विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनका हिंदी-साहित्य का इतिहास ग्रंथ अपने ढंग की पहली रचना होने के कारण बड़ी मूल्यवान् वस्तु हुई। 'हिंदी-नवरत्न' में कवियों की समालोचना का सूत्रपात हुआ। उनकी आलोचनाओं के संबंध में विद्वानों में मतभेद हो सकता है और है भी, पर समालोचना का कार्य आरंभ करने के कारण मिश्र-बंधुओं का हिंदी साहित्य पर ऋण है और उसे स्वीकार न करना कृतघ्नता मानी जायगी। यह सच है कि अनेक विद्वानों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से उनके 'हिंदी नवरत्न' तथा 'मिश्रबंधुविनोद' की आलोचना की, पर मतभेद का होना जीवन का लक्षण और उन्नति का सूचक है और इसलिये हम उसका स्वागत करते हैं। इस बात का बिना ध्यान रखे कि सब बातों में क्रमिक विकास होता है,

२७

पूर्व कृतियों को तुच्छ मानना जहाँ अनुचित है वहाँ इस बात का भी ध्यान रहना चाहिए कि हमारे ज्ञान तथा अनुभव की वृद्धि निरंतर होती रहती है, इसलिये साहित्य के विद्यार्थियों, समालोचकों तथा निर्माताओं का अपने अपने मतों को वेदवाक्य मान बैठना, नवाविष्कृत तथ्यों की अवहेलना करना तथा भिन्न मत रखनेवालों को हेय समझना साहित्य के भावी विकास और उन्नति के लिये हितकर न सिद्ध होगा।

मिश्रबंधुओं के उपरांत हिंदी के कवियों पर आलोचनात्मक लेख और पुस्तकें लिखनेवालों में पंडित पद्मसिंह शर्मा (सं० १९३३-१९८९) और पंडित कृष्णविहारी मिश्र (जन्म सं० १९४७) के नाम उल्लेखनीय हैं। मिश्रजी की भाषा शर्माजी की भाषा से अधिक साधु और शिष्ट है और उनकी विवेचन-पद्धति भी अधिक गंभीर है। शर्माजी की समालोचनाशैली बड़ी ही व्यंग्यमयी हो गई है और उसमें कवियों की प्रशंसा में वाह वाह कहने का उर्दू ढंग पकड़ा गया है। यदि शर्माजी कुछ अधिक गंभीरता और शिष्टता साथ लिए रहते तो अच्छा होता। कदाचित् उनकी उछलती, कूदती, फुदकती हुई भाषाशैली के लिये यह संभव न था।

अँगरेजी ढंग की गंभीर आलोचनाएँ लिखनेवालों में पंडित रामचंद्र शुक्ल प्रमुख हैं। जायसी, तुलसी, सूर आदि कवियों पर उनके निबंध सुंदर विश्लेषणात्मक आलोचना के रूप में लिखे गए हैं, जिनसे कवियों के मानसिक और कलात्मक विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। विश्वविद्यालयों की उच्च श्रेणियों में पढ़ाई जाने योग्य समालोचनाओं में शुक्लजी की समालोचनाएँ सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हुई हैं। बाबू पदुमलाल बख्शी ने भी दो एक समालोचनात्मक पुस्तकें लिखकर हिंदी के विकासक्रम को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। मासिक पत्रिकाओं में समा-

लोचनाएँ लिखने का ढंग अधिक उपयुक्त और प्रशंसनीय होता जा रहा है। पहले की अपेक्षा व्यक्तिगत आक्षेपों की बहुत कुछ कमी हो गई है। कदाचित् यह कह देना अनुचित न होगा कि समालोचना का काम बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसे सफलतापूर्वक करना सबका काम नहीं है।

नाटक

अन्य सभी साहित्यों में नाटकों का विवेचन रंगशाला के नियमों, प्रतिबंधों आदि को लेकर होता है। अँगरेजी के अनेक विद्वान् समालोचक तो रंगशाला के अनुपयुक्त नाटकों को नाटक कहते ही नहीं। उन देशों में रंगशालाएँ बहुत अधिक विकसित हो चुकी हैं, और प्रत्येक नाटककार उनके नवीनतम विकास से परिचित होना आवश्यक समझता है। नवीन विकास के कारण जो पुरानी नाटकीय रचनाएँ आधुनिक रंगमंच के अनुपयुक्त हो गई हैं, अथवा पिछड़ी हुई देख पड़ने लगी हैं, उनको निम्न स्थान दिया जाता है। स्वयं शेक्सपियर के नाटक भी रंगमंच की दृष्टि से पुराने हो गए हैं अतः कम खेले जाते हैं, अथवा सुधारकर खेले जाते हैं। हिंदी के लिये यह बड़ी लज्जा की बात है कि अब तक वह पारसी रंगमंच के ही हाथों में पड़ी है, उसकी अपनी रंगशालाएँ या तो हैं ही नहीं, अथवा मृतक सी हैं। व्यावसायिक रंगमंच तो हिंदी में कदाचित् एक भी नहीं। हम लोग अब तक नाटक खेलने को तुच्छ नटों का काम समझते हैं। अनेक आधुनिक नाटककार घर पर कल्पना के द्वारा नाटकीय प्रतिबंधों पर विचार करते हैं, रंगशालाओं में जाकर नाटक देखकर या खेलकर अपने अनुभव की वृद्धि नहीं कर पाते। पारसी रंगमंच अपने पुराने अवगुणों को लिए हुए चला जा रहा है। वही अलंकरणाधिक्य, वही अस्वाभाविक भाषा और वही अस्वाभाविक भाषण! हिंदी की

जो दो एक नाटकमंडलियाँ हैं, वे तिथि-त्योहारों पर कुछ खेल खेलाकर ही संतोष कर लेती हैं। यह स्थिति बड़ी ही शोचनीय है। बँगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं के रंगमंच विशेष उन्नत हैं और प्रतिदिन उन्नति करते जाते हैं। ऐसी अवस्था में राष्ट्रभाषा हिंदी पर गर्व करनेवालों का मस्तक अवश्य नीचा होता है। हिंदीभाषी रईसों को चाहिए कि यथासंभव शीघ्र नाट्य-मंडलियों को सहायता दें, और हिंदीभाषी विद्वानों को चाहिए कि वे यथासंभव शीघ्र अभिनय-कार्य को अपने हाथ में लें, उसे नटों का काम ही न समझे रहें। साथ ही हिंदीभाषी जनता को चाहिए कि वह हिंदी नाट्यमंडलियों के नाटक देखकर उन्हें प्रोत्साहन दे। लाला सीताराम (सं० १९१५-१९९३) ने कई संस्कृत नाटकों का हिंदी में अनुवाद किया है और पंडित सत्यनारायण ने भवभूति के दो नाटकों का हिंदी में अच्छा अनुवाद किया था।

आधुनिक नाटककारों में बाबू जयशंकर प्रसाद, पंडित बदरीनाथ भट्ट, पंडित गोविंदवल्लभ पंत आदि प्रसिद्ध हैं। बाबू प्रेमचंदजी ने संग्राम और कर्बला नाम के दो नाटक लिखे हैं जिनमें उन्हें सफलता नहीं हुई। पंडित गोविंदवल्लभ पंत को रंगमंच का अच्छा अनुभव है और उनकी 'वरमाला' हिंदी नाटकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। पौराणिक आधार पर लिखी गई प्रेम की वह कथा पंतजी की कवित्वशक्ति से चमक उठी है और नाटक के उपयुक्त हो गई है। पंडित बदरीनाथ भट्ट के नाटक व्यंग्य और विनोद की दृष्टि से हिंदी में अपने ढंग के अच्छे हैं, पर जहाँ व्यंग्य और विनोद नहीं है वहाँ का कथोपकथन शिथिल और उखड़ा हुआ जान पड़ता है और कहीं कहीं हास्य और विनोद भी निम्न श्रेणी का हो गया है। कुछ दिनों तक श्रीवास्तवजी के प्रहसनों की बड़ी धूम थी पर हमारी दृष्टि में वे कुरुचि उत्पन्न करनेवाले हैं

और उनका प्रभाव नवयुवकों पर अच्छा नहीं पड़ता। बाबू जयशंकर प्रसाद ने आठ-दस नाटक लिखे हैं। उनमें से अधिकांश ऐतिहासिक हैं। प्रसादजी ने प्राचीन इतिहास का अच्छा अध्ययन किया है और प्राचीन भारतीय समाज के भूले हुए चित्रों को दिखाने में उनकी क्षमता प्रशंसनीय है। देश और काल के उपयुक्त वस्तु निर्माण करना प्रसादजी की विशेषता है। मानसिक वृत्तियों को पात्रों का स्वरूप देकर लिखा हुआ उनका 'कामना' नाटक हिंदी में अपने ढंग का अद्वितीय है। हमारी सम्मति में चित्तवृत्तियाँ इतनी जटिल और एक दूसरी से ऐसी अविच्छिन्न भाव से मिली हुई होती हैं कि उन्हें अलग करके दिखाने में कृत्रिमता आ ही जाती है। उनका 'एक घूँट' नाम का एकांकी नाटक सिद्धांत-प्रतिपादन की दृष्टि से उत्कृष्ट होने पर भी नाटकीय दृष्टि से इसी कारण उत्तम नहीं हुआ। सिद्धांतों को अग्रस्थान मिल गया है, कथोपकथन में नाटकीय प्रभाव कम रह गया है। फिर भी इतना तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि नाटकों के क्षेत्र में प्रसादजी की रचनाएँ बड़े महत्त्व की हैं, और अब तक के नाटककारों में वे सर्वश्रेष्ठ हैं। प्रसादजी के नाटकों में एक बात बहुत खटकती है। वह उनकी रंगमंच पर खेले जाने की अनुपयुक्तता है। दूसरी बात जो उनकी कृतियों में खटकनेवाली है वह उनका सांसारिक बातों में एकपक्षीय ध्येय है। सांसारिक जीवन में सभी कुछ कलुषित और गर्हित नहीं है, उसका एक अंश उज्ज्वल और प्रशंसनीय भी है। प्रसादजी की रुचि पहले पक्ष की ओर अधिक देख पड़ती है। कदाचित् इसी कारण उनके नाटकों का प्रभाव अधिक स्थायी हो सकता हो; पर आनंद देने, मन बहलाने और आदर्श को ऊँचा उठाने के जो साधन हैं उनकी ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया है, इसलिये दूसरे अंश की उपेक्षा खटकती है। तीसरी बात उनका रहस्यमय उक्तियों का अना-

वश्यक प्रयोग है। इस कारण एक भाव स्पष्ट नहीं होने पाता कि दूसरा उसे अपूर्ण छोड़कर हटा देता है, और फिर उसकी भी वही अवस्था होती है। इस प्रकार भाव अस्पष्ट और अपूर्ण रह जाते हैं।

'परीक्षागुरु' के उपरांत हिन्दी के उपन्यासों में 'चंद्रकांता संतति' का नाम आता है। बाबू देवकीनंदन खत्री (सं० १९१८-१९७०) की इस रचना का उस समय इतना अधिक स्वागत किया गया कि अब हमारे लिये वह आश्चर्य की बात हो गई है। लाखों निरक्षरों और उर्दूदाँ लोगों ने चंद्रकांता संतति पढ़ने के लिये हिंदी सीखी। चंद्रकांता के अनुसरण में हिंदी में अनेक उपन्यास लिखे गए। इनके अनंतर गहमरीजी (जन्म सं० १९२३) के जासूसी उपन्यासों का युग आया। उनके अनेक उपन्यास अनुवादित हैं, कुछ मौलिक भी हैं। घटनाओं की ओर बड़ा आकर्षण रहता है, चरित्र के विकास का कहीं पता नहीं रहता, भाषा भी प्रायः देहाती रहती है। इसी समय के लगभग बँगला के कुछ अच्छे उपन्यासों का हिंदी में अनुवाद हुआ जिससे साहित्यिक उपन्यासों की मौलिक रचनाएँ भी होने लगीं। पंडित किशोरीलाल गोस्वामी (सं० १९२२-१९८९) ने इस ओर पहले पहल प्रयत्न किया। उनकी रचनाएँ साहित्यिक हैं, पर भाषा की दृष्टि से सफल नहीं हुई हैं। गोस्वामीजी ने अब तक पचासों उपन्यास लिखे होंगे और उनका थोड़ा बहुत प्रचार भी है। उनके उपन्यास अधिकांश घटनाविशिष्ट हैं, पात्रों के चरित्र-विकास की ओर कम ध्यान दिया गया है। कहीं कहीं कालदोष भी खटकता है। अँगरेजी की आधुनिक उपन्यास-समीक्षा के अनुसार गोस्वामीजी के उपन्यासों का बहुत कम साहित्यिक मूल्य है। उनका विनोद और हँसी कहीं कहीं अश्लीलता की सीमा तक पहुँच जाती है।

उपन्यास

हिंदी उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंदजी (सं० १९३७-१९९३) की रचनाओं ने युगांतर उपस्थित कर दिया। हिंदीवालों ने उनके पहले मौलिक उपन्यास 'सेवासदन' का उतावली के साथ स्वागत किया और 'प्रेमाश्रम' के निकलते ही वे हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार कहलाने लगे। सामाजिक भावों का प्रतिबिंब इनकी सफलता का मूल कारण है। रंगभूमि, कायाकल्प, प्रतिज्ञा, गबन और गोदान आदि उनके कितने ही छोटे बड़े उपन्यास निकल चुके हैं। प्रेमचंदजी ने देहाती समाज का अच्छा अनुभव प्राप्त किया है और उनके सुख-दुःखों को वे समझते हैं। सामाजिक कुरीतियों को दूर करने के उद्देश्य से उन्होंने व्यंग्यशैली स्वीकृत नहीं की, मीठी चुटकियों का प्रयोग किया है। मानसिक वृत्तियों के उत्थान-पतन का सुंदर चित्र अंकित करने में प्रेमचंदजी की प्रसिद्धि है। वर्णन की अपूर्व शक्ति प्रेमचंदजी को मिली है। इस कार्य में वे संसार के बड़े बड़े उपन्यासकारों के समकक्ष हैं। स्वयं प्रेमचंदजी के अनुसार उनके उपन्यासों में आदर्शोन्मुख यथार्थवाद का चित्रण है। परंतु हमारी समझ से उनमें आदर्शवाद की ओर अधिक ध्यान दिया गया, तथ्यवाद का उतना विचार नहीं रखा गया। दोनों का उपयुक्त सम्मिश्रण कदाचित् उनके उपन्यासों के महत्त्व को और भी बढ़ा देता। कहीं कहीं विशेषकर रंगभूमि में आवश्यकता से अधिक विस्तार किया गया है। यह उपन्यास दो भागों में न होकर एक ही भाग में समाप्त हो जाता तो अधिक रुचिकर होता। दूसरा भाग तो जबरदस्ती बढ़ाया गया जान पड़ता है।

जयशंकर प्रसाद ने भी कंकाल और तितली नाम के दो उपन्यास लिखे। 'कंकाल' का निर्माण उसके नाम के अनुकूल हुआ है। समस्त उपन्यास के पढ़ जाने पर हमें उसके समाज के नंगे चित्र का उद्घाटन रुचिकर नहीं हुआ। चरित्रचित्रण में

प्रसादजी ने अच्छा कौशल दिखाया है। इनमें मंगलदेव और यमुना (तारा) के चित्र बड़ी निपुणता से चित्रित किए गए हैं। पढ़ते पढ़ते एक के प्रति आंतरिक घृणा और दूसरी के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है। एक यदि रँगा हुआ सियार है तो दूसरी युवावस्था के उद्वेग से मार्गच्युत होकर जन्म भर आत्मसंयम से काम लेकर अपने निर्दिष्ट प्रण पर दृढ़ रहनेवाली है। तितली भी कंकाल की तरह सामाजिक उपन्यास है, परंतु इसमें कंकाल की तरह समाज के कलुषित पक्ष का एकांगी चित्रण नहीं है, अतः यह अधिक सुरुचिपूर्ण हुआ है। तितली के चरित्र का इसमें अच्छा उत्कर्ष दिखाया गया है।

आख्यायिका

आधुनिक हिंदी की आख्यायिकाएँ संस्कृत के हितोपदेश अथवा राजतरंगिणी के ढंग पर नहीं लिखी गईं, अँगरेजी की छोटी कहानियों की शैली पर लिखी गई हैं। घटनाओं की सहायता से पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं को चित्रित करना आजकल की कहानियों का मुख्य लक्ष्य हो रहा है। समाज की कुरीतियों के प्रदर्शनार्थ भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, ऐतिहासिक तत्त्वों पर प्रकाश डालने की दृष्टि से भी कहानियाँ लिखी जाती हैं, और दार्शनिक कहानियाँ भी लिखी जाती हैं। कहानियों में न तो घटनाओं का क्रम अधिक जटिल होता है और न जीवन के बड़े बड़े चित्र दिखाए जाते हैं। हिंदी में आख्यायिकाओं का आरंभ करनेवाले गिरिजाकुमार घोष नामक सज्जन थे। उनके उपरांत बाबू जयशंकर प्रसाद, श्री ज्वालादत्त, श्री प्रेमचंदजी, कौशिकजी, सुदर्शनजी, हृदयेशजी आदि कहानी-लेखक हुए। प्रसादजी की आख्यायिकाएँ कवित्वपूर्ण होती हैं, उन्हें एक बार पढ़कर कई बार पढ़ने की इच्छा होती है। उनकी कुछ कहानियों में प्राचीन इतिहास की खोई हुई बातों की खोज की गई

है, कुछ में मनस्तत्त्व की सूक्ष्म समस्याएँ समझाई गई हैं और कुछ में व्यक्ति का व्यक्तित्व स्पष्ट किया गया है। प्रेमचंदजी की कहानियों में सामाजिक समस्याओं पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। उनकी भाषा-शैली कहानियों के बहुत उपयुक्त हुई है, और उनके विचार भी सब पढ़े-लिखे लोगों के विचारों से मिलते-जुलते हैं। यही कारण है कि प्रेमचंदजी की कहानियाँ सबसे अधिक लोकप्रिय हैं। प्रेमचंदजी और जयशंकर प्रसादजी की आख्यायिकाओं में बड़ा भारी अंतर यह है कि एक में घटनाओं की प्रधानता रहती है और दूसरी में भावों की। प्रेमचंदजी के भाव घटनाओं के आश्रित रहते हैं और जयशंकर प्रसादजी की घटनाएँ भावों के आश्रित रहती हैं। अतएव हम कह सकते हैं कि एक घटनात्मक है और दूसरी भावात्मक हैं। कौशिकजी (जन्म सं० १९४८) की कहानियों में पारिवारिक जीवन के बड़े ही मार्मिक और सच्चे चित्र हैं। उनका क्षेत्र सीमित है; पर अपनी सीमा के भीतर वे अद्वितीय हैं। ऐसा जान पड़ता है कि सुदर्शनजी ने पाश्चात्य कथा-साहित्य का अच्छा अध्ययन किया है। भारतीय आदर्शों की रक्षा करने की उनकी चेष्टा प्रशंसनीय है। हृदयेशजी की कहानियों में कवित्व है पर उनकी भाषा अत्यधिक अलंकृत तथा उनके भाव कहीं कहीं नितांत कल्पित हो गए हैं। उनकी कल्पना में वास्तविकता कम मिलती है। अन्य कहानी-लेखकों में 'अंतस्तल' के लेखक श्री चतुरसेन शास्त्री, श्री राय कृष्णदास, श्री विनोदशंकर व्यास आदि हैं। उग्रजी की वे कहानियाँ अच्छी हैं जिनमें उन्होंने अश्लीलता नहीं आने दी है। उनकी भाषा बड़ी सुंदर होती है। हिंदी की छोटी कहानियों या गल्पों का भविष्य बड़ा उज्ज्वल जान पड़ता है, थोड़े ही समय में इस क्षेत्र में बड़ी उन्नति हुई है।

हिंदी में अब तक निबंधों का युग नहीं आया है। समालोचनात्मक निबंधों के अतिरिक्त हिंदी के अन्य सभी निबंध साधारण कोटि के हैं। पंडित बालकृष्ण भट्ट और पंडित प्रतापनारायण मिश्र के निबंध हिंदी की बाल्यावस्था के हैं। उनमें विनोद आदि चाहे जो कुछ हो, वे साहित्य की स्थायी संपत्ति नहीं हो सकते। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी के निबंधों में विचारों की योजना कहीं कहीं विशृंखल हो गई है। द्विवेदीजी को संपादन-कार्य में इतना व्यस्त रहना पड़ता था कि उनके स्वतंत्र निबंधों को देखकर हमें आश्चर्य ही होता है। भावात्मक निबंध लिखनेवालों में सरदार पूर्णसिंह (सं० १९३८-१९८८) का स्थान सबसे अधिक महत्त्व का है, पर सरदारजी हिंदी को छोड़कर अँगरेजी की ओर झुक गए और उनके केवल पाँच निबंध ही हिंदी को प्राप्त हो सके। श्रीयुत गुलाबराय (जन्म सं० १९४४) और श्रीयुत कन्नोमल के दार्शनिक निबंध भी साधारणत: अच्छे हुए हैं। निबंध के क्षेत्र में पंडित रामचंद्र शुक्ल का सबसे अलग स्थान है। मानसिक विश्लेषण के आधार पर उन्होंने करुणा, क्रोध आदि मनोवेगों पर अनेक अच्छे निबंध लिखे हैं। विवरणात्मक निबंधलेखकों ने यात्रा, भ्रमण आदि पर जो कुछ लिखा है, वह सब मध्यम श्रेणी का है। सारांश यह कि निबंधों की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। हिंदी साहित्य के इस अंग की पुष्टि की ओर सुलेखकों का ध्यान जाना चाहिए।

निबंध

यों तो गद्य का विकास बहुत प्राचीन काल में हुआ था, परंतु उसकी अखंड परंपरा उस समय से आरंभ हुई जिस समय मुंशी सदासुखलाल, इंशाउल्ला खाँ, सदल मिश्र और लल्लूजी लाल ने अपनी रचनाएँ कीं। उस समय की शैली की अवस्था वही थी

जो वस्तुतः आरंभिक काल में होनी चाहिए। जिन लोगों ने वस्तु का आधार संस्कृत से लिया, उनकी भाषा में भी संस्कृत की छाप लग गई। इस काल में कथा कहानी की ही रचनाएँ हुईं। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि यह आरंभिक काल था। न तो भाषाशैली में बल का संचार हुआ, न उसका कोई संयत रूप स्थिर हुआ और न पाठकों में इतनी शक्ति उत्पन्न हुई थी कि गवेषणात्मक रचनाओं का अध्ययन कर सकें। इन लेखकों में भी दो दल स्पष्ट दिखाई पड़ते थे। एक ने तो संभवतः प्रतिज्ञा कर ली थी कि उर्दूपन—उर्दू ढंग की वाक्य-रचना एवं शब्द-योजना—का पूर्ण बहिष्कार किया जाय, और दूसरे ने उर्दूपन लेकर शैली को चमत्कारपूर्ण बनाने की चेष्टा की। अभी तक न तो शब्दों का रूप ही स्थिर हुआ था और न भाषा का परिमार्जन ही हो सका था। व्याकरण की ओर तो आँख उठाना ही अस्वाभाविक या अनावश्यक ज्ञात होता था। मुहावरों के प्रयोग से कुछ चमत्कार अवश्य उत्पन्न हो रहा था। जिन लोगों ने मुहावरों और उर्दूपन का एकदम बहिष्कार किया उनकी भाषा गंभीर भले ही रही हो परंतु उसका आकर्षण और चमत्कार अवश्य नष्ट हो गया था। इस समय के प्रायः सभी लेखकों में प्रांतीयता स्पष्ट झलकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि यह आरंभिक काल था तो वे सभी अवस्थाएँ रचना-शैली में उपस्थित थीं जो स्वाभाविक रूप में उस समय होनी चाहिए थीं।

गद्य-शैली का विकास

इसके उपरांत लगभग पचास वर्षों तक हिंदी का कार्य भारतवर्ष के धर्म-प्रचारक ईसाइयों के हाथ में था। उस समय की रचनाओं को देखने से विदित होता है कि इन ईसाइयों ने उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार किया और सभी रचनाओं में पूर्ण

रूप से हिंदीपन का ही निर्वाह किया। न तो शब्द-योजना ही में उर्दूपन दिखाई पड़ता है और न वाक्य-विन्यास ही में। आवश्यकता पड़ने पर इन लोगों ने ग्रामीण शब्दों तक का व्यवहार किया परंतु उर्दू के शब्दों का नहीं। यह स्पष्ट विदित होता है कि इन लोगों ने सचेष्ट होकर, उर्दूपन को दूर रखकर, भाषा का रूप शुद्ध रखा।

इधर राजा शिवप्रसाद (सं० १८८०-१९५२) और राजा लक्ष्मणसिंह (सं० १८८३-१९५३) के गद्य-क्षेत्र में आते ही पुनः हिंदी और उर्दू का द्वंद्व आरंभ हुआ। साधारण रूप से विचार करने पर तो यही कहा जा सकता है कि उस समय तक न तो व्याकरण के नियमों का ही निर्वाह दिखाई पड़ता था और न भाषा का ही कोई रूप स्थिर हो सका था। रचना का विकास अवश्य हो रहा था और पठन-पाठन के विस्तार से अनेक विषयों में गद्य की पहुँच आरंभ हो गई थी, और कितने ही विषयों पर पुस्तकें लिखी जा रही थीं। हिंदी गद्य का रूप कुछ व्यापक अवश्य हो रहा था। उसमें अब भावद्योतन का क्रमशः विकास होने लगा था। इस समय प्रधान बात हिंदी-उर्दू का झगड़ा था। राजा शिवप्रसाद को सभी रचनाओं में उर्दूपन घुसेड़ने की धुन समाई थी। उनको विश्वास था—संभव है ऐसा विश्वास करने के लिये वे बाध्य किए गए हों—कि यदि उर्दूपन का बहिष्कार किया जायगा तो भाषा की व्यावहारिकता नष्ट हो जायगी और उसमें भावद्योतन का चमत्कार और बल न आ सकेगा। यह विचार राजा लक्ष्मणसिंह को ठीक न जँचा। अतः उन्होंने इसके विरोध में, अपनी रचनाओं में भाषा का रूप पूर्ण शुद्ध ही रखा। ऐसा करके उन्होंने यह स्पष्ट दिखा दिया कि उर्दूपन से दूर रहकर भी भाव बड़ी सरसता से प्रकाशित किए

जा सकते हैं, ऐसी अवस्था में भी चमत्कार उपस्थित किया जा सकता है। बिना उर्दूपन का सहारा लिए ही सुंदर से सुंदर रचनाएँ की जा सकती हैं।

इस द्वंद्व का निरीक्षण बाबू हरिश्चंद्र भली भाँति कर रहे थे। सोच-विचार करने के उपरांत उन्होंने मध्यम मार्ग के अवलंबन का निश्चय किया। उन्होंने अपनी रचनाओं में भाषा का बड़ा व्यावहारिक रूप रखा। न उर्दूपन का पूर्ण बहिष्कार ही किया और न उर्दू-ए-मुअल्ला के पक्षपाती ही बने। जहाँ उन्होंने उर्दू के शब्दों का व्यवहार किया वहाँ उनका तद्भव रूप ही रखा। इस काल में अनेक पत्र पत्रिकाएँ प्रकाशित होने लगी थीं। हिंदी का व्यवहार-क्षेत्र अब अधिक व्यापक होने लगा था। भारतेंदुजी के अनेक सहयोगी तैयार हो गए थे। वे सभी दक्ष पत्र-संपादक और लेखक थे। इन लोगों के हाथों से भाषा का रूप बहुत कुछ परिमार्जित हो गया। पंडित बालकृष्ण भट्ट और पंडित प्रतापनारायण मिश्र की रचनाओं में भावव्यंजना की सुंदर और चमत्कारपूर्ण प्रणाली का अनुसरण हुआ। इनकी शैलियों में चलतेपन और व्यावहारिकता का बड़ा ही आकर्षक सामंजस्य उपस्थित हुआ। पंडित बदरीनारायण चौधरी और पंडित गोविंदनारायण मिश्र (सं० १९१६-१९८३) की लेखनी से इस प्रकार की रचनाएँ निकलीं जो इस बात की घोषणा करती थीं कि अब भाषा में किसी प्रकार केवल भावप्रकाशन की ही शक्ति नहीं है वरन् उसमें आलंकारिक रूप से उत्कृष्ट रचना भी की जा सकती है। इस प्रकार के लेखकों में व्यावहारिकता अवश्य नष्ट हुई है परंतु भाषा का एक शक्तिशाली स्वरूप दिखाई पड़ा। इतना होते हुए भी सतर्क पाठक यह देख सकता है कि इस काल में भी व्याकरण की अवहेलना की गई। भाषा का मार्ग निश्चित तो हो गया, परंतु उसमें सौष्ठव अभी तक न आ

सका था। इस समय भी ऐसे लेखक उपस्थित थे जो विरामादिक चिह्नों का प्रयोग ही नहीं करते थे और इस कारण उनकी रचनाओं में व्यर्थ ही अस्पष्टता आ जाती थी। संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो कह सकते हैं कि भाव-व्यंजना की कई शैलियाँ इस समय अवश्य गद्य-क्षेत्र में उपस्थित हुईं और उनमें एक शक्तिशाली रूप अवश्य दिखाई पड़ा, परंतु भाषा का सम्यक् परिमार्जन न हो सका और व्याकरण-विहित शुद्ध रचनाएँ न की जा सकीं।

जो कमी इस समय रह गई थी उसकी पूर्ति आधुनिक काल में हुई। पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी प्रभृति लेखकों की सतर्कता एवं चेष्टा से व्याकरण संबंधी त्रुटियों का सुधार हुआ। शब्दों का वास्तविक शुद्ध प्रयोग और व्यवहार इस काल की विशेषता है। इस समय अनेक विषयों पर सुंदर और पुष्ट रचनाएँ की गईं। यों तो भारतेंदु हरिश्चंद्रजी के ही काल में नाटक, उपन्यास, निबंध इत्यादि लिखने का अभ्यास हो चुका था; परंतु इन विषयों के लेखन में न तो अनेक प्रकार की शैलियों का रूप ही निश्चित हुआ था और न भली भाँति उनमें सूक्ष्म मानसिक भावनाओं के प्रकाशन की प्रणाली का ही निर्वाह हुआ था। इस काल में इन विषयों पर विशेष ध्यान दिया गया। फल-स्वरूप शैली में भी भाव-द्योतन की मनोवैज्ञानिक शक्ति का संचार हो गया। बाबू प्रेमचंद और बाबू जयशंकर प्रसाद की शैली में चरित्र-चित्रण की मननशील और गंभीर योजना इस बात की साक्षी है। क्रमशः जिस प्रकार विचार करने की शक्ति का विकास होता गया उसी प्रकार भाषा में भी भावव्यंजनात्मक शक्ति की उन्नति होती गई। आज जितने प्रकार की शैलियाँ उपस्थित हैं, उनसे यह स्पष्ट विदित हो जाता कि गूढ़ से गूढ़ भावनाओं के प्रकाशन में भाषा समर्थ है।

भाव और भाषा की तादात्म्य-प्राप्ति शैली के उत्कर्ष की परम सीमा है। लेखक इस दिशा में भी पदन्यास कर रहे हैं। राय कृष्णदास की 'साधना', प्रवाल और छायापथ, श्री वियोगी हरि की भावना और अंतर्नाद, श्री चतुरसेन शास्त्री के अंतस्तल में इसी प्रकार के तादात्म्य का उन्मेष स्थान स्थान पर हुआ है।

घटनात्मक कथन की एक विशिष्ट प्रणाली का विचित्रतापूर्ण और व्यावहारिक रूप बाबू प्रेमचंद की रचनाओं में दिखाई पड़ता है। दूसरी ओर भावात्मक तथा उन्मादपूर्ण भाव-व्यंजना का रूप-विशेष प्रसाद जी की शैली में दिखाई पड़ता है। वाद-विवाद और तार्किक कथन का ओजपूर्ण रूप भी इस काल में विशेषतः प्रयुक्त होने लगा है। इस प्रकार की शैलियाँ आज देखने में आ रही हैं जिनमें भाषण के गुणों की प्रधानता रहती है। एक ही विषय को बार बार दुहराकर कहना और भाव-भंगी की एक विचित्रतापूर्ण और चमत्कारयुक्त शैली का अनुसरण इस युग में विशेष वृद्धि पा रहा है। यों तो इने गिने आलोचनात्मक लेख भारतेंदु हरिश्चंद्र ही के काल में लिखे जाने लगे थे, परंतु आधुनिक काल में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की विशेष चेष्टा से इस विषय का अधिक प्रचार बढ़ा और क्रमशः इधर लोगों की प्रवृत्ति भी होने लगी। फलतः पंडित रामचंद्र शुक्ल सरीखे गौरवपूर्ण आलोचना-लेखक उपस्थित हुए। आलोचना का सौष्ठवपूर्ण गंभीर विवेचन जो शुक्लजी ने आरंभ किया उससे विश्वास होता है कि शीघ्र ही आलोचना की यह चमत्कारपूर्ण, मनोवैज्ञानिक तथा तर्कनायुक्त शैली दृढ़ होकर एक विशेष रूप स्थिर करेगी।

तुलनात्मक आलोचना की शैली का आरंभ पंडित पद्मसिंह शर्मा ने किया। वह वस्तुतः एक नई चीज थी। पंडित कृष्णविहारी मिश्र प्रभृति ने इस विषय को आगे बढ़ाया। शर्माजी की

शैली का अनुसरण अन्य लोगों ने न किया हो यह दूसरी बात है, परंतु यह शैली दृढ़ हो रही है। अभी तक गंभीर तुलनात्मक आलोचना पर कोई ऐसा सुंदर ग्रंथ नहीं प्रकाशित हुआ जिसे आधार माना जा सके। इसके अतिरिक्त आज अनेक विषयों पर अनेक ग्रंथ लिखे जा रहे हैं। इन विविध विषयों की शैलियों के विषय में अभी अधिक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे परिपक्वावस्था को नहीं प्राप्त हुई हैं।

सारांश यह कि क्या कला-पक्ष और क्या भाव-पक्ष दोनों में अभी पूर्ण परिपक्वता नहीं आई है, पर हिंदी दोनों की ओर दृढ़तापूर्वक अग्रसर हो रही है। सच बात तो यह है कि हिंदी भाषा और साहित्य का वर्तमान रूप बड़ा चमत्कारपूर्ण है। इसमें भावी उन्नति के बीज वर्तमान हैं जो समय पाकर अवश्य पल्लवित और पुष्पित होंगे। परिवर्तन-काल में जिन गुणों का सब बातों में होना स्वाभाविक है वे सब हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में स्पष्ट देख पड़ते हैं और काल का धर्म भी पूर्णतया प्रतिबिंबित हो रहा है। इस अवस्था में जीवन है, प्राण है, उत्साह है, और सबसे बढ़कर यह है कि भविष्योन्नति के मार्ग पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर होने की शक्ति और कामना है। जिनमें ये गुण होते हैं वे अवश्य उन्नति करते हैं। हिंदी में ये गुण वर्तमान हैं और उसकी उन्नति अवश्यंभावी है। हिंदी और उसके साहित्य का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल और सुंदर देख पड़ता है। आदर तथा सम्मान के पात्र वे महानुभाव हैं जो अपनी कृतियों से इसके मार्ग के कंटकों और झाड़-झंखाड़ों को दूर कर उसे प्रशस्त, सुगम्य और सुरम्य बना रहे हैं।

उपसंहार

— —

तेरहवाँ अध्याय

हिंदी की व्यापकता

किसी साहित्य का काल-विशेष तक का पूर्ण इतिहास प्रस्तुत करने के लिये सर्वप्रथम यह आवश्यक है कि उस साहित्य में की गई समस्त मुख्य रचनाएँ प्राप्त हों; तत्पश्चात् उस सामग्री का कालानुक्रम से परितः अनुशीलन करने की आवश्यकता होती है। संपूर्ण सामग्री के प्राप्त हुए बिना अनुशीलन कितनी ही सतर्कता से किया जाय, वह अधूरा ही कहा जायगा, और उसके आधार पर जो परिणाम निकाले जायँगे वे अपूर्ण सामग्री पर आधृत होने के कारण अपूर्ण ही होंगे। यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि हिंदी साहित्य की सामग्री अभी बहुत कुछ अधूरी है। ज्यों ज्यों खोज की जाती है, कुछ न कुछ नई सामग्री प्राप्त होती जाती है। परंतु यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि खोज का कार्य व्यवस्थित और व्यापक रूप में नहीं हो रहा है, जो कुछ हो भी रहा है वह अत्यंत मंथर गति से। खोज का विस्तृत और व्यवस्थित कार्य काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा युक्तप्रांत के जिलों में अवश्य हुआ है और उसमें यह ध्यान देने की बात है कि सं० १९५७ से ही खोज का कार्य प्रायः निरंतर होते रहने पर भी अभी प्राचीन साहित्य का मिलना बंद नहीं हो गया है। परंतु विचार करने की बात यह है कि युक्तप्रांत हिंदी का प्रधान प्रांत होने पर भी हिंदी-साहित्य का क्षेत्र उसी के भीतर सीमित नहीं है। आधुनिक काल में भले ही राजनीतिक, सांप्रदायिक आदि कारणों से हिंदी साहित्य को अपने उत्पत्ति-स्थान में भी अपनी रक्षा और उन्नति के

प्रयत्न में कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा हो, परंतु आदि और मध्यकाल में उसे संपूर्ण भारत में अपने स्वाभाविक गुणों के कारण बिना किसी प्रयत्न के ही वह प्रतिष्ठा प्राप्त थी जो किसी समय संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश को मिली हुई थी। विभिन्न भाषाभाषी तथा विभिन्न मत और संप्रदायों के लोग निस्संकोच भाव से हिंदी में रचनाएँ करते थे। समय समय पर खोज में जो सामग्री मिलती रहती है उससे हिंदी की इस व्यापकता की बराबर पुष्टि होती है और ऐसा अनुमान होता है कि यदि संकुचित सीमा से बाहर बढ़कर अनुसंधान और अनुशीलन का कार्य किया जाय तो हिंदी साहित्य के इतिहास के कई अपूर्ण अंशों, जैसे आदिकालीन साहित्य तथा खड़ी बोली के प्राचीन साहित्य पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है।

भाषा और लिपि

हिंदी साहित्य के विद्यार्थियों के लिये प्राचीन हिंदी साहित्य को केवल अवधी या ब्रज में लिखे गए वैष्णव अथवा अलंकार साहित्य में ही ढूँढ़ना आवश्यक नहीं है। इसमें संदेह नहीं कि कभी कभी ऐसा प्रश्न उठाया जाता है कि हिंदी में प्राचीन साहित्य है ही कहाँ? जो कुछ है वह ब्रज और अवधी आदि में है। ऐसा प्रश्न करनेवाले लोग केवल आधुनिक खड़ी बोली की रचनाओं को ही हिंदी साहित्य के अंतर्गत मानते हैं और ऐसा कहते समय वे साहित्य की परंपरा तथा उसके मूल में रहनेवाली शब्दकोश एवं प्रवृत्तिगत एकता की बात बिल्कुल भूल जाते हैं। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से ब्रज, अवधी, मैथिली, राजस्थानी, खड़ी आदि भिन्न भाषाएँ गिनी जायँ परंतु जहाँ तक साहित्य का संबंध है, इनमें पाई जानेवाली रचनाओं की परंपरा, प्रवृत्ति एवं पदावली में इतना साम्य अवश्य है कि वे बिना विशेष कठिनाई के समझ ली जायँ, अतः उनका एक ही

साहित्य के अंतर्गत गिना जाना उचित ही है। हमने इसी लिये आदिकाल के भीतर राजस्थानी कवियों तथा मिथिला के विद्यापति को भी हिंदी के ही कवि माना है। इसके अतिरिक्त हम यह भी जानते हैं कि पंजाब, महाराष्ट्र तथा अन्य प्रांतों के अहिंदी-भाषी व्यक्तियों ने भी बिना किसी भेदभाव के हिंदी में रचनाएँ कीं। साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि हिंदी की रचनाएँ प्रधानत: नागरी लिपि में होने पर भी वे फारसी और कैथी लिपि में भी यत्र-तत्र पाई जाती हैं। अत: प्राचीन हिंदी साहित्य के अनुसंधान का कार्य अन्य प्रांतों में तथा उपर्युक्त अन्य लिपियों में भी होना आवश्यक है।

जैन साहित्य

जैन साधुओं और कवियों ने हिंदी साहित्य का कम उपकार नहीं किया है। विशेषत: प्राचीन हिंदी का जैनों से घनिष्ठ संबंध विदित होता है। इनमें दिगंबर जैनों की ही रचनाएँ अधिक मिलती हैं।

किसी समय जैन लोगों का प्रभाव भारत के सभी प्रमुख स्थानों में था। जैन साधु विद्या-प्रेमी होते थे और संस्कृत, प्राकृत तथा हिंदी में भी रचनाएँ करते थे। यह अवश्य है कि विद्वान् और साहित्यिक होने के कारण उनकी बहुत पीछे की रचनाओं में भी परंपरागत प्राचीन शब्द-रूपों का प्रयोग अधिक पाया जाता है। पुरानी हिंदी की पहले-पहल झलक दिखलाने-वाले जैन आचार्य मेरुतुंग, सोमप्रभ सूरि तथा हेमचंद्र आदि की कृतियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं, अन्य कितने ही जैन साधुओं ने उनके पूर्व तथा उनके पश्चात् भी हिंदी में रचनाएँ कीं। सं० ११६७ के पूर्व आचार्य जिनवल्लभ सूरि की इस प्रकार की रचना मिलती है—

एक जीह इग मंत्र तणा गुण किता बखानूँ ।
जाण ही ता छउमत्थ एह गुण पार न जानूँ ॥

× × × ×

गुरु जिणवल्लह सूरि भणै सिव सुरक कारण ।
नरप तिरिय गइ रोग सौग बहु दुरक निवारण ॥
जल थल पव्बय वन गहन, समरण हुवे इक चित्त ।
पंच परमेष्ठि मंत्रह तणी, सेवा देज्यो नित्त ॥

सं० १४८१ में उपाध्याय जयसागर ने इस प्रकार की रचना की है—

संवत चौदह इक्यासी बरसे, मुलक बाहणपुर में मन हरसे,
अजित जिनेसर वर भवणै ।
कियो कवित्त ए मंगल कारण, विघन हरण सहु पाप निवारण;
कोई मत संशौ धरो मनै ॥
जिम जिम सेवै सुर नर राया, श्री जिन कुशल मुनीसर पाया,
जयसायर उबझाय थुणैं ।
इम जो सदगुर गुण अभिनंदै, ऋद्धि समृद्धै जो चिरनंदै,
मनवंछित फल मुझ हुवए ॥

सारांश यह कि हिंदी में जैन रचनाएँ १८वीं शती तक बराबर मिलती हैं और जैन ग्रंथागारों में पता लगाने पर हिंदी साहित्य के अध्ययन योग्य बहुत सी सामग्री प्राप्त हो सकती है।

चारण-साहित्य

राजस्थान के चारण कवियों की रचनाओं की परंपरा १४वीं शती से लेकर अब तक अखंड चली आ रही है। इनमें अधिकांश की भाषा डिंगल अवश्य है, पर पिंगल में भी कम रचनाएँ नहीं हुई हैं। डिंगल और पिंगल दोनों में उच्च कोटि का चारण-साहित्य पाया जाता है।

हिंदी साहित्य के आदिकाल का सम्यक् अध्ययन करने के लिये तो डिंगल साहित्य का भी परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। वीररस की फड़कती हुई रचनाओं के लिये चारण-काव्य प्रसिद्ध ही है, पर उसमें अन्य रसों की कविताएँ भी हुई हैं। मुक्तक और प्रबंध दोनों प्रकार के काव्य उसमें रचे गए हैं। नरहरिदास, माधोदास, सायाँ भूला, लौंगी दान, बारहट मुरारिदास, कविराजा करनीदान, महाकवि सूर्यमल्ल, दुरसा आढ़ा, ईश्वरदास, बाँकीदास, सरूपदास, स्वामी गणेश पुरी तथा बारहट केसरीसिंह आदि प्रसिद्ध चारण-कवियों के नाम हैं। काशी-नागरीप्रचारिणी सभा अपनी बारहट बालाबख्श राजपूत चारण-पुस्तकमाला में चारण कवियों की रचनाएँ प्रकाशित करती है और बाँकीदास ग्रंथावली, रघुनाथरूपक, राजरूपक आदि कुछ प्रसिद्ध रचनाएँ प्रकाशित भी कर चुकी है। यहाँ हम केवल दो उदाहरण देते हैं जो डिंगल के नहीं हैं, पर जो यह सूचित करने के लिये पर्याप्त हैं कि चारण कवि डिंगलेतर रचना में भी कैसे कुशल होते हैं—

काली को सो चक्र कै फनाली को सो फूतकार,
लोयन कपाली को सो भय कैसो है उदोति।
आयुध सुरेस को सो मानहुँ प्रलै को भानु,
कोप को कृसानु किधौं मीचहू की मानौ सौति॥
सुयोधन दुसासन दुहृदगन दाहिबो
प्रमानि दीति दूनी हूँ तैं दूनी होति।
जेठ ज्वाल झाल है कि जिह्वा जमराज की सी,
जहर हलाहल कै भीम की गदा की जोति॥

—पांडवयशेंदुचंद्रिका, स्वरूपदास-कृत

चाली नृप भीम पै करालो नृप भीम चमू,
नक्रमुखी तोपन के चक्र चरराटे ह्वाँ।
अपनो रु औरन को सोर न सुनात दौर,
घोरन के पोरन के घोर घरराटे ह्वाँ॥
मीर हमगीरन के तीर तरराटे वर,
बीरन बपुच्छद के बाज बरराटे ह्वाँ।
हूर हरराटे घर धूज धरराटे सेस,
सीस सरराटे केलि कंध करराटे ह्वाँ॥

—वीरविनोद, स्वामी गणेश पुरी-कृत

महाराष्ट्र ने हिंदी साहित्य की बहुमूल्य सेवा की है और आज भी कर रहा है। केवल महाराष्ट्रीय संतों और कवियों ने ही नहीं वरन् राजा-महाराजाओं ने भी हिंदी में रचनाएँ की हैं। भूषण के आश्रयदाता महाराज शिवाजी के दरबार में हिंदी के अन्य कवियों के होने का पता चलता है और यह प्रसिद्ध है कि महाराज शिवाजी स्वयं भी कुछ फुटकर पद रचना कर लेते थे। महाराज महादजी सेंधिया और दौलतराव सेंधिया को भी हिंदी काव्य से बड़ा प्रेम था और हिंदी के कवियों का सम्मान करने के अतिरिक्त वे स्वयं भी हिंदी में कविता करते थे। महादजी बड़े कृष्ण-भक्त थे और उन्हें ब्रजभाषा का अच्छा ज्ञान था। उनके निम्नलिखित दोहे देखिए—

महाराष्ट्र का हिंदी साहित्य

अरी बँसुरिया बाँस की, छलि तप कीन्ह्यों कौन।
उन अधरन लागी रहै, हम चाहति हैं जौन॥
मोहन माधव जगत के, ते तोहिं लीने मोहि।
हमें अधर धरि साँवरे, राख्यो अधरनि तोहि॥

कानन कानन ढूँढ़ि के, बंसी करी सुढार।
कानन सुनि कानन रहे, कुल की सखि निर्धार॥
ऊधो तुव उपदेस को, लयो सबै हम जान।
कुटिल होत सँग कुटिल के, ज्यों गुन साथ कमान॥

शिवाजी के पिता शाहजी भी हिंदी के कवियों को आश्रय देते थे। उनके दरबारी महाराष्ट्रीय कवि जयराम हिंदी में अच्छी रचना करते थे—

जगदीस बिरंचि को पूछत है कहु सृष्टि रची रखि कौन कहाँ।
कर जोरि कही जयराम बिरंचि रख्यो तिरलोक जहाँ के तहाँ॥
ससि औ रबि पूरब पच्छिम लों तुम सोय रहो सर सिंधु महा।
अरु उत्तर दक्खन रक्खन को इत साहिजू है उत साहिजहाँ॥

प्रसिद्ध महाराष्ट्रीय संत ज्ञानदेव, उनकी बहिन मुक्ताबाई, नामदेव, भानुदास, एकनाथ, तुकाराम, श्री समर्थ रामदास आदि अनेक संतों ने मराठी में रचना करने के अतिरिक्त हिंदी में फुटकर रचनाएँ की हैं। दादू पिंजारा तथा अन्य कई मुसलमान संत भी महाराष्ट्र में हो गए हैं जिन्होंने मराठी के अतिरिक्त हिंदी में भी रचनाएँ कीं। संत तुकाराम की हिंदी-रचना निम्न-लिखित प्रकार की होती थी—

तुका बड़ो वह ना तुले, जाहि पास बहु दाम।
बलिहारी वा वदन की, जेहिते निकसे राम॥
तुका कहे जग भ्रम परा, कही न मानत कोय।
हाथ परेगो काल के, मार फोरिहै डोय॥

महाराष्ट्र से आगे बढ़कर सुदूर दक्षिण के स्थानों में हिंदी का प्रचार था और वहाँ के कवि हिंदी में रचना करते थे। उधर की अधिक रचनाएँ नहीं मिली हैं, पर खोज होने पर यह

असंभव नहीं है कि वहाँ भी कुछ सामग्री प्राप्त हो। केरल (ट्रावंकोर) के महाराज "श्री पद्मनाभ दास वंचिपाल 'श्री रामवर्मा' कुलशेखर किरीटपति", जिन्हें 'गर्भ श्रीमान्' भी कहते थे, हिंदी में सरस रचनाएँ किया करते थे। इनका जन्म सं० १८७० में हुआ था और ये बड़े विद्वान्, प्रतिभाशाली तथा प्रजापालक नृपति थे। कविता में ये अपना नाम पद्मनाभ रखते थे। हिंदी में इनके रचे हुए फुटकर कीर्तन ही मिलते हैं। यथा—

केरलपति गर्भ श्रीमान्

बाजत मुरली मुरारे, सुंदर जमुना किनारे,
रास रास ग्वाल बाल संग मदन प्यारे।
टीक भाल प्रेम जाल, लसत जैसे चंद्र बाल,
साँवरो दया विसाल मुक्तमाल धारे॥
देवबंद पद मुकुंद, मोहनो अनंद बृंद,
गोपिका चकोर चंद नंद के दुलारे।
कोटि काम तन ललाम, तीन लोक नाथ श्याम,
गावत श्रुति जाके नाम भक्त कांतारे॥

× × × ×

मन उमंग भरे कुरंग, सुर नरेश मुनि बिहंग,
मोहत श्री पदमनाभ भाव सों तुम्हारे॥

'दखिनी' भाषा दक्षिण की मुसलमानी रियासतों के अधिपतियों के आश्रय में विशेष रूप से फूली फली और उसमें साहित्यिक रचनाएँ हुईं। दखिनी की उपलब्ध रचनाएँ फारसी लिपि और अधिकतर फारसी छंदों में हैं और उर्दू साहित्य के अंतर्गत मानी जाती हैं। परंतु भाव और भाषा की दृष्टि से वे हिंदी के बहुत निकट हैं। इस बात की बहुत संभावना है कि खोज करने पर उसमें हिंदी

दखिनी साहित्य

भाषा तथा साहित्य के अध्ययन की प्रचुर सामग्री मिले। पर खेद है कि हिंदी के विद्वान् इस ओर से उदासीन हैं। १७वीं शती के उत्तरार्ध में दखिनी के इस प्रकार के नमूने मिलते हैं—

छिपी रात उजाला हुआ देस का।
लग्या जग करन सेव परमेस का॥
शफक सुबह का नई है आस्मान में।
कि लाले खिले संबलिस्तान में॥

× × × ×

सूरज यूँ है रंग आस्मानी भने।
कि खिलिया कमल फूल पानी मने॥

× × × ×

उनन कूँ पत्या बात बोल्या न जाय।
उनों के घने दिल कूँ खोल्या न जाय॥

उक्त उद्धरण दखिनी के प्राचीन कवि नजदी की रचना के हैं। १८वीं शती में बहरी की रचना का नमूना देखिए—

हँसते हमन ऊपर वो जो हाथी पै चढ़े हैं।
नई जानते जि कोई चढ़े हैं सो पड़े हैं॥

× × × ×

सुनार कूँ इस नग की नजाकत नहीं मालूम।
कुछ है तो मुझे है कि मेरे सिर पै खड़े हैं॥
वो बाट न चल जिसमें जो बाताँ अछी आड़्याँ।
वो खड्ग न ले हाथ जिस आड़े जो तुड़े हैं॥
बहरी के बचन सुनने सूँ नीले हुए पीले।
जो लोग हुए आपने सीने सूँ जड़े हैं॥

उपर्युक्त उद्धरण देने का उद्देश केवल इस बात की ओर संकेत करना है कि आधुनिक खड़ी बोली हिंदी के इतिहास में दखिनी

एक महत्त्वपूर्ण कड़ी सिद्ध हो सकती है। ऊपर हिंदी की व्यापकता का केवल दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। हिंदी भाषा और साहित्य के विद्वानों को हिंदी की इस व्यापकता को ध्यान में रखकर साहित्य के अनुसंधान और अनुशीलन का कार्य आगे बढ़ाना चाहिए।

अनुक्रमणिका

———

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
[illegible]	१२	गुरुडभ	गुरुदंभ
[illegible]	१५	गइ थी	गई थी
२६	२५	ही रही थी	हो रही थी
४१	११	ओर	और
४३	१४	प्रभव	प्रभाव
४६	४	रानानंद	रामानंद
७६	२२	मूतकला	मूर्तिकला
१९३	३	व्यावहारिक	व्यावहारिक
३४५	२४	तरन्नि	तरनि
३५१	७	कोटि	कोई
,,	१३	के	की
,,	१७	हूकनि	दूकनि
३७१	१३	इसस	इससे
३७३	४	में और	मैं
,,	६	कुछ भी	कुछ
३८२	१७	दग्धवतिका	दग्धवर्तिका
३८५	५	समलोचक	समालोचक
३८७	१५	वतमान	वर्तमान